भगवान् महावीर की परम्परा एवं समसामयिक संदर्भ

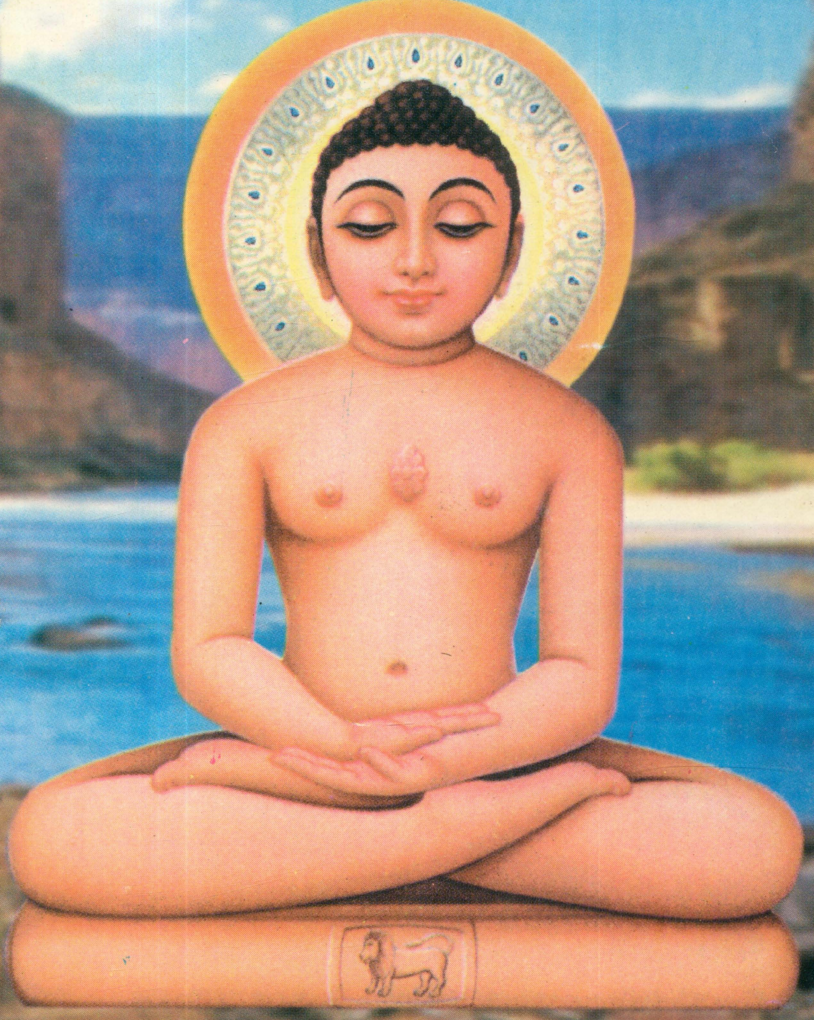

डॉ. त्रिलोक चन्द्र कोठारी

कृति-परिचय

आधुनिक-विधि के लेखन में प्रत्येक विधा और परम्परा को ऐतिहासिक दृष्टि से तथ्यपरक परिचय देने की शैली विकसित हुई है। लगभग प्रत्येक धार्मिक, दार्शनिक एवं अन्य ज्ञान-विज्ञान की धाराओं में इस श्रेणी की कृतियाँ लिखी गयी हैं।

जैन-परम्परा में अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर की परम्परा का ऐतिहासिक दृष्टि से तथ्यपरक परिचय देने वाली गम्भीर वैदुष्य एवं मत-मतान्तरों के उल्लेखनों से उत्कीर्ण कुछ कृतियाँ गत शताब्दी में लिखी गयी हैं; जो मात्र इतिहास की गहन जानकारी रखनेवाले विद्वानों के लिए ही विशेषत: उपयोगी हैं, तथा उनका विस्तार भी अधिक हुआ है। भाषा-शैली की दृष्टि से स्तरीय किन्तु सुबोधगम्य तथा अनति-विस्तार से युक्त यह कृति शोधार्थियों से लेकर सामान्य जिज्ञासुओं तक के लिये उपादेय है।

इसके पाँच खण्ड हैं, जिनके शीर्षक क्रमश: निम्नानुसार हैं — 1. जैनधर्म की पृष्ठभूमि और भगवान् महावीर, 2. महावीरोत्तर युग और जैनाचार्य-परम्परा, 3. जैन भट्टारक-परम्परा और उसका योगदान, 4. समसामयिक सन्दर्भों में महावीर की परम्परा, 5. विश्वभर में जैनधर्म का इतिवृत्त एवं वर्तमान स्थिति। इनके माध्यम से व्यापक विषयक्षेत्र का मर्यादितरूप में गरिमापूर्वक प्रस्तुतीकरण ही इस कृति का वैशिष्ट्य है।

भगवान् महावीर की परम्परा एवं समसामयिक सन्दर्भ

(एक शोधपरक कृति)

मंगल आशीर्वचन

आचार्य श्री विद्यानन्द मुनिराज

✦

लेखक

डॉ. त्रिलोक चन्द्र कोठारी

✧

सम्पादन एवं प्रस्तावना

डॉ. सुदीप जैन

अध्यक्ष, प्राकृतभाषा विभाग

श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ (मानित विश्वविद्यालय)

नई दिल्ली-110016

✦

प्रकाशक

त्रिलोक उच्चस्तरीय अध्ययन एवं अनुसंधान संस्थान

(ओम कोठारी फाउण्डेशन द्वारा स्थापित एवं सम्पोषित)

भगवान् महावीर की परम्परा एवं समसामयिक सन्दर्भ
(एक शोधपरक कृति)

मंगल-आशीर्वचन : आचार्य श्री विद्यानन्द मुनिराज
लेखक : डॉ. त्रिलोक चन्द्र कोठारी
सम्पादन एवं प्रस्तावना : डॉ. सुदीप जैन
प्रकाशक : त्रिलोक उच्चस्तरीय अध्ययन एवं अनुसंधान संस्थान
(ओम कोठारी फाउण्डेशन द्वारा स्थापित एवं सम्पोषित)
O.K.I.M., A-1, Special I.P.I.A., Jawahar Road,
Kota - 324 005 (Rajasthan)
मुद्रक :
मूल्य : 200/- (दो सौ रुपये)
प्रथम संस्करण : 2001 ई.

© *लेखक एवं प्रकाशक के पास सर्वाधिकार सुरक्षित।*

प्राप्ति-स्थल

1. श्री कुन्दकुन्द भारती,
18-बी, स्पेशल इंस्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-110067
2. अनिल जैन,
कोठारी भवन, 16/121-122, फैज़ रोड, करोल बाग, नई दिल्ली-110005

BHAGWAN MAHAVIR KI PARAMPARA AVAM SAMSAMYIK SANDARBH
(A Researchful Prose)

Author : Dr. Trilok Chandra Kothari
Editing and Preface : Dr. Sudeep Jain
First Edition : 2001 A.D.
Price : Rs. 200/-
Published by : Trilok Institute of Higher Studies & Research
(Promoted & Established by : Om Kothari Foundation)

समर्पण

रत्नत्रय की पावन त्रिवेणी के संगम

विद्या-महोदधि

अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोगी

परमपूज्य आचार्यश्री

विद्यानन्द जी मुनिराज

के करकमलों में

सविनय समर्पित

—डॉ. त्रिलोक चन्द्र कोठारी

विषय-अनुक्रमणिका

क्रम-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
1.	प्रकाशकीय : सी.पी. कोठारी	x
2.	मंगल-आशीर्वचन : पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी	xi
3.	प्रस्तावना : डॉ. सुदीप जैन	xiii
4.	***खण्ड-एक* : जैनधर्म की पृष्ठभूमि और भगवान् महावीर**	**1-22**
	प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव	2
	अन्य जैन तीर्थंकर	7
	जैनधर्म का विस्तार	13
5.	***खण्ड-द्वितीय* : महावीरोत्तर-युग और जैनाचार्य-परम्परा**	**23-93**
	'श्रुत' या 'आगम' के भेद	25
	तीन केवलज्ञानधारी	30
	पाँच श्रुतकेवली	30
	दस पूर्वधारी आचार्य	34
	श्रुतधराचार्य	**34**
	आचार्य गुणधर	34
	आचार्य धरसेन	35
	आचार्य पुष्पदन्त	35
	आचार्य भूतबलि	36
	आचार्य कुन्दकुन्द	37
	आचार्य आर्यमंक्षु और आचार्य नागहस्ति	38
	आचार्य वज्रयश	39
	चूर्णि सूत्रकार आचार्य यतिवृषभ	39
	आचार्य वप्पदेवाचार्य	40
	आचार्य गृद्धपिच्छाचार्य	40
	आचार्य वट्टकेर	41
	आचार्य शिवार्य	42
	आचार्य कुमार या स्वामी कुमार अथवा कार्तिकेय	43
	सारस्वताचार्य	**43**
	आचार्य समन्तभद्र	44
	आचार्य सिद्धसेन	45
	आचार्य पूज्यपाद देवनन्दि	45
	आचार्य स्वामी पात्रकेसरी	46
	आचार्य जोइंदु	47
	आचार्य विमलसूरि	47
	आचार्य ऋषिपुत्र	48

क्रम-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
	आचार्य मानतुंग	48
	आचार्य रविषेण	49
	आचार्य जटासिंहनन्दि	49
	आचार्य अकलंकदेव	49
	आचार्य एलाचार्य	50
	आचार्य वीरसेनाचार्य	51
	आचार्य जिनसेन द्वितीय	51
	आचार्य विद्यानन्दि	52
	आचार्य देवसेन	53
	आचार्य अमितगति प्रथम	53
	आचार्य अमितगति द्वितीय	53
	आचार्य अमृतचन्द्रसूरि	54
	आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती	54
	आचार्य नरेन्द्रसेन	55
	आचार्य नेमिचन्द्र मुनि	56
	आचार्य सिंहनन्दि	56
	आचार्य सुमति	57
	आचार्य कुमारनन्दि	57
	आचार्य वज्रसूरि	57
	आचार्य यशोभद्र	58
	आचार्य कनकनन्दि	58
	प्रबुद्धाचार्य	**58**
	आचार्य जिनसेन (प्रथम)	59
	आचार्य गुणभद्र	60
	आचार्य वादीभसिंह	60
	महावीराचार्य	61
	आचार्य वृहत् अनन्तवीर्य	61
	आचार्य माणिक्यनन्दि	61
	आचार्य प्रभाचन्द्र	62
	आचार्य लघु अनन्तवीर्य	63
	आचार्य वीरनन्दि	63
	आचार्य महासेन	64
	आचार्य हरिषेण	64
	आचार्य सोमदेवसूरि	64
	आचार्य वादिराज	65
	आचार्य पद्मनन्दि प्रथम	65
	आचार्य पद्मनन्दि द्वितीय	65
	आचार्य जयसेन प्रथम	66
	आचार्य जयसेन द्वितीय	66
	आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव	67
	आचार्य शुभचन्द्र	67
	आचार्य अनन्तकीर्ति	67
	आचार्य मल्लिषेण	68
	आचार्य इन्द्रनन्दि प्रथम	68
	आचार्य जिनचन्द्राचार्य	69

क्रम-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
	आचार्य श्रीधराचार्य	69
	आचार्य दुर्गदेव	70
	आचार्य पद्मकीर्ति	70
	आचार्य इन्द्रनन्दि द्वितीय	71
	आचार्य वसुनन्दि प्रथम	71
	आचार्य रामसेनाचार्य	72
	आचार्य गणधरकीर्ति	72
	आचार्य भट्टवोसरि	72
	आचार्य उग्रादित्य	73
	आचार्य नयसेन	74
	आचार्य वीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती	74
	श्रुतमुनि	74
	आचार्य हस्तिमल्ल	74
	आचार्य माघनन्दि	75
	आचार्य वज्रनन्दि	76
	आचार्य महासेन द्वितीय	76
	आचार्य सुमतिदेव	76
	आचार्य पद्मसिंह मुनि	76
	आचार्य माधवचन्द्र त्रैविद्य	76
	आचार्य नयनन्दि	77
	परम्परापोषकाचार्य	**77**
	आचार्यतुल्य कवि और लेखक	**78**
	आचार्य पार्श्वदेव	79
	आचार्य भास्करनन्दि	79
	आचार्य ब्रह्मदेव	79
	आचार्य रविचन्द्र	80
	आचार्य अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती	80
	संस्कृत-भाषा के कवि और लेखक	81
	कवि परमेष्ठी या परमेश्वर	81
	महाकवि धनञ्जय	81
	महाकवि असग	82
	महाकवि हरिचन्द्र	82
	कवि चामुण्डराय	82
	महाकवि आशाधर	82
	महाकवि अर्हद्दास	83
	कवि नागदेव	83
	कवि रामचन्द्र मुमुक्षु	83
	कवि राजमल्ल	83
	अभिनव चारुकीर्ति पंडिताचार्य	83
	अपभ्रंश-भाषा के कवि एवं लेखक	83
	कवि चतुर्मुख	84
	महाकवि स्वयंभूदेव	84
	महाकवि पुष्पदन्त	84
	कवि धनपाल	84
	धवल कवि	84

क्रम-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
	कवि हरिषेण	85
	वीर कवि	85
	कवि श्रीधर प्रथम	85
	कवि देवसेन	85
	कवि मुनि कनकामर	85
	महाकवि सिंह	85
	कवि लाखू	86
	कवि यशःकीर्ति प्रथम	86
	कवि देवचन्द	86
	महाकवि रइधू	86
	कवि हरिचन्द या जयमित्रहल	87
	कवि हरिदेव	87
	कवि तारणस्वामी	87
	हिन्दी कवि और लेखक	87
	महाकवि बनारसीदास	87
	कवि भैया भगवतीदास	88
	महाकवि भूधरदास	88
	कवि द्यानतराय	88
	कवि पंडित दौलतराम कासलीवाल	88
	कवि आचार्यकल्प पं. टोडरमल	89
	कवि दौलतराम द्वितीय	89
	कवि पण्डित जयचन्द छाबड़ा	90
	कवि दीपचन्दशाह	90
	कवि सदासुख कासलीवाल	90
	कवि पण्डित भागचन्द	90
	कवि बुधजन	91
	कवि वृन्दावनदास	91
6.	***खण्ड-तृतीय* : भट्टारक-परम्परा एवं उसका योगदान**	**94–114**
	भट्टारक-युग	95
	भट्टारकों द्वारा धर्मोत्थान के कार्य	97
	भट्टारकगण — दिल्ली, जयपुर शाखा कालपट	100
	भट्टारक-परम्परा के क्षीण होने के कारण	101
	दक्षिण-भारत में भट्टारक-गादियाँ	110
7.	***खण्ड-चतुर्थ* : समसामयिक सन्दर्भों में महावीर-परम्परा**	**115–168**
	दिगम्बर जैनों का सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन	115
	दिगम्बर-जैन-जातियाँ	116
	खण्डेलवाल	119
	अग्रवाल	121
	परवार	122

क्रम-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
	जैसवाल	125
	पल्लीवाल	125
	नरसिंहपुरा	126
	ओसवाल	127
	लमेचू	127
	हुंबड या हूमड	128
	गोलापूर्व	129
	गोलालारे	129
	गोलसिंघारे (गोलश्रृंगार)	129
	पद्मावती-पोरवाल	130
	चित्तौड़ा	130
	नागदा	130
	बरैया	131
	खरौआ-मिठौआ	131
	रायकवाल	131
	मेवाड़ा	131
	चरनागरे	132
	कठनेरा	132
	श्रीमाल	132
	बीसवीं शताब्दी निर्ग्रन्थ-साधुओं की शताब्दी	134
	आदिसागर अंकलीकर	134
	आदिसागर भोसेकर	135
	आदिसागर भोज	135
	आचार्य पायसागर जी महाराज	143
	आचार्य श्रीसन्मतिसागर जी	143
	आचार्यश्री कुंथुसागर जी	144
	आचार्य विद्यानन्द जी	146
	आचार्य विद्यासागर जी	146
	गणधराचार्य कुंथुसागर जी	147
	आचार्य वर्धमान सागर जी	147
	उपाध्याय ज्ञानसागर जी महाराज	148
	निष्कर्ष	148
	19-20वीं शताब्दी में दिगम्बर-जैन-समाज की स्थिति का अवलोकन	149
8.	***खण्ड-पंचम :*** **विश्वभर में जैनधर्म का इतिवृत्त एवं वर्तमान-स्थिति**	**169-185**
	विदेशों में जैनधर्म एवं समाज	169
	तिब्बत और जैनधर्म	170

क्रम-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
	जापान और जैनधर्म	170
	ब्रह्मदेश (बर्मा) में जैनधर्म	174
	श्रीलंका में जैनधर्म	174
	तिब्बत देश में जैनधर्म	174
	अफगानिस्तान में जैनधर्म	174
	हिन्देशिया, जावा, मलाया, कम्बोडिया आदि देशों में जैनधर्म	175
	नेपाल देश में जैनधर्म	175
	भूटान देश में जैनधर्म	175
	पाकिस्तान के परवर्ती-क्षेत्रों में जैनधर्म	176
	तक्षशिला जनपद में जैनधर्म	176
	सिंहपुर जैन महातीर्थ	176
	ब्राह्मीदेवी का मंदिर — एक जैन-महातीर्थ	177
	कश्यपमेरु (कश्मीर जनपद) में जैनधर्म	177
	हड़प्पा-परिक्षेत्र में जैनधर्म	177
	गांधार और पुण्ड जनपद में जैनधर्म	177
	बांग्लादेश एवं परवर्ती-क्षेत्रों में जैनधर्म	177
	विदेशों जैन-साहित्य और कला-सामग्री	178
	विदेशों में स्थित जैन सम्पर्क-केन्द्र	179
	जापान में जैन-केन्द्र	179
	जर्मनी में जैन-केन्द्र	179
	इंग्लैण्ड में जैन-केन्द्र	179
	कनाडा में जैन-केन्द्र	180
	कनाडा में जैन-पुस्तकालय	180
	कनाडा में जैन-मंदिर	181
	अमरीका में जैन-केन्द्र	181
	अमरीका में जैन-विवाह सूचना-केन्द्र	184
	अमरीका में जैन-पुस्तकालय	184
	अमरीका में जैनधर्म की पुस्तकों के प्रकाशक	184
	अमरीका में जैन-छात्रवृत्तियाँ	184
	हॉर्वर्ड वि.वि. में जैनधर्म के अध्ययन का प्रबन्ध	184
	अमरीका में जैन-मंदिर	184
	अमरीका में जैन वीडियो-फिल्म निर्माता	185
9.	***खण्ड-षष्ठ :* सन्दर्भ-ग्रन्थ एवं पत्र-पत्रिकाओं की विवरणिका**	**186-191**
	हिन्दी-ग्रन्थ	187
	पत्र-पत्रिकायें	191
	लेख	191

प्रकाशकीय

वर्तमान युग में वैज्ञानिक-संसाधनों ने मुद्रण के क्षेत्र में अभूतपूर्व-क्रान्ति का सृजन किया है। इसी कारण से आज प्रकाशनों की बाढ़-सी आ गई है। यद्यपि विषय की दृष्टि से तो पाठ्य-सामग्री में विविधता एवं तुलनात्मक अंतर प्रारम्भकाल से ही थे; किन्तु आज व्यावसायिकता की सीमित दृष्टि ने विषयगत-गरिमा को और अधिक संकुचित कर दिया है। भले ही संचार-तकनीकी के क्षेत्र में आई अभूतपूर्व-क्रान्ति ने क्षेत्र की दूरियों को प्राय: समाप्त कर दिया हो; किन्तु विषयगत गुणवत्ता के बारे में स्तर प्राय: घटा ही है।

ऐसी परिस्थितियों में नैतिक-मूल्यों एवं सांस्कृतिक-दार्शनिक-तत्त्वों का तथ्यपरक लोकोपयोगी प्रस्तुतीकरण करनेवाले साहित्य की उपलब्धता राष्ट्रीय, सामाजिक एवं वैयक्तिक-हितों की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक हो गई है। इन्हीं लक्ष्यों की पूर्ति के लिये 'ओम कोठारी फाउण्डेशन' के अन्तर्गत 'त्रिलोक उच्चस्तरीय अध्ययन एवं अनुसंधान संस्थान' की स्थापना की गई। इस संस्थान के अनेकों लोकहितकारी उद्देश्य हैं, जिनमें उपर्युक्त स्तर के शोधपरक प्रामाणिक साहित्य का प्रकाशन भी एक प्रमुख उद्देश्य है।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये इस संस्थान ने अपनी स्थापना के प्रथम वर्ष में ही एक विश्व-कीर्तिमान-निर्माता विद्वान् की श्रम-साधना से निर्मित महनीय कृति को प्रकाशित करने का निर्णय लिया। जैन-दर्शन, जैन-इतिहास एवं जैन-समाजशास्त्र के क्षेत्र में उल्लेखनीय सामग्री का तथ्य-आधारित प्रस्तुतीकरण करने वाली इस कृति पर विश्वविख्यात जैन-संत **आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज** ने 'मंगल-आशीर्वचन' लिखकर इसकी गरिमा को कई गुना बढ़ा दिया है, अत: मैं पूज्य आचार्यश्री के चरणों में सविनय 'नमोऽस्तु' अर्पित करता हूँ। विद्वान्-लेखक आदरणीय बाबूजी **डॉ. त्रिलोक चन्द जी कोठारी** के गहन तपस्या से यह कृति निर्मित है, अत: उनके प्रति मैं सादर वंदन करता हूँ। अल्पवय: में ही विद्वत्ता एवं वैज्ञानिक-संपादन के प्रतिमान बनानेवाले मनीषी **डॉ. सुदीप जैन** ने प्रभूत श्रमपूर्वक इसका वैज्ञानिक-संपादन किया है, अत: उनके प्रति भी मैं हृदय से आभारी हूँ। कोठारी-समूह के समर्पित कार्यकर्त्ता श्री अनिल जैन ने इसकी व्यवस्था के लिये भरपूर श्रम किया, अत: उनका भी धन्यवाद करता हूँ। निर्दोष टंकण-व्यवस्था एवं नयनाभिराम मुद्रण के लिये संबद्ध संस्थानों का भी मैं धन्यवाद व्यक्त करता हूँ। आशा है विद्वानों एवं समाज के जिज्ञासुजनों के लिये यह कृति उपयोगी सिद्ध होगी।

—सी. पी. कोठारी
मैनेजिंग ट्रस्टी,
ओम कोठारी फाउण्डेशन

मंगल-आशीर्वचन

"आत्मानं स्नापयेन्नित्यं ज्ञानवारिणा चारुणा।
येन निर्मलतां याति जनो जन्मान्तरेष्वपि।"

अर्थ :- अपनी आत्मा को नित्यप्रति मनोहारी ज्ञानरूपी जल से स्नान कराते रहना चाहिये। इसके प्रभाव से व्यक्ति जन्मान्तरों तक निर्मलता को प्राप्त करता रहता है, अर्थात् निर्मल बना रहता है।

संसार में प्राणी अनादिकाल में कर्ममल में मलिन हुआ चार गति चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण कर रहा है। मोह के प्रभाव से उसे अपने हित का मार्ग दिखायी नहीं देता है। संसार की स्थिति बड़ी विचित्र है। अनेक प्रकार के संयोग-वियोग चलते रहते हैं। इष्ट-वियोग और अनिष्ट-संयोग होने पर जीव अनेक प्रकार के संक्लेश-युक्त परिणाम करके दु:खी होता है।

ऐसे विरले ही जीव होते हैं, जो इष्ट-वियोग और अनिष्ट-संयोग होने पर भी अपने ज्ञान और विवेक को जागृत रखते हुये विचलित नहीं होते हैं, और तत्त्वस्वरूप विचारकर धैर्य-धारण करते हुये अपना इहलोक और परलोक सफल बनाते हैं।

विपरीत परिस्थिति में भी धैर्य-धारण करने वाले मनुष्यों को विद्वान् लोग 'महात्मा' कहते हैं—**"अहो हि धैर्यं महात्मनाम्।"**

इसी धैर्य और विवेक के बल पर वे संयोग-वियोग-जन्य संक्लेश को जीतकर मनुष्यभव को सार्थक बनाते हैं। वास्तव में ज्ञान ही एक ऐसा अमृत-तत्त्व है, जो व्यक्ति को सम्पूर्ण संक्लेशों से दूर कर उन्नति के मार्ग पर समर्पित करता है।

धर्मानुरागी श्री त्रिलोकचन्द जी कोठारी ने अपने दो युवा-पुत्रों का वियोग सह कर भी अत्यन्त धैर्य और विवेकपूर्वक अपने आपको इस वृद्धावस्था में युवकोचित उत्साह के साथ ज्ञानाराधना के पथ पर समर्पित किया, और कोटा विश्वविद्यालय से जैनदर्शन में पी-एच.डी. की शोध-उपाधि अर्जित कर अनेक लोगों के लिए एक अनुकरणीय आदर्श उपस्थित किया। अब उनका यह शोध-कार्य पुस्तकाकार रूप में क्रमशः प्रकाशित होने जा रहा है, इस निमित्त मेरा बहुत-बहुत मंगल-आशीर्वाद है।

श्रुतपंचमी पर्व, 27 मई 2001

—आचार्य विद्यानन्द मुनि

सम्पादकीय

समादरणीय डॉ. त्रिलोक चन्द जी कोठारी का शोधपरक कार्य वर्तमान परिस्थितियों में अत्यन्त समसामयिक एवं युग की माँग के अनुरूप था। तथा उन्होंने वृद्धावस्था में भी अपार श्रम करके अध्ययन और जीवन के अनुभवों का सामंजस्य बनाते हुये अत्यन्त व्यापक सामग्री एकत्रित की थी।

वर्तमान युग की वैज्ञानिक-संपादन-विधि के अनुरूप उसको यदि एक संस्करण में प्रकाशित किया जाता, तो उसका आकार अत्यन्त विशाल हो जाता, तथा वह व्यावहारिक-रूप से उतना उपयोगी नहीं रहता। इसीलिये उनके इस महनीय कार्य के समान-विषयों का वर्गीकरण करके उन्हें अलग-अलग कृतियों के रूप में प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया।

इस श्रृंखला में यह प्रथम संस्करण प्रकाशित होने जा रहा है। इसमें वस्तुत: जैनधर्म और उसकी परम्परा के प्राचीनकाल से अब तक के महत्त्वपूर्ण विषयों का संक्षिप्त किंतु प्रामाणिक रूप से प्रस्तुतीकरण हुआ है। फिर भी, वर्तमान युग में जो जैनधर्म, संस्कृति एवं समाज के संस्थागत स्वरूप हैं, जिनमें विभिन्न मुनिसंघों और उनके अद्यावधि-पर्यन्त के मुनिवरों का परिचय एवं योगदान, वर्तमान विद्वानों का परिचय एवं योगदान, जैन-सामाजिक-संस्थाओं का परिचय एवं अवदान, जैन-प्रकाशन-संस्थाओं का परिचयात्मक मूल्यांकन, तथा जैनदर्शन एवं साहित्य की विविध विधाओं के बारे में शोधपरक प्रामाणिक-लेखन, अनुसंधान, मौलिक-सृजन आदि की दृष्टि से जो उल्लेखनीय कार्य हुये हैं और हो रहे हैं, उन सभी का परिचय देने वाली पुस्तक आगामी संस्करण के रूप में प्रकाशित की जायेगी। इस संस्करण में जितने इन उपर्युक्त संदर्भों में उल्लेख आये हैं, वे संकेत-मात्र हैं। अत: उनके बारे में इसे परिपूर्ण नहीं मानना चाहिये। प्रासंगिकता के कारण उनका संक्षिप्त उल्लेख हुआ है, तथा जिज्ञासु पाठक-वर्ग से इन विषयों में आगामी संस्करण की प्रतीक्षा के अनुरोध के साथ इस संस्करण को यहाँ सीमित किया जा रहा है।

विषय के अति-विस्तार को शब्दों की सीमा में बाँधना अत्यन्त कठिन कार्य है, और उसे यहाँ मूर्तरूप प्रदान करने का यथासंभव प्रयत्न किया गया है। मैं विद्वान् लेखक को उनके इस भगीरथ-प्रयत्न के लिये हार्दिक बधाई और साधुवाद देता हूँ, तथा प्रकाशन-संस्थान के द्वारा इसके गरिमापूर्ण प्रकाशन की जो व्यवस्था की गई है, तदर्थ उनकी भी हार्दिक अनुशंसा करता हूँ।

—डॉ. सुदीप जैन

प्रस्तावना

विश्व के जितने भी धर्म और दर्शन प्रचलित हैं, उनमें जैनधर्म-दर्शन का चिरकाल से अति-प्रतिष्ठित और महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। लगभग सम्पूर्ण विश्व के प्रत्येक धर्मदर्शन पर और महापुरुषों के जीवन पर इसका उल्लेखनीय प्रभाव परिलक्षित होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी देखें तो बौद्धधर्म-दर्शन के प्रवर्तक महात्मा गौतम बुद्ध और ईसाई धर्म के प्रवर्तक महात्मा ईसा मसीह के जीवन पर भी जैनधर्म-दर्शन का व्यापक प्रभाव देखने को मिलता है। मूल बौद्ध-ग्रंथों के आधार पर यह प्रमाणित होता है कि महात्मा गौतम बुद्ध ने घर छोड़ने के बाद सर्वप्रथम तीर्थंकर पार्श्वनाथ की परम्परा के निर्ग्रन्थ-श्रमण 'पिहितास्रव' से निर्ग्रन्थ जैन-श्रमण के रूप में दीक्षा अंगीकार की थी, और वे लगभग तीन वर्षों तक इस रूप में साधना करते रहे। बाद में जब जैन-श्रमण की कठिन साधना उनसे नहीं निभ सकी, तो उन्होंने जैन-साधना-पद्धति में वर्णित गृहस्थ और साधु के मध्य का मार्ग अपनाया। इसीलिये उन्हें मध्यमार्गी भी कहा जाता है। जैन-परम्परा में इस मध्यमार्गी स्थिति को 'क्षुल्लक' कहा जाता है। यद्यपि बाद में महात्मा बुद्ध ने अपना स्वतंत्र धर्म-दर्शन प्रचारित किया, फिर भी उनकी वेशभूषा क्षुल्लक जैसी ही बनी रही, और जैनधर्म के अहिंसा आदि सिद्धांतों का उन पर गहन प्रभाव परिलक्षित होता है।

इसीप्रकार महात्मा ईसा मसीह के बारे में कुछ ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं कि निर्ग्रन्थ-जैन-श्रमणों से जैनधर्म-दर्शन के महत्त्वपूर्ण विचारों तथा साधना-पद्धति के बारे में जानने वे भारत आये थे, और वर्तमान के बंगलादेश में और तत्कालीन भारत में स्थित एक स्थान पर वे गये और वहाँ जाकर उन्होंने निर्ग्रन्थ- जैन-श्रमणों से बहुत-सी जिज्ञासायें शांत कीं। वे मूलत: कर्म और पुनर्जन्म सिद्धांत को नहीं मानते थे, किन्तु बाद में उन्होंने इन दोनों सिद्धांतों को निर्ग्रन्थ-जैन-श्रमणों के सम्पर्क में आकर ही स्वीकार किया। अनेकों विद्वान् इस तथ्य की अनेकत्र पुष्टि कर चुके हैं।

इसी क्रम में हम यदि अन्य भारतीय-दर्शनों को देखते हैं, तो इनमें तो अहिंसा का मूल-प्रसार दृष्टिगोचर होता है, तथा त्याग की उदात्त भावना परिलक्षित होती है; तो वह पूर्णत: जैनधर्म-दर्शन से बहुत सीमा तक अनुप्राणित है। क्योंकि जैनधर्म-दर्शन प्रारम्भ से ही अहिंसा-मूलक और निवृत्ति-मार्गी रहे हैं।

भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने तो अपनी ऐतिहासिक पुस्तक 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' में स्पष्टरूप से लिखा है कि 'जैन भारतवर्ष के मूल-निवासी थे।' इससे स्पष्ट हो जाता है कि जैनधर्म-दर्शन भारतवर्ष में चिरकाल से प्रचलित और प्रतिष्ठित है। हिन्दू-परम्परा के वैदिक-ग्रंथों और पुराण-ग्रंथों में जैनों के प्राय: सभी तीर्थंकरों का उल्लेख मिलता है, तथा उन्हें और उनकी परम्परा के श्रमणों-श्रावकों को 'व्रात्य' संज्ञा से अभिहित किया गया है। बौद्ध-ग्रंथों में भी जैनों के

चौबीसों तीर्थंकरों का उल्लेख मिलता है, और उन्हें निर्ग्रन्थ कहा गया है।

वर्तमानयुग में जैनधर्म-दर्शन का प्रथम प्रवर्तन आदि-तीर्थंकर ऋषभदेव के द्वारा हुआ, जिनके ज्येष्ठ पुत्र चक्रवर्ती भरत के नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। इसी परम्परा में अजितनाथ, संभवनाथ, अभिनंदननाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, पुष्पदंतनाथ, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्यनाथ, विमलनाथ, अनंतनाथ, धर्मनाथ, शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी — ये तेईस तीर्थंकर और हुये। इन चौबीस तीर्थंकरों के द्वारा निरन्तर जैनधर्म-दर्शन की प्रभावना होती रही, और अपने व्यावहारिक, जीवनोपयोगी सिद्धांतों के बल पर जैनधर्म-दर्शन निरन्तर प्रचार-प्रसार में बना रहा।

इन सभी तीर्थंकरों और उनके अनुयायियों ने लोकजीवन में अपने आचरण और विचारों द्वारा एक ऐसी अद्‌भुत क्रान्ति उत्पन्न की, जिसके परिणामस्वरूप सामान्यजन से लेकर बड़े-बड़े सम्राट् भी इसके अनुगामी बने, और इसकी प्रभावना में उन्होंने अपना महत्त्वपूर्ण योगदान किया। ऐतिहासिक सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य और सम्राट् खारवेल के बारे में तो शिलालेखीय प्रमाण मिलते हैं कि ये जैन-सम्राट् थे और इन्होंने निष्पक्ष-भाव से जैनधर्म-दर्शन की प्रभावना के लिये अभूतपूर्व योगदान किया।

इनके साथ ही सम्पूर्ण जैनाचार्य-परम्परा ने भगवान् महावीर के द्वारा प्रस्तुत एवं गौतम गणधर के द्वारा वर्गीकृत 'द्वादशांगीश्रुत' के स्मृत अंश को लिपिबद्ध करके तथा उसको पुष्ट करने वाले मौलिक-साहित्य का विपुल परिमाण में सृजन करके अतुलनीय योगदान किया है। इसी क्रम में विद्वानों के द्वारा किया गया साहित्यिक-अवदान भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन्हीं के प्रभाव से जैनधर्म विभिन्न कालखण्डों में, विभिन्न क्षेत्रों में प्रसरित होता हुआ विश्व-भर में व्याप्त हुआ। इन सभी के कारण ही भगवान् महावीर की परम्परा और उनके द्वारा प्रदत्त तत्त्वज्ञान यथायोग्य रूप में अद्यावधि-पर्यन्त अविच्छिन्न है।

यद्यपि इन विषयों को प्रस्तुत करनेवाला साहित्य लिखा गया है, किन्तु सीमित परिमाण में उपयोगी सूचनाओं का संग्रह करने वाली यह प्रामाणिक कृति उन सभी पुस्तकों की आधार-सामग्री से पुष्ट होते हुये भी अपने-आप में मौलिक, विशिष्ट एवं व्यापक-उपयोगी है। तथा इस महनीय कार्य को मूर्तरूप देने के लिये विद्वान्-लेखक अभिनन्दन के योग्य हैं।

—डॉ. सुदीप जैन

भगवान् महावीर की परम्परा एवं समसामयिक सन्दर्भ

खण्ड-एक

जैनधर्म की पृष्ठभूमि और भगवान् महावीर

भारतवर्ष में निर्ग्रन्थ जैन-परम्परा की पृष्ठभूमि अत्यन्त प्राचीन और प्रतिष्ठित रही है। साथ ही इसकी यह भी विशेषता है कि जहाँ अन्य कई दर्शन और विचारधारायें उदित होकर अपनी निरन्तरता नहीं बना सकीं, वहीं जैनधर्म की परम्परा अनवरत प्रवहमान रही है। वर्तमान युग में करोड़ों वर्ष पूर्व हुये तीर्थंकर आदिब्रह्मा ऋषभदेव से लेकर आज से 2600 वर्ष पूर्व हुये चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर तक यह परम्परा अक्षुण्ण रही, तथा वर्तमानकाल में यह धर्म भगवान् महावीर की परम्परा के रूप में निरन्तर गतिशील होकर अपनी मौलिक-पहचान बनाये हुये है। इस सुदीर्घ काल में अनेक प्रकार के भौगोलिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिवर्तनों के मध्य इसकी मौलिकता और परम्परा-मूलकता निरन्तर बनी रही है। वर्तमान युग में इसकी क्या स्थिति है, और भगवान् महावीर की परम्परा यहाँ तक कैसे पहुँची? — इसका संक्षिप्त लेखा-जोखा यहाँ प्रस्तुत करने का नैष्ठिक प्रयत्न किया जा रहा है। समसामयिकता की दृष्टि प्रधान होने के कारण यहाँ वर्तमान संदर्भों से बात प्रारम्भ होगी।

बीसवीं सदी के अन्तर्गत दिगम्बर जैन समाज के वैचारिक व सामाजिक दर्शन के अध्ययन के लिये यह आवश्यक है कि इस काल के जैन समाज के स्वरूप की विश्लेषणात्मक प्रस्तुति की जाये। भारतीय इतिहास की परम्परा में जैन व बौद्धधर्म छठी शताब्दी ईसा पूर्व अस्तित्व में आये। किन्तु जैनधर्म पर आधारित शोधकार्यों से ही यह सिद्ध हो चुका है कि जैनधर्म पूर्णतः प्रागैतिहासिक धर्म है। पं. जवाहरलाल जी नेहरू ने अपनी पुस्तक 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' में स्पष्ट रूप से घोषित किया है कि "जैन इस देश के मूल-निवासी हैं" — इससे स्पष्ट हो जाता है कि जैनधर्म और संस्कृति भारत में प्राचीनतम है।

"एक समय था जब जैनधर्म को बौद्धधर्म की शाखा समझ लिया गया था, किन्तु अब वह भ्रान्ति दूर हो चुकी है और नई खोजों के फलस्वरूप यह प्रमाणित हो चुका है कि जैनधर्म बौद्धधर्म से न केवल एक पृथक् और स्वतंत्र धर्म है, किन्तु उससे बहुत प्राचीन भी है। अब अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर को जैनधर्म का संस्थापक नहीं माना जाता और उनसे अढ़ाई सौ वर्ष पहले होने वाले भगवान्

पार्श्वनाथ को एक ऐतिहासिक महापुरुष स्वीकार कर लिया है।"[1]

वर्तमान युग में जैनधर्म व जैनसमाज को भारतीय संस्कृति में प्रमुख स्थान प्राप्त है। सनातनी व वैदिक परम्पराओं से भिन्न होने के उपरान्त भी जैनधर्म व समाज का इनके साथ कोई उल्लेखनीय अन्तर्विरोध व्याप्त नहीं है। प्राचीनकाल से ही जैनधर्म को विभिन्न नामों से जाना जाता रहा है। इनमें इसे मुख्य तौर पर श्रमणधर्म, श्रावकधर्म, निर्ग्रन्थधर्म, जैनधर्म इत्यादि नामों से जाना जाता रहा है। समाज व संस्कृति के रूप में 'जैनधर्म' — इस नामकरण को सबसे अन्तिम माना जाता है। जैनधर्म की परम्परानुसार यह भारत की सबसे प्राचीन संस्कृति है। इसके उद्भव एवं विकास की कहानी उतनी ही पुरानी है, जितनी यह सृष्टि। जैन विद्वान् तो यहाँ तक मानते हैं कि जैनधर्म के उद्भवकाल को सीमा में नहीं बांधा जा सकता, क्योंकि उसका उदय व विकास वैदिककाल से भी पूर्ववर्ती है।[2] अनेक पुरातात्त्विक अवशेष भी इस अवधारणा की पुष्टि करते हैं। अब यह स्थापित हो चुका है कि जैनधर्म के प्रवर्तक महावीर स्वामी चौबीसवें तीर्थंकर थे, अर्थात् इनके पूर्व 23 तीर्थंकर पैदा हुए, जिन्होंने जैनधर्म को आगे निरन्तरता प्रदान की।

जैन 'जित्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है 'जीतना', अर्थात् जिन्होंने अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर सांसारिकता पर विजय प्राप्त कर ली है, उन्हें 'जिन' अर्थात् 'विजेता' कहा गया तथा इनके अनुयायियों को 'जैन' कहा जाने लगा।

जैसाकि पूर्व में उल्लेख किया गया है कि जैनधर्म अथवा जैनसंस्कृति वैदिककाल से ही अस्तित्व में थी, किन्तु इसकी लोकप्रियता अत्यधिक सीमित थी। वैदिक परम्परा से भिन्न इस परम्परा को विभिन्न नामों से जाना जाता रहा था। वैदिकधर्म में व्याप्त सामाजिक बुराईयों के विरोध में जैनधर्म को लोकप्रियता प्राप्त हुई। वैदिकधर्म में शूद्रों व महिलाओं को उचित स्थान प्राप्त नहीं था, जबकि जैनधर्म में प्राणीमात्र को समान महत्त्व और स्थान प्रदान किया गया है। इसका स्पष्ट उदाहरण यह है कि प्रत्येक वर्ग के लोगों व महिलाओं को भी साधु-संघ में स्थान दिया गया है। एक जैन विद्वान् ने इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "वैदिक परम्परा जन्म-आधारित वर्ण-व्यवस्था को मानती थी। ब्राह्मणों को सर्वश्रेष्ठ, क्षत्रियों को श्रेष्ठ व वैश्य मध्यम तथा शूद्रों को इन दोनों से नीचा स्थान देती थी। ब्रह्माजी के मुँह से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय जांघों से वैश्य व पैरों से शूद्र पैदा हुए हैं — ऐसा प्रतिपादित किया जाता था। जैनाचार्यों ने वर्ण-व्यवस्था को कर्म-आधारित माना और सबकी समानता व धर्म-मार्ग पर आगे बढ़ने हेतु समान व्यवहार व अधिकार की बात कही।"[3] इसप्रकार जैनधर्म सभी वर्गों में अधिक लोकप्रिय हुआ। इसी कारण जैनधर्म में भारतीय समाज के परम्परागत चारों वर्णों ने प्रवेश किया।

जैनधर्म की परम्परा में चौबीस तीर्थंकरों की अवधारणा ने इसकी प्राचीनता

को सत्यापित किया है। इन तीर्थंकरों के बारे में जैन धर्मानुयायियों की स्पष्ट मान्यता है कि उन्होंने देश एवं समाज को असत्य के युग से सत्य के युग में प्रवेश दिलाया तथा पापी से नहीं, अपितु पाप से घृणा करने का मन्त्र सिखलाया। इन सभी ने *समानरूप से देश एवं समाज को अध्यात्म की ओर ले जाने में सफलता प्राप्त की* तथा पूरे समाज को धर्ममय बनाने का पुनीत कार्य किया।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव

भगवान् ऋषभदेव को जैनधर्म व संस्कृति का प्रवर्तक माना जाता है, यत: जैन-परम्परानुसार वे प्रथम तीर्थंकर थे। इनके बारे में पुष्ट ऐतिहासिक तथ्यों का भले ही अभाव है, किन्तु भारतीय संस्कृति के पुराणों को एवं वैदिक वाङ्मय से इनके जीवन, व्यक्तित्व एवं अवदान की महनीयता पुष्ट होती है। अनेक समकालीन स्रोतों से पता चलता है कि ऋषभदेव का जन्म अयोध्या में हुआ था। महाराजा 'नाभिराय' उनके पिता थे और माता का नाम 'मरुदेवी' था। ऋषभदेव को जन्मजात दिव्य-पुरुष माना जाता है। जैनधर्म के प्रमुख-ग्रन्थ 'आदिपुराण' में लिखा है कि "जिस समय ये गर्भ में थे, उस समय देवताओं ने स्वर्ण की वृष्टि की इसलिए इन्हें 'हिरण्यगर्भ' भी कहते हैं"[4] इनके समय में प्रजा के सामने जीवन की समस्या विकट हो गई थी, क्योंकि जिन कल्पवृक्षों से लोग अपना जीवन-निर्वाह करते आये थे, वे लुप्त हो चुके थे और जो नई वनस्पतियाँ पृथ्वी पर उगी थीं, वे उनका उपयोग करना नहीं जानते थे। तब इन्होंने उन्हें उगे हुए इक्षु-दण्डों से रस निकालकर क्षुधा शान्त करना सिखलाया। इसलिए इनका वंश 'इक्ष्वाकुवंश' के नाम से प्रसिद्ध हुआ और ये उसके 'आदिपुरुष' कहलाये। इन्होंने प्रजा को कृषि, असि, मसि, शिल्प, वाणिज्य और विद्या — इन षट्कर्मों से आजीविका करना बतलाया; इसलिए इन्हें 'प्रजापति' भी कहा जाता है। सामाजिक व्यवस्था को चलाने के लिए इन्होंने तीन वर्गों की स्थापना की। जिनको रक्षा का भार दिया, वे 'क्षत्रिय' कहलाये; जिन्हें खेती, व्यापार, गोपालन आदि के कार्य में नियुक्त किया गया, वे 'वैश्य' कहलाये; और जो सेवा-निवृत्ति करने के योग्य समझे गये, उन्हें 'शूद्र' नाम दिया गया।[5] इसप्रकार जैन-विद्वान् एवं धर्मानुयायी ऋषभदेव को पहला व्यक्ति मानते हैं, जिन्होंने धर्म के साथ-साथ सामाजिक व्यवस्था का सूत्रपात किया। इनके युग को 'विज्ञान का प्रथम-परीक्षण-काल' भी कहा जाता है।

ऋषभदेव को महाराज नाभि के पुत्र होने के कारण शासन करने का स्वयमेव अधिकार मिल गया और वे अपने पिता के सान्निध्य में प्रजा की समस्याओं का समाधान करने लगे। इसलिए इनको उसी समय से 'प्रजापति' के रूप में भी जाना जाता है। उन्होंने स्वयं छ: विद्याओं का परीक्षण व प्रयोग अपने जीवन में किया और

इन विद्याओं की सत्यता जानने के पश्चात् प्रजाजनों को इनके उपयोग की वैज्ञानिक विधि बतलाई। एक आधुनिक जैन विद्वान् ने इन्हें 'मानव-संस्कृति का प्रथम सूत्रधार' मानते हैं। इनके अनुसार "तीर्थंकर ऋषभ मानव-संस्कृति के प्रथम सूत्रधार थे। उन्होंने अहिंसक-समाज-व्यवस्था का सूत्रपात किया और असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प — इन छः क्रियाओं के माध्यम से जीवन-यापन की शिक्षा देकर देश को वैज्ञानिक-युग में प्रवेश दिलाया। वे ऐसे युग में पैदा हुए, जब देश संक्रान्ति-काल से गुजर रहा था। वन्य-जीवन, छोटे-छोटे कबीलों के जीवन एवं कल्पवृक्षों पर आधारित जीवन को नई दिशा की ओर मोड़ा तथा सबको ग्रामीण-जीवन एवं नागरिक-जीवन जीना सिखाया। समाज को एक सूत्र में बांधने एवं सबमें अपने-अपने कार्यों के प्रति निष्ठा जागृत करने के लिए समाज को क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र वर्गों में कर्मानुसार विभाजित किया और अपने जीवन में ही उसके अच्छे परिणाम देखे।"[6]

ऋषभदेव को 'इक्ष्वाकुवंश' का माना गया है, जिसमें कालान्तर में श्रीराम का जन्म हुआ था। इनकी दो पत्नियां थीं। एक का नाम 'सुनन्दा' व दूसरी का 'नन्दा' था। इनसे इनके 101 पुत्र और 2 पुत्रियां पैदा हुईं। उनके बड़े पुत्र का नाम 'भरत' था। यही भरत इस युग में भारतवर्ष के 'प्रथम चक्रवर्ती' राजा हुए।[7] एक जैनविद्या के ज्ञाता इस सन्दर्भ में लिखते हैं कि इन्हीं भरत के नाम पर 'भारत देश' का नामकरण हुआ है। इसके अनुसार "ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत थे। वे प्रथम सम्राट् थे। उन्होंने इस देश का नाम 'भारत' रखा और वह भारतवर्ष कहलाने लगा। जिस दुष्यंत के पुत्र भरत के नाम से भारत का नाम माना जाता है, वह तो चक्रवर्ती भरत के बहुत बाद में हुए थे। चक्रवर्ती भरत ने ही देश को राजनीतिक स्वरूप प्रदान किया। जैन-भूगोल के अनुसार उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक सारा देश 'भरत-क्षेत्र' कहलाता है। यहाँ गंगा एवं सिन्धु नदी बहती है और देश की भूमि को शस्यश्यामला बनाती है। चक्रवर्ती भरत के छोटे भाई बाहुबलि ने पोदनपुर में तपःसाधना की और कैवल्य प्राप्त किया था। इसलिए उत्तर से दक्षिण तथा पूर्व से पश्चिम तक सारा देश 'भारतवर्ष' कहलाता है।"[8]

जैन-परम्परा में ऋषभदेव को 'मर्यादा-पुरुषोत्तम' भी मानते हैं। इसके अनुसार उनके आचरण को आदर्श मानकर मानव-समाज में प्रथम बार मर्यादायें स्थापित हुईं। उन्होंने आदर्श प्रजापालक शासक, आदर्श पति एवं पिता के रूप में तो अपने आचरण से आम-जनता को प्रभावित किया ही, साथ ही उन्होंने एक साधु व धर्मोपदेशक के रूप में मानव के कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया। मानव-समाज को अपने आपसी सहयोग एवं सौहार्द की भावना के साथ सुचारुरूप से चलाने के लिए ऋषभदेव ने अपनी अप्रतिम प्रतिभा व सूझबूझ के आधार पर आवश्यक नियम-उपनियम बना दिए।

समाज के वरिष्ठजनों व अग्रजनों ने नियमों व मर्यादाओं का पालन करवाने के लिये नाभि-राजा से अपने पुत्र ऋषभदेव को 'प्रथम शासक' बनाने का अनुरोध किया, जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया और ऋषभदेव सभी प्रजाजनों की आम सहमति से तत्कालीन समाज के प्रथम राजा के रूप में अभिषिक्त किये गये।

इसके पश्चात् जैन-पुराणों व अनुश्रुतियों के अनुसार सत्ता के सभी आनन्द लेते हुए व प्रजा का सन्तान की तरह पालन करते हुए शासन करते रहे। फिर एक दिन 'नीलाञ्जना' नामक नृत्यांगना को नृत्य करते अचानक काल-कवलित होते देख, उन्हें वैराग्य हो गया तथा वे सबकुछ त्यागकर निर्ग्रन्थ मुनिदीक्षा अंगीकार करके ध्यानसाधना में लीन हो गये। इसके पहले उन्होंने अपने बड़े पुत्र भरत को अयोध्या का तथा शेष 99 पुत्रों को अन्य अलग-अलग राज्यों का शासक बनाया था, तब वन में जाकर उन्होंने जिन-दीक्षा अंगीकार कर ली।[9]

जैन-ग्रन्थों, जनश्रुतियों व परम्परा का अनुशीलन करते हुये पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री ने संक्षेप में ऋषभदेव के जीवनवृत्त को चित्रित करते हुए लिखा है कि "एक दिन भगवान् ऋषभदेव राजसिंहासन पर विराजमान थे। राजसभा लगी हुई थी और 'नीलाञ्जना' नाम की अप्सरा नृत्य कर रही थी। अचानक नृत्य करते-करते नीलाञ्जना का शरीरपात हो गया। इस आकस्मिक घटना से भगवान् का चित्त विरक्त हो उठा। तुरंत सब पुत्रों को राज्यभार सौंपकर उन्होंने प्रव्रज्या ले ली और छः माह की समाधि लगाकर खड़े हो गये। उनकी देखा-देखी और भी अनेक राजाओं ने दीक्षा ली। किन्तु वे भूख-प्यास के कष्ट को न सह सके और मार्गच्युत हो गये। छः माह के बाद जब भगवान् की समाधि भंग हुई, तो वे आहार के लिये निकले। उनके प्रशांत नग्न-रूप को देखकर प्रजा उमड़ पड़ी। कोई उन्हें वस्त्र भेंट करता था, कोई भूषण भेंट करता था, कोई हाथी-घोड़े लेकर उनकी सेवा में उपस्थित होता था; किन्तु निर्ग्रन्थ जैन-मुनि को आहार देने की विधि कोई नहीं जानता था, अतः उनका आहार संभव नहीं हो सका। इस तरह घूमते-घूमते छः माह और बीत गये।

इसी तरह घूमते-घूमते एक दिन ऋषभदेव हस्तिनापुर में जा पहुँचे। वहाँ का राजा श्रेयांस बड़ा दानी था। उसने भगवान् का बड़ा आदर-सत्कार किया। आदरपूर्वक भगवान् को प्रतिग्रह (पड़गाहना) करके उच्चासन पर बैठाया, उनके चरण धोये, पूजन की और फिर नमस्कार करके बोला - "भगवान्! यह इक्षुरस, प्रासुक है, निर्दोष है; इसे आप स्वीकार करें।" तब भगवान् ने खड़े होकर अपनी अंजलि में रस लेकर पिया। उस समय लोगों को जो आनन्द हुआ, वह वर्णनातीत है। मुनिराज ऋषभदेव का यह आहार **वैसाख शुक्ला तीज** के दिन हुआ था। इसी से यह तिथि 'अक्षय तृतीया' कहलाती है। आहार करके मुनिराज ऋषभदेव फिर वन को चले गये और आत्मध्यान में लीन हो गये। एक बार मुनिराज ऋषभदेव 'पुरमताल' नगर के

उद्यान में ध्यानस्थ थे। उस समय उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। इस तरह 'जिन' पद प्राप्त करके भगवान् बड़े भारी समुदाय के साथ धर्मोपदेश देते हुए विचरण करने लगे। उनकी व्याख्यानसभा 'समवसरण' कहलाती थी। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उसमें पशुओं तक को धर्मोपदेश सुनने के लिये स्थान मिलता था, और सिंह जैसे भयानक जन्तु शान्ति के साथ बैठकर धर्मोपदेश सुनते थे। भगवान् जो कुछ कहते थे, सबकी समझ में आ जाता था। इस तरह जीवन-पर्यन्त प्राणिमात्र को उनके हित का उपदेश देकर भगवान् ऋषभदेव कैलाश पर्वत से मुक्त हुए। वे वर्तमान 'अवसर्पिणी काल' के जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर थे। हिन्दू-पुराणों में भी उनका वर्णन मिलता है। इस युग में उनके द्वारा ही जैनधर्म का आरम्भ हुआ।"[10]

उपरोक्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जैन-परम्परा में ऋषभदेव को एक 'दिव्य-पुरुष' एवं 'भगवान्' माना गया है। इस परम्परा में इन्हें 'आदिब्रह्मा' माना गया है। इसी भारतीय परिवेश में पुष्पित और पल्लवित होने के कारण जैनधर्म और वैदिकधर्म में समानता दिखाई देती है। जिसप्रकार हिन्दूधर्म में आदिपुरुष 'ब्रह्मा' को सृष्टि का कर्त्ता माना गया है, उसी प्रकार जैनधर्म में ऋषभदेव को 'आदि-ब्रह्मा' के रूप में माना गया है।

सनातन हिन्दू-संस्कृति में ब्रह्मा, विष्णु और महेश को क्रमशः सृष्टि का सृजनकर्त्ता, पालक व विनाशक का प्रतीक माना गया है। विशाल दृष्टि से विचार करने पर जिसप्रकार नित्य-परिवर्तनशील वस्तु में एकसाथ ये तीनों गुण पाये जाते हैं, उसीप्रकार भगवान् ऋषभदेव में ब्रह्मा, विष्णु और महेश के तीनों गुण एकसाथ मिलते हैं। जैनाचार्य जिनसेन ने ऋषभदेव को ब्रह्मा एवं शिव-स्वरूप में स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में जिनसेन रचित 'हरिवंश-पुराण' का यह श्लोक उल्लेखनीय है—

"त्वं ब्रह्मा परमज्योति स्वत्वं प्रभिष्णु-राजोरजाः।
त्वमादिदेवो देवानाम् अधिदेवो महेश्वरः॥"[11]

अर्थात् हे ऋषभदेव! आप ब्रह्मा हैं, परमज्योति स्वरूप हैं, समर्थ हैं, पापरहित हैं, प्रथम तीर्थंकर हैं, और देवों के भी अधिदेव महेश्वर (शिव) हैं।

वैदिक-परम्परा ऋषभदेव को विष्णु का रूप भी मानती है।[12] वैदिक-संस्कृति में विष्णु के चौबीस अवतार माने गये हैं। ये रूप जीवन के उत्तरोत्तर विकास के अद्भुत उदाहरण हैं। इन अवतारों में पशु, पशु-नर, अपूर्ण-नर एवं पूर्ण-नर का सर्वांगीण विकास समाहित है। 'भागवत-पुराण' के पंचम स्कंध एवं वेदों में नाभि-पुत्र ऋषभदेव को विष्णु का अवतार माना है। विष्णुपुराण, मार्कण्डेयपुराण, प्रभाषपुराण, ऋग्वेद, शिवपुराण आदि में भी 'ऋषभदेव को जैनधर्म का प्रथम तीर्थंकर' माना गया है। इसप्रकार आदि-ब्रह्मा के साथ ऋषभदेव सृष्टि के संरक्षक भी माने गये हैं।[13]

जैन-परम्परा में ऋषभदेव को समाज में वर्ण-व्यवस्था का संस्थापक माना गया है। एक विद्वान् ने लिखा है कि "भगवान् ऋषभदेव ने समाज को तीन वर्णों में विभाजित किया था, लेकिन उनके पुत्र चक्रवर्ती सम्राट् भरत ने इसमें एक वर्ण और जोड़ा और चौथे ब्राह्मण-वर्ण की स्थापना की। सम्राट् भरत चाहते थे कि 'जो अणुव्रतों के पालन करने में आगे रहते हैं, श्रावकों में श्रेष्ठ हैं, ऐसे व्यक्तियों को दान देने से पुण्य लाभ होता है, तथा गुणों की वृद्धि होती है।' इसलिए ऐसे व्यक्तियों को दान देने के लिए चक्रवर्ती सम्राट् भरत ने उन्हें 'ब्राह्मण' के नाम से सम्बोधित किया और एक नये वर्ण की स्थापना की। व्रतों के संस्कार से 'ब्राह्मण', शस्त्र धारण करने से 'क्षत्रिय', न्यायपूर्वक धन कमाने से 'वैश्य' तथा सेवावृत्ति का आश्रय लेने से 'शूद्र' कहलाये गये। लेकिन जब ऋषभदेव को चतुर्थ-वर्ण-स्थापना का समाचार स्वयं चक्रवर्ती सम्राट् भरत ने निवेदन किया, तो उन्होंने भरत के उक्त कदम की सराहना नहीं की। सम्राट् ने एकबार जो घोषणा कर दी, उस घोषणा को वापिस लेने में उनकी अकुशलता का बोध होता। इस कारण उन्होंने यही कहा कि "जिनकी सृष्टि की जा चुकी है, उन्हें नष्ट करना ठीक नहीं।"[14]

ऋषभदेव के सन्दर्भ में उपलब्ध जानकारियों से यह तो स्पष्टरूप से कहा जा सकता है कि वे एक पुराण-पुरुष थे। अनेक साक्ष्यों से यह स्पष्टरूप से स्थापित हो चुका है कि ऋषभदेव प्रथम जैन तीर्थंकर थे। वे ही इस युग में जैनधर्म के संस्थापक थे।

अन्य जैन तीर्थंकर

जैन-परम्परा में चौबीस तीर्थंकरों को 'धर्म का संस्थापक' माना गया है। ऋषभदेव के पश्चात् अजितनाथ, सम्भवनाथ, अभिनन्दन, सुमतिनाथ, पदमप्रभु, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभु, पुष्पदन्त, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, नमिनाथ, नेमिनाथ (अरिष्टनेमि), पार्श्वनाथ एवं महावीर स्वामी हुये।

प्रथम 21 तीर्थंकर प्रागैतिहासिक काल के माने जाते हैं। उन्हें पौराणिक महापुरुष भी माना जाता है। अन्तिम तीन तीर्थंकर पूर्णतः ऐतिहासिक माने जाते हैं। प्रथम 21 तीर्थंकर ने ऋषभदेव द्वारा प्रतिपादित धर्म के स्वरूप, उसके पालन करने की विधि, गृहस्थधर्म, मुनिधर्म, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह जैसे सिद्धांतों को जीवन में उतारने व तदनुसार जीवन को ढालने का उपदेश दिया। उन्होंने जीवन को निवृत्तिपरक बनाने पर जोर दिया, तथा त्यागमय जीवन का निर्वाह करने पर बल दिया। इनके अनुसार राग, द्वेष, मोह, ममता — ये सब जीवन के विकार हैं, जीवन का विनाश करने वाले हैं, इसलिये वे सब त्याज्य हैं।[15]

तीर्थंकर नेमिनाथ

नेमिनाथ 22वें जैन तीर्थंकर थे। जैन-मान्यतानुसार नेमिकुमार कर्मयोगी कृष्ण

के चचेरे भाई थे, इन्हें 'अरिष्टनेमि' भी कहा जाता है। शौरीपुर-नरेश 'अन्धकवृष्टि' के दस पुत्र हुये। सबसे बड़े पुत्र का नाम 'समुद्रविजय' और सबसे छोटे पुत्र का नाम 'वसुदेव' था। 'समुद्रविजय' के घर 'नेमिनाथ' ने जन्म लिया और 'वसुदेव' के घर 'श्रीकृष्ण' ने। 'जरासन्ध' के भय से यादवगण शौरीपुर छोड़कर द्वारका नगरी में जाकर रहने लगे। वहाँ जूनागढ़ राजा की पुत्री राजमति से नेमिकुमार का विवाह निश्चित हुआ। बड़ी धूमधाम के साथ बारात जूनागढ़ के निकट पहुँची। नेमिनाथ बहुत-से राजपुत्रों के साथ रथ में बैठे हुए आस-पास की शोभा देखते हुए जा रहे थे। उनकी दृष्टि एक ओर गई, तो उन्होंने देखा बहुत-से पशु एक बाड़े में बन्द हैं, वे निकलना चाहते हैं, किन्तु निकलने का कोई मार्ग नहीं है। नेमिनाथ ने तुरन्त सारथी को रथ रोकने का आदेश देते हुए पूछा कि "इतने पशु इस तरह क्यों रोके हुये हैं?" सारथी के द्वारा नेमिनाथ को यह जानकर बड़ा दु:ख हुआ कि उनकी बारात के सत्कार के लिये इन पशुओं का वध किया जाने वाला है। उनको भारी मानसिक कष्ट हुआ और बोले "यदि मेरे विवाह के निमित्त इतने पशुओं का जीवन संकट में है, तो धिक्कार है ऐसे विवाह को। अब मैं विवाह नहीं करूँगा।" वे रथ से नीचे उतर पड़े और मुकुट व कंगन को फेंककर वन की ओर चल पड़े। उनको वैराग्य हो गया तथा वे सत्य की तलाश में निकल पड़े। ऐसी मान्यता है कि वे पास में ही स्थित गिरनार पर्वत पर चढ़ गये और सभी परिधान छोड़कर दिगम्बर मुनिव्रत अंगीकार करके आत्मध्यान में लीन हो गये और पर्याप्त तप:साधना करके केवलज्ञान को प्राप्त कर गिरनार से ही निर्वाण-लाभ किया।[16] इनकी होनेवाली पत्नी राजकुमारी राजमति ने भी दीक्षा ले ली और वे जैनधर्म के प्रचार में संलग्न हो गई। नेमिनाथ और राजमति के जीवन-प्रसंग को लेकर बड़ी संख्या में विविध रोचक काव्य रचे गये हैं। जीवदया एवं अहिंसा की प्रतिष्ठापना में इनका बड़ा योगदान माना जाता है।[17]

तीर्थंकर पार्श्वनाथ

पार्श्वनाथ 23वें तीर्थंकर थे। इनका जन्म वाराणसी नगर के राजा अश्वसेन एवं माता वामादेवी के पुत्र के रूप में हुआ। इनकी चित्तवृत्ति आरम्भ से ही वैराग्य की ओर थी। इनकी लौकिक एवं राजनीतिक कार्यों में कोई रुचि नहीं थी। माता-पिता ने अनेक बार इनसे विवाह का प्रस्ताव रखा, किन्तु उन्होंने सदा टाल दिया। एक दिन वे अपने साथियों के साथ वनभ्रमण को जा रहे थे कि मार्ग में पंचाग्नि तप करता हुआ एक तपस्वी दिखाई दिया। वे उसके पास पहुँचे और पूछा, "इन लकड़ियों को जलाकर क्यों जीव हिंसा करते हो?" तपस्वी पार्श्वनाथ की बात सुनकर क्रोधित हो गया। उसने पूछा कि "मैं तपस्या कर रहा हूँ, इसमें हिंसा कहाँ से आ गयी?" तब पार्श्वकुमार बोले कि इस मोटी लकड़ी के अन्दर एक नाग-नागिन का जोड़ जल रहा है और मरणासन्न है।" तब उस तपस्वी ने कुल्हाड़ी उठाकर

ज्योंही जलती हुई लकड़ी को चीरा, तो उसमें से नाग और नागिन का जलता हुआ जोड़ा निकला। उन्होंने उस मरणासन्न सर्प-युगल को उपदेश देकर उसका उद्धार किया और हिंसायुक्त तप के स्थान पर संयम, विवेकयुक्त सात्त्विक तप करने का उपदेश दिया। उन्हें इस घटना से बड़ा कष्ट हुआ। कुछ समय पश्चात् उन्होंने राजपाट को तिलांजली देकर मुनिदीक्षा धारण कर ली। उस समय से वे आत्मध्यान में लीन हो गये तथा सत्य का मार्ग दिखाने में सफल रहे।[18] पार्श्वनाथ ने कहा कि "जिस तप से आन्तरिक कुप्रवृत्तियों का शमन हो, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों के नीचे दबी हुई समत्व की भावना हृदय में जागृत हो, ऐसा तप ही सर्वोत्तम है।"[19]

पार्श्वनाथ का राजस्थान से विशेष सम्बन्ध रहा हुआ माना जाता है। आचार्य गुणभद्र द्वारा लिखित 'उत्तर-पुराण' में इसका विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। 'उत्तर-पुराण' में पार्श्वनाथ के सन्दर्भ में उल्लिखित भौगोलिक व जनजातीय उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि इनकी तपोभूमि लम्बे समय तक राजस्थान रहीं।[20] अजमेर के आसपास का क्षेत्र अहिच्छत्रपुर के नाम से जाना जाता था।

पार्श्वनाथ के प्रसंग में 'अहिच्छत्र' के वन में ध्यानमग्न होते समय उनके पूर्वजन्म के बैरी कमठ द्वारा उनके ऊपर किये उपसर्ग का उल्लेख मिलता है। इस सन्दर्भ में उल्लेख मिलता है कि मुनि बनने के पश्चात् जब वे अहिच्छत्र के वन में ध्यानस्थ थे, तब उनके पूर्वजन्म के बैरी संवरदेव (कमठ) ने घोर उपसर्ग किया। वह उनके ऊपर ईंट और पत्थरों की बरसात करने लगा। जब उससे भी उसने पार्श्वनाथ के ध्यान में विघ्न पड़ता न देखा, तो वह मूसलाधार वर्षा करने लगा। आकाश में मेघों ने भयानक रूप धारण कर लिया, उनके गर्जन से दिल दहलने लगा। पृथ्वी पर चारों ओर पानी ही पानी उमड़ पड़ा। ऐसे घोर उपसर्ग में जो नाग और नागिन मरकर 'धरणेन्द्र' व 'पद्मावती' हुये, वे अपने उपकारी (पार्श्वनाथ) के ऊपर उपसर्ग हुआ जानकर तुरंत आये। धरणेन्द्र ने सहस्र फणवाले सर्प का रूप धारण करके भगवान् के ऊपर अपना फन फैला दिया और इस तरह उपसर्ग से उनकी रक्षा की। उसी समय इन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई।[21]

पार्श्वनाथ को महिमा-मण्डित करने के ध्येय से जैनधर्मानुरागियों ने अनेक घटनाक्रम प्रस्तुत किये। इससे इनकी ऐतिहासिकता भी सिद्ध होती है। पार्श्वनाथ की जो मूर्तियां पाई जाती हैं, उनके सिर पर सर्प फणावली बनी हुई होती है। यह उसी तपस्या के घटनाक्रम को चित्रित करता है। जिसमें उनकी रक्षा धरणेन्द्र ने सर्प बनकर की थी। विभिन्न ऐतिहासिक तथ्य भी इस ओर इंगित करते हैं कि केवलज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् वे राजस्थान के 'बिजोलिया' नामक गांव में आये और अपने चरण-कमलों से इसे पवित्र किया।[22] कैवल्य होने के पश्चात् राजस्थान एवं अन्य प्रदेशों में विहार करते हुये सौ वर्ष की आयु में पार्श्वनाथ ने 'सम्मेदशिखर' पर

तपस्या करते हुए निर्वाण प्राप्त किया।[23]

पार्श्वनाथ के समय का समाज अहिंसाप्रिय समाज था, किन्तु पंचाग्नि तप करने वाले साधुओं का बोलबाला था। अंधविश्वास फैला हुआ था। पार्श्वनाथ के पूर्व होने वाले तीर्थंकरों के द्वारा उपदिष्ट धर्म को प्रायः भुला दिया गया था, किन्तु पार्श्वनाथ के केवली बनने के पश्चात् देश में पुनः अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह व्रतों का पालन किया जाने लगा और समाज में अंहिसाधर्म (जैनधर्म) को अधिक मान्यता मिलने लगी थी। पार्श्वनाथ के युग की धार्मिक स्थिति के बारे में विद्वानों की मान्यता है कि वह बड़ा उथल-पुथल का समय था। वैदिकधर्म में यज्ञों की प्रधानता थी। यह ब्राह्मण-युग के अन्त और वेदान्त-युग के आरम्भ का समय था। आत्मा और ब्रह्म की जिज्ञासा पुरोहितवर्ग में बलवती थी। पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री लिखते हैं, "इसी युग के आरम्भ में काशी में पार्श्वनाथ ने जन्म लेकर भोग का मार्ग छोड़कर योग का मार्ग अपनाया। उस समय वैदिक आर्य भी तप के महत्त्व को मानने लगे थे, किन्तु अपने प्रधान कर्म अग्निहोत्र को छोड़ने में वे असमर्थ थे। अतः उन्होंने तप और अग्नि को संयुक्त करके 'पंचाग्नि तप' को अंगीकार कर लिया था।"[24]

पार्श्वनाथ का प्रभाव नौवीं सदी ईसापूर्व अर्थात् महावीर स्वामी से 250 वर्ष पूर्व फैला। वे उच्चकोटि के धर्मशिक्षक थे तथा हिंसक कर्म-कांडों के कट्टर विरोधी थे। यज्ञों की बलि-प्रथा का विरोध करते हुए हिंसा को त्यागने की शिक्षा दी। वह जाति, नस्ल और लिंगभेद के बिना हर दरवाजे पर धर्मप्रचार के लिये पहुँचे। स्त्री एवं पुरुष — दोनों ही पार्श्वनाथ के संघ समानरूप से प्रवेश कर सकते थे। पार्श्वनाथ ने जैनधर्म के अनुयायियों को चार श्रेणियों में विभाजित किया। इन चार श्रेणियों के आचार-विचार को एक निश्चितरूप प्रदान किया। इनके द्वारा निर्धारित श्रेणियां इस प्रकार थीं - (1) यति अर्थात् साधु अथवा मुनि, (2) आर्यिका अथवा साध्वी, (3) श्रावक, (4) श्राविका। इस वर्गीकरण के द्वारा जैन-समुदाय को प्राचीनकाल से सुसंगठित कर दिया गया, जिसके माध्यम से जैन-समुदाय संगठितरूप से चलता रहा। परवर्तीकाल में बौद्धधर्म की तुलना में जैनधर्म के भारत में जीवित रहने का यह एक प्रमुख कारण रहा है।[25] अतः पार्श्वनाथ को जैनधर्म व समाज का प्रबल प्रचारक माना जाता है।[26]

तीर्थंकर महावीर स्वामी

वैसे तो पार्श्वनाथ ने जैनधर्म को एक सुव्यवस्थित और सुनिश्चित रूप प्रदान कर दिया था; किन्तु महावीर स्वामी ने जैनधर्म का भारी विस्तार किया। महावीर स्वामी ने कई दार्शनिक विचार जैनधर्म में लागू किये। अतः इनको जैन-परम्परा में 24वें तीर्थंकर का स्थान प्राप्त है। ऐसा माना जाता है कि पार्श्वनाथ ने सत्य, अहिंसा, अस्तेय व अपरिग्रह के सिद्धांत (चातुर्याम) का ही प्रतिपादन किया था। महावीर

स्वामी ने पाँचवाँ सिद्धांत 'ब्रह्मचर्य' जोड़कर उसे पञ्चमहाव्रत के रूप में प्रतिष्ठित किया था।[27] महावीर स्वामी का जन्म 599 ईसापूर्व बिहार प्रान्त के 'कुण्डग्राम' नगर के राजा सिद्धार्थ के घर में हुआ। उनकी माता त्रिशला वैशाली-गणतंत्र के अध्यक्ष राजा चेटक की पुत्री थी।[28] महावीर का जन्म चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन हुआ था। इस दिन भारतवर्ष में महावीर की जयन्ती बड़ी धूमधाम से मनाई जाती है। वर्तमान में जैनों में 'वीरनिर्वाण-सम्वत्' प्रचलित है, इसका आधार 527 ईस्वी पूर्व में महावीर परिनिर्वाण है।

दिगम्बर-परम्परा के अनुसार महावीर अविवाहित ही रहे। न उन्होंने स्त्री-सुख भोगा, न राज-सुख। जिस समय महावीर स्वामी का जन्म हुआ, उस समय भारतीय समाज व धर्म में अनेक बुराईयां व्याप्त थी। उस समय यज्ञ आदि का बहुत जोर था और यज्ञों में पशुबलि बहुतायत से होती थी। बेचारे मूक-पशु धर्म के नाम पर मार दिये जाते थे। करुणा के सागर महावीर के कानों तक भी उन मूक-पशुओं की चीत्कार पहुँची और महावीर का हृदय करुणा से आप्लावित हो उठा। महावीर स्वामी ने 30 वर्ष की आयु में मुनिदीक्षा धारण कर 12 वर्ष तक कठोर तपस्या की। 42 वर्ष की आयु में उन्हें कैवल्य प्राप्त हुआ। कैवल्य-प्राप्ति के पश्चात् 30 वर्षों तक वे देश के विभिन्न भागों में विहार करते रहे, तथा 72 वर्ष की आयु में उन्होंने निर्वाण को प्राप्त किया।

महावीर स्वामी ने 30 वर्ष तक देश-देशान्तरों में विहार करके धर्मोपदेश दिया। वे जहाँ पहुँचते थे, वहीं उनकी उपदेश-सभा (समवसरण) लग जाती थी। इस तरह महावीर स्वामी काशी, कौशल, पंचाल, कलिंग, कुरुजांगल, कन्नौज, सिन्धु, गान्धार आदि देशों में विहार करते हुये अन्त में पावापुरी पहुँचे। महावीर स्वामी के उपदेशों को व्यवस्थित करने तथा उनका स्मरण रखने का कार्य उनके 'गणधर' करते थे। दिगम्बर-साहित्य में महावीर स्वामी के 11 गणधरों के बारे में उल्लेख मिलता है, तथा प्रथम गणधर इन्द्रभूति नाम का 'गौतम' गोत्रीय ब्राह्मण था।[29] उनके ये सभी गणधर ब्राह्मण बताये गये हैं। वे सभी महावीर स्वामी की ज्ञानगरिमा से अभिभूत होने के कारण उनके अनुयायी बने थे। इन्द्रभूति गौतम 'प्रमुख गणधर' पद से विभूषित हुए। इससे महावीर की सारे देश में लोकप्रियता हो गई और भारी जनसमूह जैनधर्म में दीक्षित होने लगा तथा सम्पूर्ण देश में महावीर एवं जैनधर्म को लोकप्रियता मिली। उनके संघ में एक लाख श्रावक, 3 लाख श्राविकायें थीं; इस कारण उनके अनुयायियों की संख्या तो करोड़ों में होनी चाहिये।[30]

महावीर स्वामी का व्यक्तित्व बड़ा क्रान्तिकारी था। इनके समय में संस्कृति का निर्मल व लोककल्याणकारी रूप विकृत होकर आम-जनता से दूर हो गया था। धर्म के नाम पर कर्मकाण्डों व अन्धविश्वासों में वृद्धि हुई। यज्ञ के नाम पर मूक-पशुओं का वध किया जाता था। वर्णाश्रम-व्यवस्था में भी अनेक विकृतियां घर

कर गईं थीं। स्त्री और शूद्र अधम तथा नीच समझे जाने लगे। उन्हें आत्मचिंतन व सामाजिक प्रतिष्ठा का कोई अधिकार नहीं रहा। त्यागी-तपस्वी समझे जाने वाले लोग सम्पत्ति के मालिक बन बैठे। संयम का स्थान भोग व ऐश्वर्य ने ले लिया। इसप्रकार का सांस्कृतिक संकट उत्पन्न हो गया। इससे मानवता को उबारना आवश्यक था। इस विकट सामाजिक सांस्कृतिक व धार्मिक स्थितियों के सुधार के लिये महावीर ने क्रान्तिकारी कदम उठाये। महावीर स्वामी ने ही जैनधर्म को आम-जनता तक पहुँचाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने धर्म को क्रियाकाण्ड न मानकर आत्मा का स्वभाव माना और बाह्य अनुष्ठानों के बदले आन्तरिक पवित्रता और चित्तवृत्ति की निर्मलता को 'धर्म' कहा। उन्होंने धर्म के चार द्वार बतलाये — क्षमा, सन्तोष, सरलता और विनय। क्रोध से क्षमा में, अभिमान से विनय में, माया से सरलता में और लोभ से सन्तोष में आना ही धर्म की आराधना है।[31]

पार्श्वनाथ द्वारा जैन-समाज का चार श्रेणियों में विभाजन महावीर स्वामी के काल में भी जारी रहा। महावीर स्वामी की मृत्यु के समय इनके संघ में 14,000 मुनि अथवा साधु, 36,000 आर्यिकायें अथवा साध्वियाँ, 1 लाख 59,000 हजार श्रावक एवं 3 लाख 18,000 श्राविकायें थीं।[32] महावीर स्वामी के परिनिर्वाण के पश्चात् उनके गणधर इन्द्रभूति गौतम जैनधर्म के मुखिया बने। उनके बाद उनके शिष्य सुधर्मस्वामी प्रमुख बने और उन्होंने अपने शिष्य जम्बूस्वामी के समक्ष जैन-सिद्धांतों की व्याख्या उसीप्रकार की, जिसप्रकार गौतमस्वामी के समक्ष महावीर स्वामी ने की थी। वर्तमान युग के निर्ग्रन्थ-श्रमण इन्हीं के आध्यात्मिक वंशज माने जाते हैं। अन्य गणधरों ने कोई शिष्य-परम्परा नहीं छोड़ी।[33]

जैसा कि विदित है महावीर स्वामी 24वें व अन्तिम जैन तीर्थंकर थे। अर्थात् उनके निर्वाण के साथ ही इस युग में तीर्थंकर-परम्परा समाप्त हो गई। इसके पश्चात् इन्द्रभूति गौतम, सुधर्मस्वामी ओर जाम्बूस्वामी — ये तीन केवली हुये, जिन्होंने जैनधर्म का प्रचार-प्रसार किया। गणधरों ने महावीर स्वामी के उपदेशों को मौखिक रूप से याद रखते हुये प्रचारित किया। इनको महावीर स्वामी के जीवन-काल में लिपिबद्ध नहीं किया गया था। महावीर स्वामी की शिक्षायें उत्तराधिकारी गणधर याद कर लेते थे, व आने वाले उत्तराधिकारियों को याद करा देते थे। इससे महावीर स्वामी की शिक्षाओं की मौलिकता कमजोर पड़ने लगी थी। ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी में सम्राट् खारवेल ने ऐतिहासिक श्रमण-सम्मेलन उड़ीसा के 'कुमारी पर्वत' (खण्डगिरि-उदयगिरि) पर बुलवाया और वहाँ प्रथम बार महावीर के उपदेशों को द्वारशांग के रूप में व्यवस्थित कर चार अनुयोगों में वर्गीकृत करने का कार्य किया।[34] इसके बाद ईसापूर्व प्रथम शताब्दी में आचार्य पुष्पदन्त-भूतबलि, आचार्य गुणधर एवं आचार्य कुन्दकुन्द आदि आचार्यों ने इसे लिपिबद्ध करने का कार्य किया।

वैसे तो महावीर के निर्वाण के पश्चात् कुछ समय तक जैनधर्म संगठित ही रहा। किन्तु बाद में विभिन्न मत-मतान्तर पनपने लगे थे, तथा जैनधर्म प्रमुख दो सम्प्रदायों क्रमशः 'दिगम्बर' व 'श्वेताम्बर' में विभाजित हो गया। दिगम्बरों की यह मान्यता है कि उन्होंने मूलधर्म को सुरक्षित रखा है, जबकि श्वेताम्बरों ने समयानुसार इसमें परिवर्तन किये हैं। ऐसी मान्यता है कि महावीर स्वामी के बाद सन् 80 ईस्वी में श्वेताम्बर-पंथ अस्तित्व में आया।[35]

जैनधर्म का विस्तार

आज सारे विश्व में जैनधर्म के अनुयायी भारी संख्या में हैं, किन्तु जैनधर्म का विकास मुख्यरूप से भारत में ही हुआ। व्यवसाय व वाणिज्य के माध्यम से जैनधर्म का प्रचार व प्रसार सम्पूर्ण विश्व में हुआ। इसकी प्राचीनता के आधार पर जैनमतानुयायी जैनधर्म को भारत को मूलधर्म मानते हैं। इनकी मान्यता है कि जैनधर्म और जैनसमाज दोनों ही ऐतिहासिक काल से भारत के मूलधर्म एवं समाज रहे हैं। आर्यों के आगमन के पूर्व जो जातियाँ यहाँ रहती थीं, वे सब श्रमणधर्म की उपासक थीं, अहिंसाप्रिय थीं तथा शान्त-स्वभाव की थीं। इसके उपरान्त भी जैनधर्म वैदिकधर्म के साथ अस्तित्व में रहा।[36] अतः जैनधर्म का सम्पूर्ण देश में विस्तार होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

उत्तर भारत के विभिन्न प्रान्तों में जैनधर्म की स्थिति काफी सुदृढ़ थी। विभिन्न इतिहासज्ञों के कथन से पता चलता है कि बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् प्रथम सदी में उत्तर भारत के विभिन्न स्थानों में जैन-समुदाय प्रमुख था। चीनी यात्री ह्वेनसांग ईस्वी सन् की सातवीं सदी में भारत आया था। वह अपने यात्रा-विवरण में नालन्दा के विहार का वर्णन करते हुये लिखता है कि "निर्ग्रन्थ (जैन) साधु ने, जो ज्योतिष-विद्या का जानकार था, नये भवन की सफलता की भविष्यवाणी की थी।" इससे प्रकट है कि उस समय मगध-राज्य में जैनधर्म फैला हुआ था। जैनधर्म की उन्नति का सूचक दूसरा मुख्यप्रमाण अशोक की प्रसिद्ध घोषणा है, जिसमें निर्ग्रन्थों को दान देने की आज्ञा है। इससे यह स्पष्ट होता है कि अशोक के शासनकाल में जो श्रमण 'निर्ग्रन्थ' के नाम से विख्यात थे, वे इतने योग्य व प्रभावशाली थे कि अशोक की राज-घोषणा में उनका मुख्य उल्लेख करना आवश्यक समझा गया था।

उत्तर-भारत में जैनधर्म की प्रगति की दृष्टि से 'कलिंग' का नाम उल्लेखनीय है। दूसरी शताब्दी ईसापूर्व का प्रसिद्ध खारवेल शिलालेख कलिंग में जैनधर्म की प्रगति को प्रमाणित करता है। श्री रंगास्वामी आयंगर के मतानुसार बौद्धधर्म के प्रचार के प्रति अशोक ने जो उत्साह दिखलाया, उसके फलस्वरूप जैनधर्म का केन्द्र मगध से उठकर कलिंग चला गया, जहाँ ह्वेनत्सांग के समय तक जैनधर्म का भारी प्रभाव था।[37] यद्यपि ईसापूर्व 400 में नंद राजा द्वारा 'कलिंग-जिन' की प्रतिमा उड़ीसा में

मगध लाये जाने का उल्लेख यह सिद्ध कर देता है कि महावीर के काल से ही कलिंग में जैनधर्म का प्रचार था और वहाँ जैन-तीर्थंकरों की मूर्तियों की पूजा की जाती थी। खारवेल के शिलालेख की तरह ही प्रसिद्ध मथुरा के पुरातात्त्विक साक्ष्य प्रकट करते हैं कि ईसा की प्रथम शताब्दी से बहुत पहले से मथुरा जैनधर्म का एक प्रमुख केन्द्र था। इसप्रकार उत्तर-भारत के प्रत्येक प्रान्त में महावीर के निर्वाण के पश्चात् लगभग पाँच शताब्दियों तक जैनधर्म तेजी के साथ उन्नति करता रहा। अधिक विस्तार में जाये बिना सतही तौर पर जैनधर्म के विस्तार-क्षेत्रों की जानकारी लेना प्रासंगिक रहेगा।

बिहार तो भगवान् महावीर की जन्मभूमि, तपोभूमि, कर्मभूमि व निर्वाणभूमि थी। वहाँ के राजघरानों में जैनधर्म का अच्छा प्रचार व प्रसार हुआ। बिहार में ही सम्मेद शिखर, राजगृह, पावापुरी, कुण्डग्राम जैसे जैन-तीर्थ आज भी प्रतिवर्ष हजारों लाखों यात्रियों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। कलिंग इसका प्रमुख-केन्द्र रहा है। हाथीगुम्फा-अभिलेख के अनुसार कलिंग का शासक खारवेल तो जैन था ही, साथ उड़ीसा का सारा राष्ट्र उस समय जैन ही था। उड़ीसा में खण्डगिरि व उदयगिरि की गुफायें आज भी जैनधर्म के प्रमुख तीर्थ-स्थानों में सम्मिलित हैं। जैनधर्म का आदि और पवित्र स्थान मगध और पश्चिम बंगाल समझा जाता है। बंगाल का 'वर्धमान' जिला वर्द्धमान (महावीर) के नाम पर ही बना है। वहाँ के वीरभूमि, सिंहभूमि व मानभूमि जिलों का नामकरण महावीर स्वामी के 'वर्धमान' नाम के एवं उनके चिह्न के आधार पर ही हुआ है। बंगाल के पश्चिमी हिस्से में जो 'सराक' जाति पाई जाती है, वह जैन-श्रावकों की पूर्व स्मृति कराती है। आज भी बहुत-से जैन-मन्दिरों के ध्वंसावशेष, जैन-मूर्तियाँ, शिलालेख इत्यादि जैन स्मृति-चिह्न बंगाल के भिन्न-भिन्न भागों में पाये जाते हैं।[38] 'बांकुरा' और 'वीरभूमि' जिलों में आज भी जैन-प्रतिमाओं के मिलने के समाचार पाये जाते हैं। मानभूमि में पंचकोट के राजा के अधीनस्थ अनेक गाँवों में विशाल जैन-मूर्तियों की पूजा हिन्दू पुरोहित या ब्राह्मण करते हैं। वे 'भैरव' के नाम से पुकारी जाती हैं और नीच या शूद्र जाति के लोग वहाँ पशु-बलि भी करते हैं। इन सब मूर्तियों के नीचे अब भी जैनलेख मिल जाते हैं।[39] ऐसी मान्यता है कि भगवान् महावीर के 1,000 वर्ष तक यहाँ जैन-समाज फला-फूला; लेकिन मुस्लिम-काल में उसका निरन्तर पतन होता गया। सम्राट् अकबर के शासनकाल में पुन: बंगाल में जैनधर्म का उत्थान होता हुआ दिखाई देता है। अकबर के शासनकाल में 'आमेर' के राजा मानसिंह बंगाल के सूबेदार रहे थे। उस समय अनेक जैन व्यापारी व सरकारी अधिकारी राजस्थान से बंगाल में जाकर बस गये थे। प्रसिद्ध 'जगतसेठ' भी जैन-समुदाय से सम्बन्धित था। यह परिवार भी मानसिंह के साथ ही बंगाल गया था। ऐसे ही एक जैन-पदाधिकारी 'नानूगोधा' का

उल्लेख मिलता है, जो मानसिंह के समय बंगाल के मुख्यमंत्री थे। नानूगोधा ने उस समय बंगाल में 84 मन्दिरों का निर्माण कराया, इससे यह स्पष्ट है कि उस समय भी वहाँ जैन-समाज बड़ी संख्या में रहता था।[40] बंगाल में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के पूर्व ही मारवाड़ी जैन-व्यापारी बंगाल में पर्याप्त संख्या में मौजूद थे। अंग्रेजी-राज्य की स्थापना में सहायक होने के कारण मारवाड़ी-जैन-व्यापारियों का जमावड़ा बंगाल में हुआ।[41] पिछले 200 वर्षों से बंगाल व आसाम के क्षेत्रों में राजस्थान से मारवाड़ी-समाज व्यवसाय के लिये जाता रहा है। अत: 20वीं सदी में बंगाल व आसाम के क्षेत्रों में जैनधर्म के अनुयायी पर्याप्त संख्या में मौजूद हैं।

गुजरात के साथ जैनधर्म का प्राचीन सम्बन्ध है। जैनियों का प्रसिद्ध सिद्धक्षेत्र 'गिरनार' पर्वत 22वें तीर्थंकर नेमिनाथ का निर्वाण-स्थल है। महावीर के पश्चात् आचार्य धरसेन उसी गिरनार पर्वत की गुफा में रहते थे और उन्होंने दक्षिण भारत से भूतबलि एवं पुष्पदन्त नामक मुनि-युगल को आगम-साहित्य का अवशिष्ट ज्ञान-लाभ देने के लिये बुलाया था। मुस्लिम-काल में भी भट्टारक-परम्परा का सबसे अधिक विकास सूरत, भरूच, नवसारी, पोरबन्दर, मेहसाना जैसे नगरों में हुआ था।[42] वर्तमान में कानजी स्वामी ने 'सोनगढ़' (सौराष्ट्र) को अपना कार्यक्षेत्र बनाया और गुजरात में बहुत से दिगम्बर-जैन-मन्दिरों का नव-निर्माण करवाया। जैन-समुदाय की जनसंख्या की दृष्टि से गुजरात का भारत में तीसरा स्थान है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 1971 की जनगणना के अनुसार जैन-जनसंख्या का विवरण निम्नांकित सारणी के अनुसार था[43]—

सारणी

क्र.सं.	राज्य का नाम	कुल जनसंख्या का जैन प्रतिशत
1.	राजस्थान	1.99
2.	गुजरात	1.69
3.	महाराष्ट्र	1.40
4.	दिल्ली	1.24
5.	मध्यप्रदेश	0.83
6.	मैसूर	0.75
7.	दादरा एवं नागर-हवेली	0.41
8.	चंडीगढ़	0.39
9.	हरियाणा	0.31

उपरोक्त सारणी से स्पष्ट है कि सम्पूर्ण भारत में जैन-समाज फैला हुआ है। जैनधर्म के विस्तार की दृष्टि से 'राजस्थान' का नाम अग्रणी माना जा सकता है।

स्वर्गीय रायबहादुर गौरीशंकर हीरानंद ओझा ने अपने 'राजपूताने के इतिहास' के प्रथम भाग में उल्लेख किया है कि अजमेर जिले के 'साश्र्व' नामक गाँव में वीर-संवत् 84 (विक्रमपूर्व 386, ईसापूर्व 443) का एक शिलालेख मिला है, जो अजमेर के म्यूजियम में सुरक्षित है। उस शिलालेख में यह अनुमान लगाया गया है कि अशोक के पहले भी राजस्थान में जैनधर्म का प्रसार हो चुका था। जैनियों की प्रसिद्ध जातियाँ, जैसे — ओसवाल, खण्डेलवाल, बघेरवाल, पल्लीवाल आदि का उदय-स्थान राजपूताना ही माना जाता है। चित्तौड़ के ऐतिहासिक कीर्ति-स्तम्भ जैनों का ही निर्माण कराया हुआ है। उदयपुर के समीप ऋषभदेव का मन्दिर, जिसे 'केसरियाजी' के नाम से भी जाना जाता है, जैनों का प्राचीन पवित्र स्थान है। जिसकी पूजा-वन्दना जैनों के अतिरिक्त अन्य-धर्मानुयायी भी करते हैं।[44] राजस्थान में जैन देशी रियासतों में दीवान, मंत्री, सेनापति आदि भी रहे हैं। विशेषतौर पर मध्यकाल में जैनसमाज की प्रगति राजस्थान में अधिक दिखाई देती है। जैन-परम्परा के अनुसार मध्यकाल में जैनधर्म का उत्तरप्रदेश, बिहार, बंगाल व अन्य सीधे मुस्लिम-शासन के अन्तर्गत जैनधर्म व समाज पतन की ओर अग्रसर हुआ।

मुस्लिमकाल में प्राय: युद्ध हुआ करते थे, और इन युद्धों में हार-जीत के पश्चात् विजेता मुस्लिम-शासकों द्वारा मन्दिरों व मूर्तियों को लूटा व तोड़ा जाता था। यही नहीं, मूर्ति-भंजन के पश्चात् नगरवासियों को भी धर्म-परिवर्तन के लिये मजबूर किया जाता था, एवं सम्पत्ति की लूट-खसोट आम बात थी। अतिशयक्षेत्र केशवरायपाटन तथा ग्वालियर किले में विराजमान मूर्तियाँ इसके साक्षात् प्रमाण हैं। अजमेर का ढाई दिन का झौंपड़ा, वहाँ की प्रसिद्ध ख्वाज़ा साहब की दरगाह, पहले जैन-मन्दिर थे — ऐसी इतिहासकारों की भी मान्यता है। मुस्लिमकाल में कुछ अपवादों को छोड़कर शेष काल में मुस्लिम-शासन जैन-संस्कृति के लिये भी घातक साबित हुआ। जो कुछ बचा रहा अथवा निर्मित हुआ, वह या तो यहाँ के राजपूत-शासकों के रियासतों में अथवा युद्धों में फँसे रहने से उधर ध्यान नहीं जाने के कारण भी बहुत से मन्दिर बचे रहे।[45] राजस्थान में मध्यकाल में जैनधर्म अत्यधिक सुरक्षित रहा। मध्यकाल के राजस्थान के अधिकांश दुर्गों में आज भी जैन-मन्दिर विद्यमान है। वैसे तो जैनधर्म के अनुयायी सम्पूर्ण भारत में हैं, किन्तु राजस्थान को प्रथम स्थान प्राप्त है।

राजस्थान के बाद मध्यप्रदेश (मध्यप्रान्त) जैन-मतानुयायियों की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। मध्यप्रदेश के बैतूल जिले में 'मुक्तागिरी', सागर जिले में दमोह के पास 'कुण्डलपुर' और निमाड़ जिले में 'सिद्धवरकूट' प्रसिद्ध जैन तीर्थ-स्थान है। 'भेलसा' (विदिशा) के समीप का बीसनगर (उदयगिरि) जैनियों का बहुत प्राचीन स्थान है। शीतलनाथ तीर्थंकर की जन्मभूमि होने से यह अतिशयक्षेत्र

माना जाता है। जैन-ग्रन्थों में इसका नाम 'भद्दलपुर' पाया जाता है। बुन्देलखण्ड में भी अनेक जैन-तीर्थ हैं, जिनमें सोनागिर, देवगढ़, नयनागिरि और द्रोणगिरि का नाम उल्लेखनीय है। खजुराहो के प्रसिद्ध जैन-मन्दिर आज भी दर्शनार्थियों को आकर्षित करते हैं। सत्रहवीं सदी में वहाँ जैनधर्म का ह्रास होना आरम्भ हुआ। जहाँ किसी समय लाखों जैनी थे, वहाँ अब जैनधर्म का पता जैन-मन्दिरों के खण्डहरों और टूटी-फूटी जैन-मूर्तियों से चलता है।[46] उत्तर प्रदेश में जैनधर्म का केन्द्र होने की दृष्टि से 'मथुरा' का नाम उल्लेखनीय है। मथुरा के कंकाली टीले से जो लेख प्राप्त हुये हैं, वे ईसापूर्व की दूसरी सदी से लेकर पाँचवीं ईस्वी शताब्दी तक के हैं, जिससे इस स्थान की जैनधर्म के केन्द्र के रूप में प्राचीनता का आभास होता है। इन लेखों से पता चलता है कि सुदीर्घकाल तक मथुरा नगरी जैनधर्म का प्रधान-केन्द्र थी। जैन-तीर्थंकरों का सम्बन्ध अयोध्या और बनारस से भी रहा है। वर्तमान में भी जैनधर्म के अनुयायी उत्तर प्रदेश में अच्छी संख्या में, विशेषकर पश्चिमी-उत्तरप्रदेश के अधिकांश जिलों में जैन-मतावलम्बियों की बहुतायत है, जबकि पूर्वी-उत्तरप्रदेश में 80 प्रतिशत जैन राजस्थान-मूल के हैं, जो व्यापार-वाणिज्य के लिये वहाँ बसे हुये हैं।

हरियाणा, पंजाब एवं कश्मीर — इन तीनों ही प्रदेशों में कभी जैन-समाज अच्छी संख्या में रहता था। सन् 1992-93 में 'लरकाना' स्थित 'मोअन-जो-दड़ो' के टीले की खुदाई में प्राप्त मिट्टी की मुद्राओं पर एक तरफ बड़े आकार में भगवान् ऋषभदेव की कायोत्सर्ग-मुद्रा में मूर्ति बनी हुई है। दूसरी तरफ बैल का चिह्न बना हुआ है। 'हड़प्पा' की खुदाई में कुछ खण्डित मूर्तियां भी प्राप्त हुई हैं। इन दोनों पुरातात्त्विक महत्त्व के स्थलों से प्राप्त अवशेषों से इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि हड़प्पा-कालीन जैन-तीर्थंकरों की मूर्तियाँ जैनधर्म में वर्णित कायोत्सर्ग-मुद्रा की ही प्रतीत होती हैं। पंजाब-प्रदेश में पहले हरियाणा-प्रदेश भी शामिल था। गांधार, जम्मू, पुंज, सियालकोट, जालंधर, कांगड़ा, सहारनपुर से अम्बाला, पानीपात, सोनीपत, करनाल, हिसार एवं कश्मीर का भाग — ये सभी पंजाब-प्रदेश में गिने जाते थे। पंजाब में जैनों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने अपने द्वितीय पुत्र बाहुबलि को 'गंधार' का राज्य दिया था, जिसकी राजधानी तक्षशिला थी। पंजाब-प्रदेश में 11वीं शताब्दी तक जैनधर्म के अनुयायियों की संख्या पर्याप्त थी। ऐसा उल्लेख मिलता है कि सिकन्दर को स्वदेश लौटते समय अनेक नग्न साधु मिले थे। किन्तु 11वीं सदी से 15वीं सदी के दौरान महमूद गजनवी से लेकर सिकन्दर लोदी तक अनेक मुसलमान-आक्रमणकारियों ने इस क्षेत्र की जैन-संस्कृति को भारी क्षति पहुँचायी। सन् 1947 में पाकिस्तान बनने से पूर्व रावलपिण्डी-छावनी, सियालकोट-छावनी, लाहौर-छावनी, लाहौर-नगर, फिरोजपुर-छावनी, अम्बाला-छावनी, मुल्तान, डेरा गाजी-खान आदि नगरों में जैनों के अच्छी संख्या में घर थे तथा मन्दिर भी थे। इन जैनों में मुख्यरूप से अग्रवाल, खण्डेलवाल व ओसवाल जातियों की प्रमुखता थी।

पंजाब-प्रदेश में भट्टारक, जिनचन्द्र, प्रभाचन्द्र एवं शुभचन्द्र ने विहार किया था और अहिंसा-धर्म का प्रचार किया था। संवत् 1723 में लाहौर में खड्गसेन कवि ने 'त्रिलोकदर्पण कथा' की रचना की थी। लामपुर (लाहौर) में जिन-मन्दिर था, वे वहीं बैठकर धार्मिक चर्चा किया करते थे।[47]

सन् 1981 की जनगणना के अनुसार इन प्रदेशों में जैनों की संख्या निम्नानुसार थी[48] —

	राज्य का नाम	जनसंख्या
1.	पंजाब	27049
2.	हरियाणा	35482
3.	चंडीगढ़	1889
4.	जम्मू-कश्मीर	1576

दक्षिण-भारत में भी जैन-धर्मानुयायी पर्याप्त संख्या में पाये जाते हैं। ऐसा वृत्तान्त मिलता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में उत्तर-भारत में 12 वर्ष का भयंकर दुर्भिक्ष पड़ने पर जैनाचार्य भद्रबाहु ने अपने विशाल जैन-संघ के साथ दक्षिण-भारत की और प्रयाण किया था। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि दक्षिण-भारत में उस समय भी जैनधर्म का अच्छा प्रसार था और भद्रबाहु को पूर्ण विश्वास था कि वहाँ उनके संघ को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होगा। यदि ऐसा न होता, तो वे इतने बड़े संघ को दक्षिण-भारत की ओर ले जाने का साहस नहीं करते।[49] साथ ही यह बात भी उल्लेखनीय है कि जैन-संघ की इस यात्रा ने दक्षिण-भारत में जैनधर्म को मजबूती प्रदान की थी।

प्रो. रामस्वामी आयंगर लिखते हैं "सुशिक्षित जैन-साधु छोटे-छोटे समूह बनाकर समस्त दक्षिण-भारत में फैल गये और दक्षिण की भाषाओं में अपने धार्मिक साहित्य का निर्माण करके उसके द्वारा अपने धार्मिक विचारों को धीरे-धीरे, किन्तु स्थायीरूप में जनता में फैलाने लगे। किन्तु यह कल्पना करना कि 'ये साधु साधारणतया लौकिक-कार्यों में उदासीन रहते थे', गलत है। एक सीमा तक यह सत्य है कि ये संसार में संलग्न नहीं होते थे। किन्तु मेगस्थनीज के विवरण से हम जानते हैं कि ईसा-पूर्व चतुर्थ शताब्दी तक राजा लोग अपने दूतों द्वारा वनवासी जैन-श्रमणों से राजकीय मामलों में स्वतंत्रतापूर्वक सलाह-मशवरा करते थे। जैन-गुरुओं ने राजवंशों को आशीर्वाद एवं मार्गदर्शन प्रदान किया था, और वे राज्य शताब्दियों तक जैनधर्म के प्रति सहिष्णु बने रहे। किन्त जैनधर्म-ग्रन्थों में रक्तपात के निषेध पर जो अत्यधिक जोर दिया गया, उसके कारण समस्त जैन-जाति राजनीतिक उन्नति नहीं कर सकी।"[50] जैनधर्म के विस्तार की दृष्टि से दक्षिण-भारत को दो भागों में बाँटा जा सकता है — तमिलनाडु तथा कर्नाटक। तमिलनाडु में जैनधर्म प्राचीनकाल से

विद्यमान था। वहाँ के प्राचीन 'चोल' और 'पाण्ड्य' नरेशों ने जैनधर्म को भरपूर आश्रय दिया। पाण्ड्यों की राजधानी 'मदुरा' दक्षिण-भारत में जैनों का प्रमुख तीर्थ-स्थान बन गयी थी। दक्षिण-भारत के एक जैनाचार्य कुन्दकुन्द ने सम्पूर्ण भारत में जैनधर्म व दर्शन के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। चीनी यात्री ह्वेनसांग सातवीं शताब्दी में 'कांचीपुरम्' आया था। उसने यहाँ जिन धर्मों को देखा, उनमें जैनों का नाम भी मिलता है।

कर्नाटक व तेलुगू में भी जैनधर्म का भारी प्रचार था। इसप्रकार कर्नाटक, तमिलनाडु, आन्ध्रप्रदेश व उड़ीसा तक जैनधर्म का बड़ा प्रभाव था; किन्तु दक्षिण-भारत में जैनधर्म के इतिहास में 'कर्नाटक' को विशेष-स्थान प्राप्त है। यह स्थान प्राचीनकाल से ही दिगम्बर-जैन-सम्प्रदाय का प्रमुख स्थान रहा है। कर्नाटक में भगवान् बाहुबलि की विशाल खड्गासन प्रतिमा इसका जीवन्त प्रमाण है। कर्नाटक के बेलगाँव जिले में दिगम्बर-जैनों की जनसंख्या वर्ष 1971 में 110135 दर्ज की गई।[51] यहाँ एक बात और उल्लेखनीय है कि जहाँ उत्तरी भारत में अधिकांश जैन-मतानुयायी शहरों में निवास करते हैं, वहीं कर्नाटक-प्रान्त में अधिसंख्य जैन ग्रामीण-क्षेत्रों में निवास करते हैं। वर्ष 1971 में कर्नाटक के बेलगाँव जिले के 907002 जैन-मतानुयायी ग्रामीण-क्षेत्र के थे।[52] दक्षिण-भारत में राजस्थान, गुजरात व महाराष्ट्र में व्यवसाय-हेतु बसे हुये जैन-मतानुयायियों की संख्या भी पर्याप्त है।

जैनधर्म के विस्तार की दृष्टि से महाराष्ट्र का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। कुछ विद्वान् कर्नाटक का पड़ोसी होने के कारण महाराष्ट्र को दक्षिण-भारत में सम्मिलित कर लेते हैं। उत्तरी-महाराष्ट्र में मध्यप्रदेश, गुजरात, राजस्थान के जैन-समुदायों की संख्या अधिक है, किन्तु औरंगाबाद आदि दक्षिणी-महाराष्ट्र में कर्नाटक-मूल के जैन अधिक पाये जाते हैं। सन् 1981 ई. की जनगणना के अनुसार महाराष्ट्र में जैनों की संख्या इसप्रकार दर्शायी गयी है[53]—

बम्बई महानगर	341980
कोल्हापुर	121722
सांगली	67314
पुणे	65907
ठाणे	45509
अहमदनगर	33565
नासिक	28792
जलगाँव	24589
सोलापुर	24141
औरंगाबाद	23328

एक जैन-लेखक की मान्यता है कि जनसंख्या के सरकारी आँकड़े वास्तविकता से बहुत दूर हैं।[54] यह मान्यता कुछ सीमा तक सत्य भी प्रतीत होती है; क्योंकि अधिकांश जैन-मतानुयायी अपना उपनाम गोत्र, जाति, स्थान इत्यादि के नाम पर लगाते हैं। जिससे उनके धर्म का सही ज्ञान नहीं हो पाता है। जबकि जनगणना वाले 'जैन' उपनाम लिखनेवालों को ही जैनधर्म का अनुयायी मानते हैं, अन्य को नहीं। अनेक ऐसी जातियाँ है, जो हिन्दू व जैन दोनों मतों को माननेवाली हैं। उन्हें जैनों के स्थान पर हिन्दूधर्म में ही सम्मिलित कर लिया जाता है।

जैनधर्म के विस्तार-विषयक विवरण से यह भली-भाँति स्पष्ट होता है कि प्राचीनकाल से लेकर आज तक जैनधर्म भारत में चहुँदिश फल-फूल रहा है। वैसे तो समय के साथ बदलती परिस्थितियों में जैन-मतानुयायियों में सामाजिक व धार्मिक दर्शन के क्षेत्र में अनेक परिवर्तन आये है; किन्तु 20वीं सदी सबसे अधिक चुनौती-भरी सदी रही है। इस संवेदनशील समय में दिगम्बर-जैन-समाज अपनी मान्यताओं को दृढ़ बनाने हेतु संघर्षरत रहा है। समय के साथ इन्होंने परिवर्तन भी किये हैं। दिगम्बर-जैन-समाज के विभिन्न संगठन अपने धर्म को सुसंगठित करने का प्रयास कर रहे हैं। इन संगठनों के माध्यम से दिगम्बर-जैन-समाज में व्याप्त बुराईयों को समाप्त कर समाज-सुधार के प्रयास किये जा रहे हैं। जैनधर्म की मूल-शिक्षाओं के प्रचार-प्रसार-हेतु साहित्य, समाचार-पत्र व पत्रिकाओं का प्रकाशन किया जा रहा है। पुराने तीर्थ-क्षेत्रों, अतिशयक्षेत्रों, सिद्ध-क्षेत्रों व मन्दिरों का पुनरुद्धार इन संगठनों के माध्यम से किया जा रहा है। सम्पूर्ण भारत का दिगम्बर जैन-समाज सबसे अधिक संगठित दिखाई देता है। अनेक जातियों में विभाजित होने के उपरान्त भी दिगम्बर-जैन-समाज धर्म व दर्शन के क्षेत्र में एकताबद्ध दिखाई देता है।

❖❖

सन्दर्भ-विवरणिका

1. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैनधर्म, भारतीय दिगम्बर जैनसंघ मथुरा, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ 1-2.
2. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैन-साहित्य का इतिहास, श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ 1-2.
3. डॉ. मानमल जैनकोटा, जैन-समाज का धर्म व दर्शन के क्षेत्र में योगदान (अप्रकाशित शोध-लेख).
4. आचार्य जिनसेन, हरिवंश पुराण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, पृष्ठ 8.
5. वही।

6. डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, खण्डेलवाल-जैन-समाज का वृहद् इतिहास, पृष्ठ 2.
7. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैनधर्म, पृष्ठ 13.
8. डॉ. कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, खण्डेलवाल-जैन-समाज का वृहद् इतिहास, पृष्ठ 3.
9. आचार्य जिनसेन, आदिपुराण, प्रथम भाग, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन.
10. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैनधर्म, पृष्ठ 14-15.
11. आचार्य जिनसेन, हरिवंशपुराण, पृष्ठ 1.
12. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैन-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 67.
13. वही, पृष्ठ 67-84.
14. डॉ. कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, खण्डेलवाल-जैन-समाज का वृहद् इतिहास, पृष्ठ 3.
15. आचार्य गुणभद्र, उत्तरपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, पाँचवाँ संस्करण, 1986.
16. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैनधर्म, पृष्ठ 16-17.
17. डॉ. संजीव भानावत, सांस्कृतिक चेतना और जैन-पत्रकारिता, सिद्धश्री प्रकाशन, जयपुर, पृष्ठ 9.
18. आचार्य गुणभद्र, उत्तरपुराण, पृष्ठ 429.
19. वही.
20. वही, पृष्ठ 429-443.
21. वही, पृष्ठ 429, 'उत्तर-पुराण' में लिखा है कि "हे देव! अन्य तीर्थंकरों का माहात्म्य प्रकट नहीं है, परन्तु आपको माहात्म्य-अतिशय प्रकट है; इसीलिये आपकी कथा अच्छी तरह कहने के योग्य है। आचार्य कहते हैं कि हे प्रभु! चूंकि आपकी धर्मयुक्त कथा कुमार्ग का निवारण और सन्मार्ग का प्रसारण करनेवाली है। अत: मोक्षगामी भव्य-जीवों के लिये उसे अवश्य कहूँगा।'
22. बिजोलिया (राज.) में प्राचीन पार्श्वनाथ का मन्दिर आज भी विद्यमान है। इसी मन्दिर में संवत् 1226 का एक विस्तृत शिलालेख उपलब्ध है, जिसमें उनके कैवल्य-प्राप्ति की कथा का पूर्ण विवरण है।
23. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैनधर्म, पृष्ठ 18.
24. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैन-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 106.
25. विलास ए. सांगवे, जैन कम्यूनिटी : ए सोशल सर्वे, पापुलर प्रकाशन, बाम्बे, सैकण्ड रिवाइज्ड एडीशन, 1980, पृष्ठ 47 एवं 359.
26. वही, पृष्ठ 359-60.
27. ए.सी. सेन, स्कूल्स एण्ड सेक्टस इन जैन-लिटरेचर, कलकत्ता, 1931, पृष्ठ 43.
28. श्वेताम्बर-मान्यता के अनुसार महावीर की माता त्रिशला चेटक की बहिन थीं।
29. वही, पृष्ठ 143.
30. वही, पृष्ठ 125-35.
31. डॉ. संजीव भानावत, सांस्कृतिक-चेतना और पत्रकारिता, पृष्ठ 10.
32. यू.डी बारोडिया, हिस्ट्री एण्ड लिटरेचर ऑफ जैनिज्म, बाम्बे, 1909, पृष्ठ 40; तथा आर. आर. दिवाकर, बिहार थ्रू दी एजेज, कलकत्ता, 1959, पृष्ठ 127.
33. जे.सी. जैन, लाइफ इन एशीयेंट इण्डिया एज डेपिक्टेड इन जैन केनन, बाम्बे, 1947, पृष्ठ 25.
34. "चोयति-संग-संतिकं तुरियं उपादयति" —हाथीगुम्फा-अभिलेख.
35. एच. जैकोबी, इन्साइकलोपीडिया ऑफ रीलिजन एण्ड ऐथिक्स, जिल्द सात, अहमदाबाद,

1950, पृष्ठ 474.

36. डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, जैन-समाज का वृहद् इतिहास, प्रथम खण्ड, प्रथम संस्करण, जैन इतिहास प्रकाशन संस्थान, जयपुर, 1992, पृष्ठ 4.
37. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैनधर्म, पृष्ठ 26.
38. वही, पृष्ठ 39; एवं डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, जैन-समाज का वृहद् इतिहास, प्रथमखण्ड, पृष्ठ 7.
39. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैनधर्म, पृष्ठ 39-40.
40. डॉ. कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, जैन-समाज का वृहद् इतिहास, प्रथम खण्ड, पृष्ठ 6.
41. डॉ. बृजकिशोर शर्मा, पर्सपेक्टिपस ऑन मॉर्डन इकोनॉमिक एण्ड सोशल हिस्ट्री, पॉइन्टर पब्लिशर्स, जयपुर, 1999, पृष्ठ 220-229.
42. डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, राजस्थान के जैन सन्त : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, जयपुर, 1990, पृष्ठ 6.
43. 1971 की जनगणना रिपोर्ट से संकलित.
44. इस मन्दिर के आस-पास के आदिवासी-भील-जनसंख्या बहुतायत से रहती है। वे इसकी पूजा 'कालाजी बापजी' के नाम से करते हैं। मूर्ति काले रंग के पत्थर की है। विस्तृत जानकारी हेतु देखें — डॉ. बृजकिशोर शर्मा, पर्सपेक्टिअस ऑन मॉर्डन इकोनॉमिक एण्ड सोशल हिस्ट्री, पृष्ठ 59.
45. डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, जैन-समाज का वृहद् इतिहास, खण्ड-एक, पृष्ठ 5-6.
46. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैनधर्म, पृष्ठ 43-44.
47. डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, जैन समाज का वृहद् इतिहास, खण्ड-एक, पृष्ठ 9.
48. वही.
49. इस संघ में 12,000 जैन-साधु सम्मिलित थे।
50. आर.एस. आयंगर स्टडीज इन साउथ इण्डियन जैनिज्म, मद्रास, 1922, पृष्ठ 105-106.
51. विलास ए. सांगवे, पूर्वाक्त, पृष्ठ 14.
52. वही, पृष्ठ 15.
53. भारत की जनगणना रिपोर्ट 1981 से संगणित.
54. डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, जैनधर्म का वृहद् इतिहास, पृष्ठ 8.

❖❖

खण्ड-द्वितीय

महावीरोत्तर-युग और जैनाचार्य-परम्परा

तीर्थंकरों, केवलियों एवं श्रुतकेवलियों की परम्परा के बाद श्रुत के अंशधारक आचार्यों ने तीर्थंकरों के द्वारा उपदिष्ट तत्त्वज्ञान को सुरक्षित एवं संरक्षित किया। इस परम्परा का श्रुतलेखन के रूप में संरक्षण परवर्ती आचार्य-परम्परा ने अत्यन्त श्रम एवं निष्ठापूर्वक किया। इससे स्पष्ट है कि भगवान् महावीर के द्वारा उपदिष्ट श्रुत की परम्परा ही इनके द्वारा आगे प्रवर्तित हुई। इस विषय में 'तिलोयपण्णत्ती' का यह कथन मननीय है—

महावीर-भासियत्थो तस्सिं खेत्तम्मि तत्थ काले य।
खायोवसयम-विवड्ढिद-चउरमल-मईहि पुण्णेण।।
लोयालोयाण तहा जीवाजीवाण विविह-विसयेसु।
संदेह-णासणत्थं उवगद-सिरिवीर-चलणमूलेण।।
विमले गोदमगोत्ते आदेगणं इंदभूदि-णामेण।
चउवेद-पारगेणं सिस्सेण विसुद्धसीलेण।।
भावसुद-पज्जयेहिं परिणद-मदिणा अ बारसंगाणं।
चोंद्दसपुव्वाण तहा ऍक्कमुहुत्तेण विचरणा विहिदो।।
इय मूलतंतकत्तो सिरिवीरो इंदभूदि-विप्प-वरो।
उवतंते कत्तारो अणुतंते सेस-आइरिया।
णिण्णट्ठ-रागदोसा महेसिणो दिव्वसुत्तकत्तारो।
किं कारणं पभणिदा कहिदुं सुत्तस्स पामण्णं।[1]

अर्थात् तीर्थंकर महावीर अर्थकर्त्ता हैं। इनके द्वारा उपदिष्ट पदार्थ-स्वरूप उसी क्षेत्र और उसी काल में ज्ञानावरण के विशेष क्षयोपशम से वृद्धि को प्राप्त निर्मल चार बुद्धियों से परिपूर्ण, लोक-अलोक और जीवाजीवादि विविध विषयों में उत्पन्न हुये सन्देह को नष्ट करने वाले, शरणागत, निर्मल 'गौतम' गोत्र में उत्पन्न, प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग, तथा इसीप्रकार चार वेदों अथवा ऋक्, यजु, साम और अथर्व — इन चारों वेदों में पारंगत, विशुद्ध शील के धारक, भावश्रुतरूप पर्याय से बुद्धि की परिपक्वता को प्राप्त 'इन्द्रभूति' नामक शिष्य अर्थात् 'गौतम गणधर' ने एक मुहूर्त्त में बारह अंग और चौदह पूर्वों की रचना की। इसप्रकार तीर्थंकर महावीर 'मूलतंत्रकर्त्ता', इन्द्रभूति गणधर 'उपतंत्रकर्त्ता' एवं शेष आचार्य

'अनुतंत्रकर्त्ता' हैं। स्पष्ट है कि वाङ्मय को मूर्त्तरूप देने का सर्वप्रथम कार्य इन्द्रभूति गणधर ने ही किया है।

जिसप्रकार सूर्य का आलोक प्राप्त कर मनुष्य अपने नेत्रों से दूरवर्त्ती पदार्थ का भी अवलोकन कर लेता है, उसीप्रकार पूर्वाचार्यों के द्वारा निबद्ध ज्ञानसूर्य का आलोक प्राप्त कर सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थों का बोध प्राप्त होता है। 'हरिवंशपुराण' में भी आगमतंत्र के मूलकर्त्ता तीर्थंकर वर्धमान ही माने गये हैं। उत्तरतंत्र के रचयिता गौतम गणधर हैं और उत्तरोत्तरतंत्र के कर्त्ता अनेक आचार्य बताये गये हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि ये सभी आचार्य 'सर्वज्ञ की वाणी के अनुवादक' ही हैं। ये अपनी ओर से ऐसे किसी नये तथ्य का प्रतिपादन नहीं करते, जो तीर्थंकर को दिव्यध्वनि बहिर्भूत हो। केवल तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित तथ्यों को नये रूप और नयी शैली में अभिव्यक्त करते हैं। जैसाकि कहा गया है —

तथाहि मूलतन्त्रस्य कर्ता तीर्थंकरः स्वयम्
ततोऽप्युत्तरतन्त्रस्य गौतमाख्यो गणाग्रणीः।।
उत्तरोत्तरतन्त्रस्य कर्तारो बहवः क्रमात्।
प्रमाणं तेऽपि नः सर्वे सर्वज्ञोक्त्यनुवादिनः।।[2]

अतएव स्पष्ट है कि श्रुत का मूलकर्त्ता तीर्थंकरों को ही माना गया है। उत्तरतंत्रकर्त्ता गणधर और उत्तरोत्तरतन्त्रकर्त्ता अन्य आचार्य हैं।

इस श्रुतज्ञान का संरक्षण एवं लिपिबद्धीकरण लोकहित में इसलिये आवश्यक था, क्योंकि यह श्रुतज्ञान अमृत के समान हितकारी है, विषयवेदना से संतप्त प्राणी के लिये परमौषधि है, जैसा कि आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुह-विरेयणं अमिदभूदं।
जर-मरण-वाहिहरणं खयकरणं सव्व-दुक्खाणं।।[3]

प्राणिमात्र के लिये परमहितकारी इस 'श्रुत' का नामान्तर 'आगम' भी है। इसके अन्य नामों में 'जिनवाणी' एवं 'सरस्वती' आदि नाम भी आचार्यों ने प्रयुक्त किये हैं। आगम का स्वरूप लिखते हुये आचार्य सोमदेव ने कहा है कि जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष — इन चार पुरुषार्थों का अवलम्बन लेकर हेय और उपादेय रूप से त्रिकालवर्ती पदार्थों का ज्ञान कराता है, उसे 'आगम' कहते हैं। तत्त्वज्ञाताओं का अभिमत है कि आगम में अविरोधेरूप से द्रव्यों, तत्त्वों और गुण-पर्यायों का कथन रहता है। लिखा है—

हेयोपादेयरूपेण चतुर्वर्ग-समाश्रयात्।
कलित्रय-गतानर्थान्गमयान्नागमः स्मृतः।।[4]

यह आगमज्ञान प्रत्यक्षज्ञान के समान ही प्रमाणभूत है। जिसप्रकार प्रत्यक्षज्ञान

अविसंवादी होने के कारण प्रमाणभूत है, उसीप्रकार आगमज्ञान भी अपने विषय में अविसंवादी होने के कारण प्रमाण है। स्वामी समन्तभद्र ने केवलज्ञान और स्याद्वादमय श्रुतज्ञान को समस्त पदार्थों का समानरूप से प्रकाशक माना है। दोनों में केवल प्रत्यक्ष और परोक्ष का ही अन्तर है—

स्याद्वाद-केवलज्ञाने सर्वतत्त्व-प्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्॥[5]

इसी तथ्य की पुष्टि सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र के कथन से भी होती है—

सुदकेवलं च णाणं दोण्णवि सरिसाणि होंति बोहादो।
सुदणाणं तु परोक्खं पच्चक्खं केवलं णाणं॥[6]

समस्त द्रव्य और पर्यायों को जाने की अपेक्षा श्रुतज्ञान और केवलज्ञान — दोनों ही समान हैं। अन्तर इतना है कि केवलज्ञान द्रव्य और तत्त्वों को प्रत्यक्षरूप से जानता है और श्रुतज्ञान परोक्षरूप से। विस्तार और गहनता की दृष्टि से दोनों का विषयक्षेत्र तुल्य ही है।

'श्रुत' या 'आगम' के भेद

'श्रुत' या 'आगम' के दो भेद हैं — 1. द्रव्यश्रुत, और 2. भावश्रुत। आप्त के उपदेशरूप द्वादशांगवाणी को 'द्रव्यश्रुत' और उससे होने वाले ज्ञान को 'भावश्रुत' कहते हैं। दूसरे शब्दों में इसप्रकार कहा जा सकता है कि शब्दरुपश्रुत को 'द्रव्यश्रुत' और उससे होने वाले ज्ञानरुपश्रुत को 'भावश्रुत' कहा गया है। संक्षेप में ग्रन्थरूप श्रुत को 'द्रव्यश्रुत' और अर्थरूप श्रुत को 'भावश्रुत' कहा गया है। ग्रन्थरूप द्रव्यश्रुत के मूलतः दो भेद हैं — 1. अंगबाह्य, और अंगप्रविष्ट। इनमें से 'अंगप्रविष्ट' के बारह भेद हैं — 1. आचारांग, 2. सूत्रकृतांग, 3. स्थानांग, 4. समवायांग, 5. व्याख्याप्रज्ञप्ति, 6. ज्ञातृधर्मकथा, 7. उपासकाध्ययनांग, 9. अन्तःकृद्दशांग, 9. अनुत्तरोपपादिक, 10. प्रश्नव्याकरणांग, 11. विपाकसूत्रांग, और 12. दृष्टिवादांग।

इस श्रुत या आगमज्ञान को पुरुष के शरीरांग की उपमा दी गयी है। जैसे पुरुष के शरीर में दो पैर, दो जांघ, दो ऊरु, दो हाथ, एक पीठ, एक उदर, एक छाती और एक मस्तक — ये बारह अंग होते हैं, उसी प्रकार श्रुतज्ञानरूपी पुरुष के भी बारह अंग हैं। तीर्थंकर अपने दिव्यज्ञान द्वारा पदार्थों का साक्षात्कार कर बीजपदों के रूप में उपदेश देते हैं, और गणधर उन बीजपदों तथा उनके अर्थ का अवधारण कर ग्रन्थरूप में व्याख्यान करते हैं। श्रुतज्ञान की परम्परा अनादि-अनवच्छिन्न रूप से चली आ रही है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के काल में श्रुतज्ञान की जो परम्परा आरम्भ हुई थी, वह पार्श्वनाथ और महावीर तीर्थंकर के काल में भी गतिशील रही है।

इस द्वादशांगीश्रुत के परिमाण एवं विषय के बारे में डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ने निम्नानुसार परिचय दिया है[7]—

'आचारांग' में 19,000 पदों द्वारा मुनियों के आचार का वर्णन रहता है। अर्थात् मुनि को कैसे चलना चाहिये, कैसे खड़ा होना चाहिये, कैसे बैठना चाहिये, कैसे सोना चाहिये, कैसे भोजन करना चाहिये और कैसे वार्तालाप करना चाहिये इत्यादि विषयों का कथन किया गया है।

'सूत्रकृतांग' में 36,000 पदों द्वारा ज्ञानविनय, प्रज्ञापना, कल्प्य-अकल्प्य, छेदोपस्थापना आदि व्यवहारधर्म की क्रियाओं का वर्णन है, तथा इस अंग में स्वसिद्धान्त और परसिद्धान्त कथन भी समाविष्ट हैं।

'स्थानांग' में 42,000 पद होते हैं। इसमें एक से लेकर उत्तरोत्तर एक-एक अधिक स्थानों का निरूपण किया जाता है।

'समवायांग' में 1,64,000 पद होते हैं। इसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप समवाय का चित्रण किया गया है। इसप्रकार समानता की अपेक्षा जीवादि पदार्थों के समवाय का वर्णन समवायांग में उपलब्ध होता है।

'व्याख्याप्रज्ञप्ति' अंग में 2,28,000 पद होते है।। इसमें 60,000 प्रश्नों द्वारा जीव, अजीव आदि पदार्थों का विवेचन किया जाता है।

'ज्ञातृधर्मकथा' नामक अंग में 5,56,000 पद होते हैं। इसमें तीर्थंकरों की धर्मदेशना, विविध प्रश्नोत्तर एवं पुण्यपुरुषों के आख्यान वर्णित हैं।

'उपासकाध्ययन' अंग में 11,70,000 पद हैं और इसमें श्रावकाचार का निरूपण किया गया है।

'अन्तःकृद्दशांग' नामक अंग में 23,28,000 पद हैं। इसमें प्रत्येक तीर्थंकर के तीर्थकाल में अनेक प्रकार के दारुण उपसर्गों को सहन कर निर्वाण प्राप्त करनेवाले दस-दस अन्तःकृत-केवलियों का वर्णन है।

'अनुत्तरौपपादिकदशा' नामक अंग में 92,44,000 पद हैं और एक-एक तीर्थंकर के तीर्थकाल में नानाप्रकार के दारुण-उपसर्गों को सहन कर पाँच अनुत्तर-विमानों में जन्म-ग्रहण करने वाले दस-दस मुनियों का चरित्र अंकित है।

'प्रश्नव्याकरण' अंग में आक्षेप-प्रत्याक्षेपपूर्वक प्रश्नों का समाधान अंकित है। प्रकारान्तर से कहें तो आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदिनी और निर्वेदिनी — इन चार कथाओं का विस्तृत वर्णन है।

'विपाकसूत्र' अंग में 1,84,00,000 पद हैं। इसमें पुण्य और पापरूप कर्मों का फल भोगनेवाले व्यक्तियों का चरित्र निबद्ध है।

'उत्पादपूर्व' में जीव, पुद्‌गल, काल आदि द्रव्यों के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का वर्णन है। 'अग्रायणीयपूर्व' में सात सौ सुनय और दुर्नय; छः द्रव्य, नौ पदार्थ, एवं

पंचास्तिकायों का वर्णन है। 'वीर्यानुप्रवाह' में आत्मवीर्य, परवीर्य, उभयवीर्य, क्षेत्रवीर्य, कालवीर्य, भववीर्य और तपवीर्य का वर्णन आया है। 'अस्ति-नास्ति-प्रवादपूर्व' में स्वरूपचतुष्टय की अपेक्षा समस्त द्रव्यों के अस्तित्व का और पररूपचतुष्टय की अपेक्षा उनके नास्तित्व का वर्णन है। 'ज्ञानप्रवादपूर्व' में पाँच सम्यग्ज्ञान और तीन कुज्ञान — इन आठ ज्ञानों का विस्तारपूर्वक वर्णन है। 'सत्यप्रवादपूर्व' में दशप्रकार के सत्यवचन, अनेक प्रकार के असत्यवचन और बारह प्रकार की भाषाओं का प्रतिपादन किया गया है। विषयवर्णन की दृष्टि से आधुनिक मनोविज्ञान 'ज्ञानप्रवाद' और 'सत्यप्रवाद' के अन्तर्गत हैं। 'आत्मप्रवादपूर्व' में निश्चय और व्यवहार — इन दोनों नयों की अपेक्षा जीव के कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व, सूक्ष्मत्व, अमूर्त्तत्व आदि का विवेचन किया है। 'कर्मप्रवादपूर्व' में आठों कर्मों के स्वरूप, कारण एवं भेद-प्रभेदों का चित्रण किया है। 'प्रत्याख्यानपूर्व' में सावद्यवस्तु का त्याग, उपवास-विधि, पंच-समिति, तीन गुप्ति आदि का वर्णन है। 'विद्यानुवादपूर्व' में सात सौ अल्पविद्याओं का और पाँच सौ महाविद्याओं का विवेचन किया गया है, जिनमें आठ महानिमित्तों का विषय भी निबद्ध है। वर्तमान सामुद्रिक-शास्त्र, प्रश्न, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, तारागण आदि के चारक्षेत्र, उपपादस्थान, गति, विपरीतगति और उनके फलों का निरूपण है। ज्योतिषशास्त्र के गणित और फलित दोनों ही विभाग इसी पूर्व के अन्तर्गत हैं। 'प्राणावायपूर्व' में अष्टांग आयुर्वेद, भूतिकर्म, विषविद्या एवं विभिन्न प्रकार के भौतिक विषयों का परिज्ञान सम्मिलित है। रसायनशास्त्र और भौतिकशास्त्र सम्बन्धी अनेक सिद्धान्त भी इस पूर्व में समाविष्ट हैं। 'क्रियाविशालपूर्व' में बहत्तर छन्दशास्त्रों का वर्णन है। 'लोकबिन्दुसार' नामक पूर्व में आठ प्रकार के व्यवहार, चार प्रकार के बीज, मोक्ष प्राप्त करानेवाली क्रियायें एवं मोक्ष के सुख का वर्णन है।

'अग्रायणीय' में पूर्वान्त, अपरान्त आदि चौदह प्रकरण थे। इनमें से पंचम प्रकरण का नाम 'चयनलब्धि' था, जिसमें बीस पाहुड विद्यमान थे। बीस पाहुडों में से चतुर्थ पाहुड का नाम 'कर्मप्रकृति' था। इस 'कर्मप्रकृतिपाहुड' के कृति, वेदना आदि चौबीस अनुयोगद्वार थे; जिनकी विषयवस्तु को ग्रहण कर 'षट्खण्डागम' के जीवट्ठाण, खुद्दाबंध, बंधसामित्त-विचय, वेदणा, वग्गणा और महाबंध — इन छः खण्डों की रचना हुई है। इसका कुछ अंश 'सम्यक्त्वोत्पत्ति' नामक जीवस्थान की आठवीं चूलिका को बारहवें अंग 'दृष्टिवाद' के द्वितीय भेद 'सूत्र' से तथा 'गति-आगति' नामक नवीं चूलिका की 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' से उत्पन्न बताया गया है। इसप्रकार **वर्तमान आगम-साहित्य का सम्बन्ध 'दृष्टिवाद अंग' के साथ है।**

'द्रव्यश्रुत' के दूसरे भेद 'अंगबाह्य' के चौदह भेद हैं—

1. सामायिक, 2. चतुर्विंशतिस्तव, 3. वन्दना, 4. प्रतिक्रमण, 5. वैनयिक, 6. कृतिकर्म, 7. दशवैकालिक, 8. उत्तराध्ययन, 9. कल्पव्यवहार, 10. कल्प्याकल्प्य,

11. महाकल्प्य, 12. पुण्डरीक, 13. महापुण्डरीक, और 14. निषिद्धिका।

'सामायिक' नामक अंगबाह्य में नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव-सम्बन्धी चौबीस तीर्थंकरों की वन्दना करने की विधि, उनके नाम, संस्थान, उत्सेध, पाँच महाकल्याणक, चौंतीस अतिशय आदि का वर्णन है। 'वन्दना' नामक अंगबाह्य में एक तीर्थंकर और उस तीर्थंकर-सम्बन्धी जिनालयों, वन्दना करने की विधि एवं फल का चित्रण है। 'प्रतिक्रमण' नामक अंगबाह्य में दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक, ईर्यापथिक और औत्तमार्थिक — इन सात प्रकार के प्रतिक्रमणों का वर्णन आया है। **प्रमाद से लगे हुये दोषों का निराकरण करना 'प्रतिक्रमण' है।** 'वैनयिक' नामक अंगबाह्य में ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय, तपविनय और उपचारविनय आदि का विशद वर्णन है। 'कृतिकर्म' नामक अंगबाह्य में अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु की पूजाविधि का वर्णन है। 'दशवैकालिक' नामक अंगबाह्य में साधुओं के आचार, विहार एवं पर्यटन आदि का वर्णन है। 'उत्तराध्ययन' नामक अंगबाह्य में चार प्रकार के उपसर्ग और बाईस परिषहों के सहन करने का विधान एवं उनके सहन करनेवालों के जीवनवृत्त का वर्णन रहता है। ऋषियों के करने योग्य जो व्यवहार हैं, उस व्यवहार से स्खलित हो जाने पर प्रायश्चित करना होता है। इस प्रायश्चित का वर्णन 'कल्पव्यवहार' में रहता है। 'कल्प्याकल्पय' में साधु और असाधुओं के आचरणीय और त्याज्य व्यवहार का वर्णन पाया जाता है। दीक्षाग्रहण, शिक्षा, आत्मसंस्कार, सल्लेखना और उत्तम क्षेत्र, काल और भाव का आश्रय लेकर 'महाकल्प्य' नामक अंगबाह्य कथन करता है। 'पुण्डरीक' नामक अंगबाह्य में भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, कल्पवासी एवं वैमानिक-सम्बन्धी देव, इन्द्र, सामानिक आदि में उत्पत्ति के कारणभूत दान, पूजा, शील, तप, उपवास और अकामनिर्जरा का तथा उनके उपपाद-स्थान और भवनों का उत्पत्ति के कारणभूत तप और उपवास आदि का वर्णन है। 'निषिद्धिका' में अनेक प्रकार की प्रायश्चित-विधियों का कथन आया है।

इसप्रकार 'अंगप्रविष्ट' और 'अंगबाह्य' के अन्तर्गत आधुनिक सभी विषयों का समावेश तो होता ही है, साथ ही आध्यात्मिक भावना, कर्मबन्ध की विधि और फल, कर्मों के संक्रमण आदि के कारण, विभिन्न दार्शनिक चर्चायें, मत-मतान्तर, ज्योतिष, आयुर्वेद, गणित, भौतिकशास्त्र, आचारशास्त्र, सृष्टि-उत्पत्ति-विद्या, भूगोल एवं पौराणिक मान्यताओं का परिज्ञान भी उक्त श्रुत या आगम से प्राप्त होता है। आगम का यह विषय-विस्तार इतना सघन और विस्तृत है कि इसकी जानकारी से व्यक्ति श्रुतकेवली-पद प्राप्त करता है। ज्ञान या आगम के विषय का परिज्ञान किसप्रकार और किस विधि से सम्भव होता है — इसका वर्णन भी पूर्वोक्त आगमग्रन्थों में आया है—

अंतिमजिणणिव्वाणे केवलणाणी य गोदम-मुणिंदो।
बारहवासे य गणी सुधम्मसामी य संजादो॥ 1॥
तह बारहवासे पुण संजादो जंबुसामि मुणिणाहो।
अठतीस-वास-रहियो केवलणाणी य उक्किट्ठो॥ 2॥
बासठि केवलवासे तिण्हि मुणी गोदम-सुधम्म-जम्बू य।
बारह-बारह दो जण तिय दुगहीणं च चालीसं॥3॥
सुदकेवलि पंच-जणा बासठि-वासे गदे सुसंजादा।
पढमं चउदह-वासं विण्हुकुमारं मुणेदव्वं॥4॥
णंदिमित्त वास-सोलह तिय अपराजिय वास वावीसं।
इग-हीण-वीस वासं गोवद्धण भद्दबाहु गुणतीसं॥5॥
सद सुदकेवलणाणी पंच जणा विण्हु-णंदिमित्तो य।
अपराजिय-गोवद्धण तह भद्दबाहू य संजादा॥6॥
सद-वासट्ठि-सुवासे गदे सु उप्पण्ण दह सुपुव्वहरा।
सद-तिरासि-वासाणि य एगारह मुणिवरा जादा॥7॥
आयरिय विसाख-पोट्ठल-खत्तिय-जयसेण-णागसेण मुणी।
सिद्धत्थ धित्ति विजयं बुहिलिंग देव धम्मसेणं॥8॥
दह उगणीस य सत्तर इकवीस अट्ठारह सत्तर।
अट्ठारह तेरह वीस चउदह चोदस (सोलह) कमेणेयं॥9॥
अंतिम जिण-णिव्वाणे तियसय-पण-चालवास जादेसु।
एगादहंगधारि य पंच जणा मुणिवरा जादा॥10॥
णक्खत्तो जयपालग पंडव धुवसेण कंस आयरिया।
अट्ठारह वीसवासं गुणचालं चोद-बत्तीसं॥11॥
सद-तेवीस-बासे एगादह-अंगधरा जादा।
वासं सत्ताणवदि य दसंग-णव-अंग-अट्ठधरा॥12॥
सुभद्दं च जसोभद्दं भद्दबाहु कमेण च।
लोहाचरिय-मुणीसं च कहिदं च जिणागमेतच्चं॥13॥
छह-अट्ठारह-वासे तेवीस वावण (पणास) वास मुणिणाहं।
दस णव अट्ठंगधरा वास दुसदवीस सद्धेसु॥14॥
पंचसये पणसठे अंतिम-जिण-समय-जादेसु।
उप्पणा पंच जणा एयंगधारी मुणेदव्वा॥15॥
अहिवल्लि माघणंदि य धरसेणं पुप्फदंत भूदबली।
अठवीसं ढगवीस इगणीसं तीस वीस वास पुणो॥16॥
इगसय-अठार-वासे एयंगधारी य मुणिवरा जादा।
छसय-तिरासिय-वासे णिव्वाणा अंगद्दित्ति कहिद जिणे॥17॥[8]

महावीर स्वामी के निर्वाण के पश्चात् तीर्थंकर-परम्परा समाप्त हो गई थी। उनके निर्वाण के पश्चात् जैनधर्म के मुखिया व संरक्षकों के रूप में गणधरों की मुख्य भूमिका रही थी। गणधरों के पश्चात् जैनाचार्यों की एक निरन्तर चली आ रही आचार्य परम्परा है। भगवान् महावीर के पश्चात् कितने ही प्रसिद्ध आचार्य, मुनि एवं भट्टारक हुये हैं जिन्होंने अपने सदाचार और सद्विचारों से न केवल जैन-समाज को अनुप्राणित किया, बल्कि अपनी अमर लेखनी द्वारा भारतीय साहित्य को समृद्ध बनाया। आज तक यह परम्परा अपने समृद्धरूप में चली आ रही है। पार्श्वनाथ के पश्चात् महावीर स्वामी ने पूरे संघ को चार श्रेणियों में विभाजित किया था। ये चार श्रेणियां क्रमशः मुनि, आर्यिका, श्रावक एवं श्राविका थीं। संघ में मुनि, आर्यिका, साधु-वर्ग सम्मिलित थे; जबकि श्रावक एवं श्राविका गृहस्थ थे। निर्ग्रन्थ रहकर तपसाधना करनेवालों को 'आचार्य' व 'मुनि' पद दिया गया। 'आर्यिका' यद्यपि वस्त्रधारी होती हैं, जो उनकी शरीर की स्थिति को देखकर छूट दी गई है। इसी कारण से उन्हें उपचार से 'महाव्रती' कहा गया है।

महावीर स्वामी के निर्वाण के पश्चात् उनकी संघ-व्यवस्था यथावत् चलती रही। उनके निर्वाण के पश्चात् प्रथम गणधर गौतम स्वामी ने जैन-संघ को नेतृत्व प्रदान किया। इन्होंने 12 वर्ष तक संघ के मुखिया के रूप में अध्यात्म-साधना करते हुये निर्वाण-पद प्राप्त किया। एक पट्टावली के अनुसार महावीर स्वामी के पश्चात् निम्न प्रकार केवली, श्रुतकेवली एवं अंगधारी आचार्य होते रहे।

		केवली काल
तीन केवलज्ञानधारी	1. गौतम स्वामी	12 वर्ष
	2. सुधर्मा स्वामी	12 वर्ष
	3. जम्बू स्वामी	38 वर्ष
		62 वर्ष

—इन तीनों केवली-भगवन्तों ने 62 वर्षों तक उत्कृष्ट साधना के द्वारा जगत् को महावीर के सदृश केवलज्ञान प्राप्तकर उपदेशामृत का पान कराया और फिर निर्वाण प्राप्त किया।

पाँच श्रुतकेवली[9]	1. विष्णुनन्दि	14 वर्ष
	2. नन्दिप्रिय	16 वर्ष
	3. अपराजित	22 वर्ष
	4. गोवर्धन	19 वर्ष
	5. भद्रबाहु स्वामी	29 वर्ष
		100 वर्ष

—ये पाँच आचार्य केवलज्ञान के स्थान पर पूर्ण-श्रुतज्ञान ही प्राप्त कर सके। इसलिये

ये 'श्रुतकेवली' कहलाये। इसमें भद्रबाहु स्वामी अन्तिम श्रुतकेवली थे।

दस पूर्वधारी आचार्य[10]

1. विशाखाचार्य	10 वर्ष
2. प्रोष्ठिलाचार्य	19 वर्ष
3. क्षत्रियाचार्य	17 वर्ष
4. जयसेनाचार्य	21 वर्ष
5. नागसेनाचार्य	18 वर्ष
6. सिद्धार्थाचार्य	17 वर्ष
7. धृतिसेनाचार्य	18 वर्ष
8. विजयाचार्य	13 वर्ष
9. बुद्धिलिंगाचार्य	20 वर्ष
10. देवाचार्य	14 वर्ष
11. धर्मसेनाचार्य	16 वर्ष
	183 वर्ष

इसप्रकार 183 वर्षों में 11 आचार्य हुये, जो ग्यारह अंग और दस पूर्वधारी आगमवेत्ता थे। ये न तो केवली थे और न ही श्रुतकेवली, फिर भी ये आगमशास्त्रों के अधिकांश भाग के ज्ञाता थे।

इनके पश्चात् ज्ञान का और ह्रास हो गया और 123 वर्षों में पाँच आचार्य केवल ग्यारह अंगों के ज्ञाता ही रह गये।

1. नक्षत्राचार्य	18 वर्ष
2. जनसालाचार्य	20 वर्ष
3. पाण्डवाचार्य	39 वर्ष
4. ध्रुवसेनाचार्य	14 वर्ष
5. कंसाचार्य	32 वर्ष
	62 वर्ष

स्मृतिक्षीणता एवं एकाग्रता की उत्तरोत्तर कमी के कारण ज्ञान का बराबर ह्रास होता गया और फिर दशांग, नवांग एवं अष्टम अंगधारी होते रहे। ऐसे आचार्यों में मात्र चार आचार्य हुये, जिनके नाम निम्नप्रकार हैं—

1. सुभद्राचार्य	6 वर्ष
2. यशोभद्राचार्य	18 वर्ष
3. आचार्य भद्रबाहु	23 वर्ष
4. लोहाचार्य	50 वर्ष
	97 वर्ष

और 118 वर्षों में पाँच एकांगधारी आचार्य हुये, जिनके नाम निम्नप्रकार हैं—

1. आचार्य अर्हद्बलि	28 वर्ष
2. आचार्य माघनन्दि	21 वर्ष
3. आचार्य धरसेन	19 वर्ष
4. आचार्य पुष्पदन्त	30 वर्ष
5. आचार्य भूतबलि	20 वर्ष
	118 वर्ष

इनमें अन्तिम तीन आचार्यों में आचार्य धरसेन ने अपने अवशिष्ट आगमज्ञान को आचार्य भूतबलि और पुष्पदन्त को दक्षिण से बुलाकर प्रदान किया और आगमज्ञान के एक अंगज्ञान को नष्ट होने से बचा लिया।

इसप्रकार महावीर स्वामी के पश्चात् 643 वर्षों तक आचार्य-परम्परा चलती रही। इस आचार्य-परम्परा ने जैन-संघ को अपने पारलौकिक ज्ञान से आगे बढ़ाया। इन आचार्यों के पश्चात् ईसा की 14वीं शताब्दी तक महावीर की निर्ग्रन्थ-परम्परा में अनेक आचार्य एवं मुनिगण होते रहे, जिन्होंने अपनी साधना, तपस्या एवं ज्ञान-शक्ति के माध्यम से भारतवर्ष में अहिंसा, अनेकान्त एवं अपरिग्रहवाद के सिद्धांत को प्रचारित किया। इन 643 वर्षों में आगम-शास्त्र के ज्ञाता आचार्यों का बाहुल्य रहा। अनेक बार आगम के ज्ञाता आचार्यों की चर्चायें इतनी गहन व क्लिष्ट होती थीं, जो सामान्यजन के समझ से परे होती थीं। ऐसी स्थिति में सामान्यजन को उपयोगार्थ सीधी-सादी भाषा में लिखे ग्रन्थों की मांग होने लगी। इसकी पूर्ति के लिए विक्रम-संवत् की प्रथम सदी में आचार्य गुणधर ने श्रुत का विनाश हो जाने के भय से 'कसायपाहुड' नामक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत-ग्रन्थ प्राकृत-गाथाओं में निबद्ध किया।[11] प्राकृत इस युग की जनभाषा थी। इसी युग में पैदा हुये आचार्य कुन्दकुन्द को जैन-आचार्यों में मुख्य स्थान प्राप्त है। ये जैनधर्म के महान् प्रभावशाली आचार्य थे।

आचार्य कुन्दकुन्द ने 84 पाहुड-ग्रन्थों की प्राकृतभाषा में रचना करके एक अभूतपूर्व कार्य किया और देश एवं समाज को, श्रावक एवं श्राविकाओं, मुनियों एवं आर्यिकाओं सभी के लिये उपयोगी साहित्य का सृजन किया। उनके ग्रन्थों की जितनी टीकायें लिखी गईं, उतनी किसी अन्य आचार्य के ग्रन्थों पर नहीं मिलती हैं।[12]

आचार्य कुन्दकुन्द के पश्चात् आचार्य गृद्धपिच्छ, उमास्वामी, समन्तभद्र, सिद्धसेन, देवनन्दि, पात्रकेसरी आदि पचासों आचार्य एक के बाद दूसरे होते गये तथा धर्म व संस्कृति को अपने ज्ञान से पल्लवित करते रहे। सातवीं शताब्दी के अकलंक नाम के आचार्य बहुत प्रसिद्ध हुये। ये जैनन्याय के प्रतिष्ठाता थे, तथा प्रकाण्ड पंडित, धुरंधर शास्त्रार्थी और उत्कृष्ट विचारक थे। जैनन्याय को इन्होंने जो रूप दिया, उसे

ही उत्तरकालीन जैन ग्रन्थकारों ने अपनाया। बौद्धों के साथ इनका खूब संघर्ष रहा। ये स्वामी समन्तभद्र के द्वारा प्रवर्तित जैन-न्याय-परम्परा के सुयोग्य उत्तराधिकारी थे। इन्होंने उनके 'आप्तमीमांसा' ग्रन्थ पर 'अष्टशशती' नामक भाष्य की रचना की थी।[13]

डॉ. कासलीवाल द्वारा प्रस्तुत की गई प्रमुख आचार्य-अणुक्रमणिका के अनुसार 13वीं शताब्दी तक 122 प्रभावशाली आचार्य हुये, जिन्होंने समाज और — दोनों के प्रचार-प्रसार में योगदान दिया।[14]

उपरोक्त आचार्य ग्रन्थ-लेखन में समर्पित रहते थे। इसी परम्परा में 9वीं सदी में आचार्य जिनसेन हुये, जिन्होंने 'हरिवंश-पुराण' नामक ग्रन्थ की रचना की। उनके 'हरिवंश-पुराण' से समाज में कृष्ण-कथा का व्यापक प्रचार हुआ और 22वें तीर्थंकर नेमिनाथ का जीवन लोकप्रिय बन गया।[15] इसके पश्चात् आचार्य वीरसेन के शिष्य एक अन्य आचार्य जिनसेन हुये, जो विशाल बुद्धि के धारक, कवि, विद्वान् और साहित्यकार थे। जिनसेन के शिष्य थे आचार्य गुणभद्र, जिन्होंने अपने गुरु के लिये लिखा है कि "जिसप्रकार हिमालय से गंगा का उदय और उदयाचल से सूर्य का उदय होता है, उसीप्रकार वीरसेन से जिनसेन का उदय हुआ है।" 'आदिपुराण' का अन्तिम भाग एवं 'उत्तर-पुराण' की रचना करके उन्होंने पुराण-जगत् में एक अभूतपूर्व कार्य किया। ये कार्य जैन-जगत् के भविष्य के लिये वरदान सिद्ध हुआ। जिनसेनाचार्य ने 'महापुराण' लिखने का संकल्प किया, किन्तु उसे पूरा नहीं कर पाये। 'महापुराण' में चौबीस (24) तीर्थंकरों के जीवन का पूरा वर्णन मिलता है।[16] इनकी मृत्यु के पश्चात् इनके शिष्य गुणभद्राचार्य ने 'महापुराण' के लेखन का कार्य पूरा किया।[17]

आचार्य जिनसेन के गुरु वीरसेन थे, जिन्होंने 'छक्खंडागमसुत्त' के प्रथम स्कंध की चारों विभक्तियों पर 'धवला' नाम की 20 हजार श्लोकप्रमाण टीका लिखने का श्रेय प्राप्त किया। इसके पश्चात् आचार्य जिनसेन ने उसे पूरा किया। तीनों ही गुरु-शिष्यों अर्थात् वीरसेन, आचार्य जिनसेन एवं आचार्य गुणभद्र ने जितना अधिक साहित्य का सृजन किया, वह अपने आप में अनूठा है।[18] 9वीं शताब्दी में महावीराचार्य हुये, जिन्होंने 'गणितसार' लिखकर गणित-साहित्य में एक अभूतपूर्व रचना प्रस्तुत की। इसके पश्चात् अपभ्रंश-काल आरम्भ हुआ और जोइन्दु, स्वयंभू, पुष्पदन्त, वीर, नयनन्दि, एवं रइधू जैसे कवि हुये, जिन्होंने अपभ्रंश-साहित्य का प्रणयन करके जनसामान्य को बोलचाल की भाषा में काव्य, पुराण एवं चरित्र-प्रधान साहित्य उपलब्ध कराया।[19]

डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य दिगम्बर-आरातीय-आचार्य-परम्परा को निम्नलिखित पाँच भागों में विभक्त करके उनका कथन किया है[20] — 1. श्रुतधराचार्य, 2. सारस्वताचार्य, 3. प्रबुद्धाचार्य, 4. परम्परापोषकाचार्य, एवं 5. आचार्यतुल्य कवि और लेखक।

1. श्रुतधराचार्य

'श्रुतधराचार्य' से अभिप्राय उन आचार्यों से है, जिन्होंने सिद्धान्त-साहित्य, कर्म-साहित्य, अध्यात्म-साहित्य का ग्रथन दिगम्बर-आचार्यों के चारित्र और गुणों का जीवन में निर्वाह करते हुये किया है। वैसे तो प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग का पूर्व-परम्परा के आधार पर ग्रन्थरूप में प्रणयन करने का कार्य सभी आचार्य करते रहे हैं। पर केवली और श्रुतकेवलियों की परम्परा में जो अंग या पूर्वों के एकदेशज्ञाता आचार्य हुये हैं, उनका इतिवृत्त श्रुतधर-आचार्यों की परम्परा के अन्तर्गत प्रस्तुत किया जायेगा। अतएव इन आचार्यों में गुणधर, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि, यतिवृषभ, उच्चारणाचार्य, आर्यभंक्षु, नागहस्ति, कुन्दकुन्द, गृद्धपिच्छाचार्य और बप्पदेव की गणना की जा सकती है।

'श्रुतधराचार्य' युगसंस्थापक और युगान्तरकारी आचार्य हैं। इन्होंने प्रतिभा के क्षीण होने पर नष्ट होती हुई श्रुतपरम्परा को मूर्त्तरूप देने का कार्य किया है। यदि श्रुतधराचार्य इसप्रकार का प्रयास नहीं करते, तो आज जो जिनवाणी अवशिष्ट है, वह दिखलायी नहीं पड़ती। श्रुतधराचार्य दिगम्बर-आचार्यों के मूलगुण और उत्तरगुणों से युक्त थे और परम्परा को जीवित रखने की दृष्टि से वे ग्रन्थ-प्रणयन में संलग्न रहते थे। श्रुत की यह परम्परा 'अर्थश्रुत' और 'द्रव्यश्रुत' के रूप में ईसापूर्व की शताब्दियों से आरम्भ होकर ईसा की चतुर्थ-पंचम शताब्दी तक चलती रही है। अतएव श्रुतधर-परम्परा में कर्मसिद्धान्त, लोकानुयोग एवं सूत्ररूप में ऐसा निबद्ध-साहित्य, जिस पर उत्तरकाल में टीकायें, विवृत्तियाँ एवं भाष्य लिखे गये हैं, का निरूपण समाविष्ट रहेगा।

प्रमुख और प्रभावक श्रुतधराचार्यों का विवरण निम्नलिखित है—

आचार्य गुणधर

श्रुतधराचार्यों की परम्परा में सर्वप्रथम आचार्य 'गुणधर' का नाम आता है। 'गुणधर' और 'धरसेन' दोनों ही श्रुत-प्रतिष्ठापक के रूप में प्रसिद्ध हैं। 'जयधवला' के मंगलाचरण के पद्य से ज्ञात होता है कि आचार्य गुणधर ने 'कसायपाहुड' का गाथाओं द्वारा व्याख्यान किया है—

जेणिह कसायपाहुडमणेय-णयमुज्जलं अणंतत्थं।
गाहाहि विरचिदं तं गुणहरभडारयं वंदे।। 6।।

वीरसेन आचार्य के अनुसार आचार्य गुणधर पूर्वविदों की परम्परा में सम्मिलित थे। एक अन्य प्रमाण से यह माना जाता है कि गुणधर ऐसे समय में हुये थे, जब पूर्वों के आंशिक ज्ञान में उतनी कमी नहीं आई थी, जितनी कमी आचार्य धरसेन के

समय में आ गई थी। अतः आचार्य गुणधर आचार्य धरसेन से पूर्ववर्ती हैं। इनके गुरु आदि के सम्बन्ध में कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती है। अतः आचार्य गुणधर का समय विक्रमपूर्व प्रथम शताब्दी मानना सर्वथा उचित है। उनकी रचना 'कसायपाहुड' है, जिसका दूसरा नाम 'पेज्जदोसपाहुड' भी है। भाषा की दृष्टि से भी 'छक्खंडागम' से 'कसायपाहुड' की भाषा अप्राचीन है। 16,000 पद-प्रमाण 'कसायपाहुड' के विषय को संक्षेप में एक सौ अस्सी गाथाओं में ही उपसंहृत कर दिया है। यह स्पष्ट है कि 'कसायपाहुड' की शैली गाथासूत्र-शैली है एवं आचार्य गुणधर दिगम्बर-परम्परा के सर्वप्रथम सूत्रकार हैं।

आचार्य धरसेन

धवलाग्रंथ के अनुसार 'छक्खंडागम' विषय के ज्ञाता 'आचार्य धरसेन' थे। सौराष्ट्र देश के 'गिरिनगर' (गिरनार) की 'चन्द्रगुफा' में रहने वाले अष्टांग-महानिमित्त के पारगामी, प्रवचनवत्सल थे। अंगश्रुत के विच्छेद के भय से उन्होंने 'पुष्पदन्त' और 'भूतबलि' नाम के दो शिष्यों को अपने अंगश्रुत की शिक्षा दी थी। आचार्य धरसेन के गुरु का नाम यद्यपि पता नहीं चलता; तथापि श्रुतावतार में 'अर्हद्बलि', 'माघनन्दि' और 'धरसेन' — इन तीनों आचार्यों का उल्लेख मिलने के कारण इन तीनों में परस्पर गुरु-शिष्य-सम्बन्ध की संभावना की जाती है। अभिलेखीय प्रमाण के आधार पर धरसेन का समय ईसापूर्व की प्रथम शताब्दी आता है। आचार्य धरसेन सिद्धान्तशास्त्र के ज्ञाता थे। इनके विषय में 'षट्खण्डागम'-टीका से जो तथ्य उपलब्ध होते हैं, उनसे ऐसा ज्ञात होता है कि धरसेनाचार्य मन्त्र-तन्त्र के भी ज्ञाता थे। 'धवलाटीका' में भी 'योनिप्राभृत' नामक मन्त्रशास्त्र-सम्बन्धी इनके एक अन्य ग्रन्थ का निर्देश मिलता है।

उनके बारे में धवलाटीका से यह जानकारी प्राप्त होती है कि — धरसेन सभी अंग और पूर्वों के एकदेश ज्ञाता, अष्टांग-महानिमित्त के पारगामी, लेखनकला में प्रवीण, मन्त्र-तन्त्र आदि शास्त्रों के वेत्ता, 'महाकम्मपयडिपाहुड' के वेत्ता, प्रवचन और शिक्षण देने की कला में पटु, प्रवचनवत्सल, प्रश्नोत्तरशैली में शंका-समाधानपूर्वक शिक्षा देने में कुशल, महनीय विषय को संक्षेप में प्रस्तुत करने के ज्ञाता, अग्रायणीयपूर्व के पंचम वस्तु के चतुर्थ प्राभृत के व्याख्यानकर्त्ता एवं पठन, चिंतन व शिष्य-उद्बोधन की कला में पारंगत थे।

आचार्य पुष्पदन्त

'आचार्य पुष्पदन्त' और 'आचार्य भूतबलि' का नाम साथ-साथ मिलता है। प्राकृतपट्टावली के अनुसार आचार्य पुष्पदन्त आचार्य भूतबलि से ज्येष्ठ माने जाते हैं। परन्तु दोनों ही आचार्यों ने आचार्य धरसेन के सान्निध्य से श्रुत की शिक्षा प्राप्त की

थी। शिक्षा-समाप्ति के उपरान्त सुन्दर दंतपक्ति के कारण उनका नाम 'पुष्पदन्त' रखा गया। धवलाटीका में भी पुष्पदन्त के नाम का इस प्रकार उल्लेख है—

"अवरस्स वि भूदेहि पूजिदस्स अत्थवियत्थ-ट्ठिय-दंत-पंतिमोसामिय भूदेहि समीकय-दंतस्स 'पुप्फदंतो' त्ति णामं कदं।"

अर्थात् देवों ने पूजा कर जिनकी अस्तव्यस्त दंतपंक्तियों को ठीक कर सुन्दर बना दिया, उनकी धरसेन भट्टारक ने 'पुष्पदन्त' संज्ञा दी।

नंदिसंघ की प्राकृतपट्टावली के अनुसार पुष्पदन्त भूतबलि से पूर्ववर्त्ती थे। उनके अनुसार इनका समय ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के लगभग होना चाहिये। आचार्य पुष्पदन्त के वैशिष्ट्य के रूप में यह तथ्य ज्ञातव्य है कि 'षट्खंडागम' का आरंभ आचार्य पुष्पदन्त ने किया है। पुष्पदन्त 'महाकर्मप्रकृतिप्राभृत' के अच्छे ज्ञाता एवं उसके व्याख्याता के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं। यद्यपि सूत्रों के रचयिताओं का नाम नहीं मिलता है; पर धवलाटीका के आधार पर 'सत्प्ररूपणा' के सूत्रों के रचयिता पुष्पदन्त हैं। पुष्पदन्त ने अनुयोगद्वार और प्ररूपणाओं के विस्तार को अनुभव कर ही सूत्रों की रचना प्रारम्भ की होगी।

आचार्य भूतबलि

आचार्य 'पुष्पदन्त' के साथ आचार्य 'भूतबलि' ने भी समानकाल में आचार्य 'धरसेन' से सिद्धान्त-विषय का अध्ययन किया था। तदुपरान्त उन्होंने 'अंकलेश्वर' में चातुर्मास समाप्त कर 'द्रविड़' देश में सूत्र का निर्माण किया। श्रवणबेलगोल के एक शिलालेख में पुष्पदन्त के साथ भूतबलि को भी 'अर्हद्बलि का शिष्य' कहा है। इस कथन से ऐसा ज्ञात होता है कि भूतबलि के दीक्षागुरु 'अर्हद्बलि' और शिक्षागुरु 'धरसेनाचार्य' रहे होंगे।

भूतबलि के व्यक्तित्व और ज्ञान के सम्बन्ध में 'धवलाग्रन्थ' में यह बताया गया है कि "भूतबलि भट्टारक असंबद्ध बात नहीं कह सकते। अतः महाकर्मप्रकृतिप्राभृतरूपी अमृतपान से उनका समस्त राग-द्वेष-मोह दूर हो गया है।" जिससे यह स्पष्ट होता है कि भूतबलि 'महाकर्मप्रकृतिप्राभृत' के पूर्णज्ञाता थे। इसलिये उनके द्वारा रचित सिद्धान्तग्रन्थ सर्वथा निर्दोष और अर्थपूर्ण है। भूतबलि का समय भी ईसापूर्व प्रथम शताब्दी का अन्तिम चरण माना जाता है।

'इन्द्रनन्दि' ने अपने 'श्रुतावतार' में यह लिखा है कि भूतबलि आचार्य ने षट्खण्डागम की रचना कर उसे ग्रन्थरूप में निबद्ध किया था। श्रुतावतार से इस ग्रन्थ के बारे में यह जानकारी मिलती है कि आचार्य पुष्पदन्त ने 'षट्खण्डागम' की रूपरेखा निर्धारित कर सत्प्ररूपणा-सूत्रों की रचना की थी और शेष-भाग को भूतबलि ने समाप्त किया था।

आचार्य कुन्दकुन्द

मूलतत्त्वज्ञान को सुरक्षित रखते हुये उक्त समस्त आडम्बरों का दो-टूक निराकरणपूर्वक समाज को अध्यात्म-दृष्टि एवं निर्दोष आचरण-पद्धति का अत्यंत प्रभावशाली ढंग से निरूपण कर आचार्य कुन्दकुन्द ने मूल दिगम्बर जैन-आम्नाय की रक्षा ही नहीं की, अपितु उसकी अत्यंत स्पष्ट व्याख्या भी प्रस्तुत की है। इसप्रकार श्रद्धा, ज्ञान एवं आचरण — इन तीनों क्षेत्रों में सही अर्थों में अभूतपूर्व 'युग-प्रवर्तक' आचार्य थे। उनके इस गरिमामय व्यक्तित्व का अखंड प्रभाव आज भी बना हुआ है, तथा आज भी जैन-परम्परा आचार्य कुन्दकुन्द के नाम से पहचानी एवं प्रमाणित की जाती है, और इसी कारण उन्हें शासननायक तीर्थंकर महावीर स्वामी, श्रुतकर्त्ता गौतम गणधर के नाम से मंगलरूप में सादर स्मरण किया गया है—

"मंगलं भगवदो वीरो, मंगलं गौदमो गणी।
मंगलं कोण्डकुंदाइरिओ, जेण्हं धम्मोऽत्थु मंगलं॥"

आचार्य कुन्दकुन्द आंध्रप्रदेश के 'अनन्तपुर' जिले की 'गुटि' तहसील में स्थित कौण्डकुन्दपुर (कौण्डकुन्दी) नामक ग्राम, जोकि उस समय अत्यंत समृद्ध नगर था, के नगरसेठ गुणकीर्ति की धर्मपरायणा पत्नी शांतला के गर्भ में पुत्र के रूप में उत्पन्न हुये। गर्भकाल पूर्ण कर ईसापूर्व 108 के शार्वरी संवत्सर के माघ मास के शुक्लपक्ष की पंचमी तिथि के दिन एक तेजस्वी बालक का जन्म हुआ। गुणकीर्ति एवं शांतला का लाड़ला वही बालक बड़ा होकर युगप्रधान आचार्य कुन्दकुन्द बना। चूँकि गर्भधारण के पूर्व माँ शांतला ने स्वप्न में चन्द्रमा की चाँदनी देखी थी, अतएव बालक का नाम 'पद्मप्रभ' रखा गया।

बालक पद्मप्रभ ने ग्यारहवें वर्ष में प्रवेश किया, तभी अष्टांग-महानिमित्त के ज्ञाता आचार्य 'आचार्य अनन्तवीर्य' कौण्डकुन्दी ग्राम में पधारे एवं उस बालक को देखकर बोले कि "यह बालक महान् तपस्वी एवं परमप्रतापी संत होगा, तथा जब तक जैन-परम्परा रहेगी, इस काल में इसका नाम अमर रहेगा।" मुनिराज की यह वाणी सफल सिद्ध हुई, तथा उस अल्पायु में ही वह बालक घर-बार को त्यागकर नग्न दिगम्बर-श्रमण के रूप में दीक्षित हो गया। दीक्षा के बाद उनका नाम पद्मनंदि प्रसिद्ध हुआ, तथा नंदि-संघ की पट्टावलि के अनुसार आत्मवेत्ता आचार्य जिनचन्द्र इनके दीक्षागुरु प्रतीत होते हैं।

'मुनि' पद पर लगभग तैंतीस वर्ष तक निरन्तर ज्ञानाराधना एवं वैराग्यरस से ओतप्रोत तप:साधनापूर्वक दिगम्बर जैनश्रमण की कठिन चर्या का निर्दोष पालन करते हुये ईसापूर्व 64 में मार्गशीर्ष कृष्ण अष्टमी, गुरुवार के दिन चतुर्विध-संघ ने इन्हें 44 वर्ष की आयु में आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित किया। इस पद पर रहते हुये चतुर्विध-संघ

के नायक होकर ग्रंथ-निर्माण एवं अन्य अनेकों पुनीत कार्यों के द्वारा समाज एवं राष्ट्र को नई दिशा प्रदान करते हुये 95 वर्ष, 10 माह एवं 15 दिन की दीर्घायु व्यतीत कर ईसापूर्व 12 में आपने समाधिमरण-पूर्वक स्वर्गारोहण किया।

यह निर्विवाद तथ्य है कि आचार्य कुन्दकुन्द का मूल दीक्षानाम 'पद्मनन्दि' था तथा कोण्डकुण्डपुर के वासी होने के कारण इनका नाम 'कोण्डकुन्द' ही अधिक प्रचलित हुआ। सम्भवतः ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय पद्मनन्दि नाम के और भी मुनिराज, आचार्य रहे होंगे, अतः "कौन-से पद्मनन्दि?" — ऐसे प्रश्न के उत्तरस्वरूप 'कोण्डकुंडपुर वाले' — ऐसा प्रचलन रहा होगा। फिर धीरे-धीरे उनका यही नाम अधिक प्रचलित हो गया। प्राचीन शिलालेखों में उनका नाम 'कोण्डकुण्ड' अथवा 'कोण्डकुन्द' ही मिलता है, जो बाद में 'कुण्डकुन्द' और फिर 'कुन्दकुन्द' बन गया।

प्राप्त उल्लेखों के अनुसार आचार्य कुन्दकुन्द ने चौरासी (84) पाहुड-ग्रंथों की रचना की थी। इनमें से अधिकांश रचनायें आज उपलब्ध नहीं हैं। डॉ. ए.एन. उपाध्ये ने ऐसे 43 पाहुड-ग्रंथों के नाम खोजे हैं, जो आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा लिखित माने गये हैं, किन्तु इनमें से कोई भी प्राप्त नहीं होता। आज उपलब्ध कुन्दकुन्द-साहित्य में मात्र चौदह ग्रंथ ही ऐसे हैं, जो निर्विवादरूप से आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओं के रूप में माने जाते हैं। वे हैं — 1. समयसार, 2. पवयणसार, 3. णियमसार, 4. पंचत्थिकायसंगहो, 5. दंसणपाहुड, 6. चरित्तपाहुड, 7. सुत्तपाहुड, 8. बोधपाहुड, 9. भावपाहुड, 10. मोक्खपाहुड, 11. लिंगपाहुड, 12. सीलपाहुड, 13 बारसअणुवेक्खा एवं 14. भत्तिसंगहो (इसमें सिद्धभक्ति आदि आठ भक्तियाँ संग्रहीत है)। इनके अतिरिक्त 'षट्खंडागम' के प्रथम दो खंडों पर रचित 'परिकर्म' नामक टीका', 'तिरुक्कुरल' नामक नीतिग्रंथ, 'मूलाचार' एवं 'रयणसार' आदि ग्रंथ भी कुन्दकुन्द के द्वारा रचित माने जाते हैं; किन्तु इस बारे में सभी विद्वानों का एक मत नहीं है।

आचार्य आर्यमंक्षु और आचार्य नागहस्ति

इन दोनों आचार्यों का नाम दिगम्बर एवं श्वेताम्बर — दोनों परम्पराओं में प्रतिष्ठित है। धवलाटीका में इन दोनों को 'महाश्रमण' और 'महावाचक' लिखा गया है। उस लेखन से यह स्पष्ट है 'आर्यमंक्षु' और 'नागहस्ति' ही 'महाश्रमण' और 'महावाचक' पदों से विभूषित थे, जो उनकी सिद्धान्त-विषयक ज्ञान-गरिमा का परिचायक है। 'जयधवलाटीका' के मंगलाचरण के पद्य 7-8 में वीरसेन आचार्य ने लिखा है कि जिन आर्यमंक्षु और नागहस्ति ने गुणधर आचार्य के मुखकमल से विनिर्गत 'कसायपाहुड' की गाथाओं के समस्त अर्थ को सम्यक्प्रकार ग्रहण किया, वे हमें वर प्रदान करें। चूर्णिसूत्र-रचयिता यतिवृषभ आर्यमंक्षु के शिष्य और नागहस्ति

के अन्तेवासी हैं। जो इस तथ्य के पोषक है कि आर्यमंक्षु और नागहस्ति समकालीन थे, उनमें 'कसायपाहुड' की विज्ञता थी एवं यतिवृषभ के गुरु भी थे। इन्द्रनन्दि के 'श्रुतावतार' में आर्यमंक्षु और नागहस्ति को गुणधराचार्य का शिष्य बताया गया है। 'नन्दिसूत्र' की 'पट्टावली' में आचार्य आर्यमंक्षु का परिचय एवं श्वेताम्बर पट्टावली में नागहस्ति का परिचय देखने से इन दोनों के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में यह निष्कर्ष निकलता है कि ये दोनों आचार्य सिद्धान्त के मर्मज्ञ, श्रुत-सागर के पारगामी, सूत्रों के अर्थ-व्याख्याता, गुप्ति, समिति और व्रतों के पालन में सावधान तथा परीषह और उपसर्गों के सहन करने में पटु तथा वाचक और प्रभावक भी थे।

आर्यमंक्षु और नागहस्ति 'महाकम्मपयडिपाहुड' के ज्ञाता थे। धवला-टीकाकार आचार्य वीरसेन ने आर्यमंक्षु और नागहस्ति के उपदेश का वर्णन करते हुये लिखा है कि "आर्यमंक्षु और नागहस्ति के उपदेश प्रवाहक्रम से आये हुये थे।" उन उपदेश को 'पवाइज्जमाण' कहा है। इनसे यतिवृषभ ने 'कसायपाहुड' के सूत्रों का व्याख्यान प्राप्त कर चूर्णिसूत्रों की रचना की है।

आचार्य वज्रयश

'तिलोयपण्णत्ती' में आचार्य 'वज्रयश' को उल्लेखपूर्वक अन्तिम प्रज्ञाश्रमण बताया गया है। आचार्य व्रजयश या 'वइरजस' उनका उल्लेख करने वाले आचार्य यतिवृषभ के पूर्ववर्त्ती थे।

चूर्णिसूत्रकार आचार्य यतिवृषभ

जयधवलाटीका के निर्देशानुसार आचार्य यतिवृषभ ने आर्यमंक्षु और नागहस्ति से 'कसायपाहुड' की गाथाओं का सम्यक् प्रकार अध्ययन कर अर्थ-अवधारण किया और 'कसायपाहुड' पर चूर्णिसूत्रों की रचना की।

जयधवलाटीका में अनेक स्थलों पर यतिवृषभ का उल्लेख किया गया है, लिखा है—

"एवं जदिवसहाइरियदेसामासियसुत्तत्थपरूवणं काऊण संपहि जइवसहा-इरियसूचिदत्थमुच्चारणाए भणिस्समामो।"

अर्थात् यतिवृषभ आचार्य द्वारा लिखे गये चूर्णिसूत्रों का अवलम्बन लेकर उक्तार्थ प्रस्तुत किया गया है। अतः दिगम्बर-परम्परा में चूर्णिसूत्रों के प्रथम रचयिता होने के कारण यतिवृषभ का अत्यधिक महत्त्व है।

चूर्णिसूत्रकार यतिवृषभ आठवें 'कर्मप्रवाद' के ज्ञाता थे। आपने आर्यमंक्षु और नागहस्ति का शिष्यत्त्व स्वीकार किया था। व्यक्तित्व की महनीयता की दृष्टि से यतिवृषभ भूतबलि के समकक्ष हैं। इनके मतों की मान्यता सार्वजनीन है। यतिवृषभ आगमवेत्ता तो थे ही, पर उन्होंने सभी परम्पराओं में प्रचलित उपदेशशैली का परिज्ञान

प्राप्त किया और अपनी सूक्ष्म प्रतिभा का चूर्णिसूत्रों में उपयोग किया।

यतिवृषभ का समय शक-संवत् के निर्देश के आधार पर 'तिलोयपण्णत्ती' के आलोक में भी प्रथम ईस्वी सन् के आसपास सिद्ध होता है। निर्विवादरूप से यतिवृषभ की दो ही कृतियाँ मानी जाती है। — 1. कसायपाहुड पर रचित 'चूर्णिसूत्र' और, 2. 'तिलोयपण्णत्ती'।

पं. हीरालाल जी शास्त्री के मतानुसार आचार्य यतिवृषभ की एक अन्य रचना 'कम्मपयडि'-चूर्णि भी है। यतिवृषभ के नाम से करणसूत्रों का निर्देश भी प्राप्त होता है, पर आज इन करणसूत्रों का संकलित रूप प्राप्त नहीं है।

आचार्य वप्पदेवाचार्य

श्रुतधराचार्यों में शुभनन्दि, रविनन्दि के साथ 'वप्पदेवाचार्य' का नाम भी आता है। वप्पदेवाचार्य ने समस्त सिद्धान्तग्रन्थों का अध्ययन किया। यह अध्ययन 'भीमरथि' और 'कृष्णामेख' नदियों के मध्य में स्थित 'उत्कलिकाग्राम' के समीप 'मगणवल्लि' ग्राम में हुआ था। इस अध्ययन के पश्चात् उन्होंने 'महाबन्ध' को छोड़ शेष पाँच खण्डों पर 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' नाम की टीका लिखी है और छठे खण्ड की संक्षिप्त विवृत्ति भी लिखी है। इन छहों खण्डों के पूर्ण हो जाने के पश्चात् उन्होंने 'कषायप्राभृत' की टीका का परिमाण 60,000 और 'महाबन्ध' की टीका का 5 अधिक 8,000 बताया जाता है। ये सभी रचनायें प्राकृत-भाषा में की गयी थीं, जोकि आज अनुपलब्ध हैं।

वप्पदेव का समय वीरसेन स्वामी से पहिले है। संक्षेप में वप्पदेव का समय 5वीं से 6वीं शती है।

आचार्य गृद्धपिच्छाचार्य

'तत्त्वार्थसूत्र' के रचयिता आचार्य गृद्धपिच्छ हैं। इनका अपरनाम उमास्वामी प्राप्त होता है। आचार्य वीरसेन ने जीवस्थान के काल अनुयोगद्वार में 'तत्त्वार्थसूत्र' और उसके कर्त्ता गृद्धपिच्छाचार्य के नामोल्लेख के साथ उनके 'तत्त्वार्थसूत्र' का एक सूत्र उद्धृत किया है—

'तह गिद्धपिच्छाइरियप्पयासिद-तच्चत्थसुत्ते वि "वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य" इदि दव्वकालो परूविदो'।[21]

'तत्त्वार्थसूत्र' के टीकाकार ने भी निम्न पद्य में तत्त्वार्थ के रचयिता का नाम गृद्धपिच्छाचार्य दिया है—

'तत्त्वार्थसूत्रकर्त्तारं गृद्धपिच्छोपलक्षितम्।
वन्दे गणीन्द्रसंजातमुमास्वामिमुनीश्वरम्।।'[22]

गृद्धपिच्छ के गुरु का नाम कुन्दकुन्दाचार्य होना चाहिये। श्रवणवेलगोला के

अभिलेख संख्या 108 में गृद्धपिच्छ उमास्वामी का शिष्य बलाकपिच्छाचार्य को बतलाया है। 'तत्त्वार्थसूत्र' के निर्माण में कुन्दकुन्द के ग्रन्थों का सर्वाधिक उपयोग किया गया है। गृद्धपिच्छ ने कुन्दकुन्द का शाब्दिक और वस्तुगत अनुसरण किया है, अत: आश्चर्य नहीं कि गृद्धपिच्छ के गुरु कुन्दकुन्द रहे हों।

इनका समय नन्दिसंघ की पट्टावलि के अनुसार वीर-निर्वाण सम्वत् 571 है, जोकि विक्रम-संवत् 101 आता है।

नन्दिसंघ की पट्टावलि में बताया है कि उमास्वामी 40 वर्ष 8 महीने आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित रहे। उनकी आयु 74 वर्ष की थी और विक्रम-सम्वत् 142 में उनके पट्ट पर लोहाचार्य द्वितीय प्रतिष्ठित हुये।

आचार्य गृद्धपिच्छ की एकमात्र रचना 'तत्त्वार्थसूत्र' है। इस सूत्रग्रन्थ का प्राचीन नाम 'तत्त्वार्थ' रहा है। इस ग्रन्थ में जिनागम के मूल-तत्त्वों को बहुत ही संक्षेप में निबद्ध किया है। इसमें कुल दस अध्याय और 357 सूत्र हैं। संस्कृत-भाषा में सूत्रशैली में लिखित यह पहला सूत्रग्रन्थ है। इसमें करणानुयोग, द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग का सार समाहित हैं। जैन-वाङ्मय में संस्कृत-भाषा के सर्वप्रथम सूत्रकार गृद्धपिच्छ हैं और सबसे पहला संस्कृत-सूत्रग्रन्थ 'तत्त्वार्थसूत्र' है।

सूत्रशैली की जो विशेषतायें पहले कही जा चुकी हैं, वे सभी विशेषतायें इस सूत्रग्रन्थ में विद्यमान हैं। यह रचना इतनी सुसम्बद्ध और प्रामाणिक है कि भगवान् महावीर की द्वादशांगवाणी के समान इसे महत्त्व प्राप्त है।

आचार्य वट्टकेर

'मूलाचार' नामक ग्रंथ के रचयिता आचार्य वट्टकेर बताये जाते हैं। किन्तु बहुत से विद्वान् मूलाचार को आचार्य कुन्दकुन्द की ही रचना मानते हैं, तथा 'वट्टकेर' शब्द को उनकी उपाधि मानते हैं; क्योंकि इस शब्द का अर्थ 'हितकारी-वाणी या जिनवाणी का प्रवर्तक' माना गया है, और आचार्य कुन्दकुन्द के व्यक्तित्व एवं योगदान को देखते हुये यह उपाधि उनके लिये सटीक जान पड़ती है। फिर भी कई आचार्यों ने वट्टकेर का अलग से उल्लेख किया है, तथा कुन्दकुन्द के मूल-साहित्य की पाण्डुलिपियों एवं टीकाग्रन्थों में भी कुन्दकुन्द आचार्य की उपाधि के रूप में इसका प्रयोग नहीं मिलता है। इसीलिये कई विद्वान् वट्टकेर को स्वतंत्र आचार्य मानते हैं, तथा उनकी एकमात्र कृति 'मूलाचार' मानते हैं।

वट्टकेर के बारे में ऐसी दुविधापूर्ण स्थिति निर्मित होने का एक प्रमुख कारण यह भी है कि आचार्य वट्टकेर के जीवन, काल-निर्णय, अन्य ग्रन्थों तथा किसी भी प्रकार के ऐतिहासिक तथ्य आदि के उल्लेख का अभाव है। यहाँ तक कि मूलाचार के टीका-साहित्य में भी इनके जीवन एवं योगदान के बारे में सभी टीकाकार मौन

हैं। इसीलिये विद्वानों ने यह अनुमान लगा लिया कि सम्भवतः कुन्दकुन्द ही वट्टकेर थे; अतएव कुन्दकुन्द के बहुश्रुत होने के कारण वट्टकेर के बारे में अलग से कोई उल्लेख नहीं किया गया। मूलाचार की भाषा एवं विषय-वस्तु के साथ-साथ प्रतिपादन-शैली भी पर्याप्त प्राचीन होने से इसकी कुन्दकुन्द से समकालिकता भी प्रतीत होती है।

मूलाचार में मुनियों के आचार के सम्बन्ध में अति-विस्तार से वर्णन है। इतनी विस्तृत सामग्री मुनिधर्म के बारे में अन्यत्र कहीं एकसाथ नहीं मिलती है।

आचार्य शिवार्य

मुनि-आचार पर 'शिवार्य' की 'भगवती आराधना' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है। इसके अन्त में जो प्रशस्ति दी गयी है, उससे उनकी गुरु-परम्परा एवं जीवन पर प्रकाश पड़ता है। प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि आचार्य शिवार्य पाणितलभोजी होने के कारण दिगम्बर-परम्परानुयायी हैं, वे विनीत, सहिष्णु और पूर्वाचार्यों के भक्त हैं एवं इन्होंने गुरुओं से सूत्र और उसके अर्थ की सम्यक् जानकारी प्राप्त की है।

प्रभाचन्द्र के 'आराधनाकथाकोष' और देवचन्द्र के 'राजावलिकथे' (कन्नड़ग्रन्थ) में शिवकोटि को स्वामी समन्तभद्र का शिष्य बतलाया है। श्री प्रेमीजी ने शिवार्य या 'शिवकोटि' को यापनीय संघ का आचार्य माना है और इनके गुरु का नाम प्रशस्ति के आधार पर 'सर्वगुप्त' सिद्ध किया है।

डॉ. हीरालाल जी इस ग्रन्थ का रचनाकाल ईस्वी सन् द्वितीय-तृतीय शती मानते हैं। इस ग्रन्थ पर टीका अपराजित सूरि द्वारा लिखी गयी। टीका 7वीं से 8वीं शताब्दी की है। अतः इससे पूर्व शिवार्य का समय सुनिश्चित है। मथुरा अभिलेखों से प्राप्त संकेतों के आधार पर इनका समय ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी माना जा सकता है।

शिवार्य की भगवती 'आराधना' या 'मूलाराधना' नाम की एक ही रचना उपलब्ध है। इस ग्रन्थ में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप — इन चार आराधनाओं का निरूपण किया गया है। इस ग्रन्थ में 2166 गाथायें और चालीस अधिकार हैं। यह ग्रन्थ इतना लोकप्रिय रहा है, जिससे सातवीं शताब्दी से ही इस पर टीकायें और विवृत्तियाँ लिखी जाती रही हैं। अपराजित-सूरि की विजयोदया टीका, आशाधर की मूलाराधनादर्पण टीका, प्रभाचन्द्र की आराधनापंजिका और शिवजित अरुण की भावार्थदीपिका नाम टीकायें उपलब्ध हैं।

शिवार्य आराधना के अतिरिक्त तत्कालीन स्वसमय और परसमय के भी ज्ञाता थे। उन्होंने अपने विषय का उपस्थितकरण काव्यशैली में किया है। धार्मिक विषयों को सरस और चमत्कृत बनाने के लिये अलकृंत शैली का व्यवहार किया है।

आचार्य कुमार या स्वामी कुमार अथवा कार्तिकेय

हरिषेण, श्रीचन्द्र और ब्रह्मनेमिदत्त के कथाकोषों में बताया गया है कि कार्तिकेय ने कुमारावस्था में मुनि-दीक्षा धारण की थी। उनकी बहन का विवाह 'रोहेड' नगर के राजा कौंच के साथ हुआ था और उन्होंने दारुण उपसर्ग सहन कर स्वर्गलोक को प्राप्त किया। वे 'अग्नि' नामक राजा के पुत्र थे।

आचार्य स्वामी कुमार ने 'बारस-अणुवेक्खा' की रचना की। आप ब्रह्मचारी थे, इसी कारण आपने अन्त्य-मंगल के रूप में पाँच बाल-यतियों को नमस्कार किया है। आपने चंचल मन एवं विषय-वासनाओं के विरोध के लिये ये अनुप्रेक्षायें लिखी हैं।

स्वामी कार्तिकेय प्रतिभाशाली, आगम-पारगामी और अपने समय के प्रसिद्ध आचार्य हैं। भट्टारक शुभचंन्द्र ने इस ग्रन्थ पर विक्रम-संवत् 1613 (ईस्वी सन् 1556) में संस्कृत टीका लिखी है। इस टीका में अनेक स्थानों पर ग्रन्थ का नाम 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' दिया है और ग्रन्थकार का नाम 'कार्तिकेय-मुनि' प्रकट किया है।

स्वामी कार्तिकेय आचार्य गृद्धपिच्छ के समकालीन अथवा कुछ उत्तरकालीन हैं। अर्थात् विक्रम-संवत् की दूसरी-तीसरी शती उनका समय होना चाहिये। द्वादशानुप्रेक्षा में कुल 489 गाथायें हैं। इनमें अध्रुव, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधदुर्लभ और धर्म — इन बारह अनुप्रेक्षाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। प्रसंगवश जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष — इन सात तत्त्वों का स्वरूप भी वर्णित है। जीवसमास तथा मार्गणा के निरूपण के साथ, द्वादशव्रत, पात्रों के भेद, दाता के सात गुण, दान की श्रेष्ठता का माहात्म्य, सल्लेखना, दशधर्म, सम्यक्त्व के आठ अंग, बारह प्रकार के तप एवं ध्यान के भेद-प्रभेदों का निरूपण किया गया है। आचार्य-स्वरूप एवं आत्मशुद्धि की प्रक्रिया भी इस ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक समाहित है।

इस ग्रन्थ की अभिव्यंजना बड़ी ही सशक्त है। ग्रन्थकार ने छोटी-सी गाथा में बड़े-बड़े तथ्यों को संजोकर सहजरूप में अभिव्यक्त किया है। भाषा सरल और परिमार्जित है। शैली में अर्थसौष्ठव, स्वच्छता, प्रेषणीयता, सूत्रात्कमता, अलंकारात्मकता समवेत है।

2. सारस्वताचार्य

'सारस्वताचार्यों' से अभिप्राय उन आचार्यों से है, जिन्होंने प्राप्त हुई श्रुत-परम्परा का मौलिक ग्रन्थप्रणयन और टीका-साहित्य द्वारा प्रचार और प्रसार किया है। इन आचार्यों में मौलिक प्रतिभा तो रही है, पर श्रुतधरों के समान अंग और पूर्व-साहित्य का ज्ञान नहीं रहा है। इन आचार्यों में समन्तभद्र पूज्यपाद-देवनन्दि, पात्रकेसरी, जोइन्दु, ऋषिपुत्र, अकलंक, वीरसेन, जिनसेन, मानतुंग, एलाचार्य,

जटासिंहनन्दि, वीरनन्दि, विद्यानन्द आदि आचार्य परिगणित हैं।

सारस्वताचार्यों की प्रमुख विशेषतायें विद्वानों ने निम्नानुसार बताईं हैं—

आगम के मान्य-सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा हेतु तर्क-विषयक ग्रन्थों का प्रणयन, श्रुतधराचार्यों द्वारा संकेतित कर्म-सिद्धान्त, आचार-सिद्धान्त एवं दर्शन-विषयक स्वतन्त्र ग्रन्थों का निर्माण, लोकोपयोगी पुराण, काव्य, व्याकरण, ज्योतिष-प्रभृति विषयों से सम्बद्ध ग्रन्थों का प्रणयन और परम्परा से प्राप्त सिद्धान्तों का पल्लवन, युगानुसारी विशिष्ट प्रवृत्तियों का समावेश करने के हेतु स्वतन्त्र एवं मौलिक-ग्रन्थों का निर्माण, महनीय और सूत्ररूप में निबद्ध रचनाओं पर भाष्य एवं विवृत्तियों का लेखन, संस्कृत की प्रबन्धकाव्य-परम्परा का अवलम्बन लेकर पौराणिक-चरित और व्याख्यानों का ग्रंथन एवं प्राचीन लोककथाओं के साथ ऋतु-परिवर्तन, सृष्टि-व्यवस्था, आत्मा का आवागमन, स्वर्ग-नरक, प्रमुख तथ्यों एवं सिद्धान्तों का संयोजन अन्य दार्शनिकों एवं तार्किकों की समकक्षता प्रदर्शित करने तथा विभिन्न एकान्तवादों की समीक्षा हेतु स्याद्वाद की प्रतिष्ठा करनेवाली रचनाओं का सृजन करना आदि।

प्रमुख और प्रभावक सारस्वत आचार्यों का संक्षिप्त परिचय निम्नानुसार है—

आचार्य समन्तभद्र

सारस्वताचार्यों में सर्वप्रथम स्थान स्वामी 'समन्तभद्र' का है। विद्वानों ने इन्हें श्रुतधराचार्यों के समान महनीय माना है। इन्हें आदि-जैन-संस्कृत कवि एवं स्तुतिकार के साथ-साथ अद्वितीय दार्शनिक एवं न्याय का विशेषज्ञ माना गया है। 'आदिपुराण' के कर्त्ता आचार्य जिनसेन ने इन्हें अपने युग के वादी, वाग्मी, कवि एवं गमक मनीषियों में सर्वश्रेष्ठ माना है तथा लिखा है कि "मैं उन समन्तभद्र को नमस्कार करता हूँ, जो कवियों में ब्रह्मा हैं तथा जिनके वचनरूपी-वज्रपात से मिथ्यातमरूपी-पर्वत चूर-चूर हो जाते हैं।"[23] अनेकों शिलालेखों एवं ग्रन्थों में भी आपका यशोगान मिलता है।

इन्हें दक्षिणभारत के चोलवंश का राजकुमार अनुमानित किया गया है। कहा जाता है कि इनके पिता 'उरगपुर' के क्षत्रिय-राजा थे, जोकि कावेरी के तट पर बसा हुआ अत्यन्त समृद्ध नगर था। इनका जन्म का नाम 'शांतिवर्मा' बताया जाता है।

विद्वानों ने विभिन्न प्रमाणों के अध्ययनपूर्वक इनका समय ईसा की प्रथम शताब्दी का उत्तरार्द्ध एवं दूसरी शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना है। स्तुतिकाव्य के प्रवर्तक समन्तभद्र आचार्य के द्वारा रचित 11 ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है — 1. वृहत् स्वयम्भूस्तोत्र, 2. स्तुतिविद्या-जिनशतक, 3. देवागमस्तोत्र-आप्तमीमांसा, 4. युक्त्यनुशासन, 5. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 6. जीवसिद्धि, 7. तत्त्वानुशासन, 8. प्राकृतव्याकरण, 9. प्रमाणपदार्थ, 10., कर्मप्राभृतटीका, एवं 11. गन्धहस्तिमहाभाष्य।

इनमें से प्रारम्भ की पाँच रचनायें ही प्राप्त होती हैं, शेष छः रचनायें अनुपलब्ध हैं। न्याय और दर्शन के गूढ़ सिद्धान्तों को लगभग सूत्रात्मक-शैली में काव्य-शास्त्रीय उच्चमानदण्डों के अनुरूप प्रस्तुत कर समन्तभद्राचार्य जैन-आचार्य-परम्परा के शिरोमणि बन गये हैं।

आचार्य सिद्धसेन

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं में मान्य आचार्य 'सिद्धसेन' प्रख्यात दार्शनिक, न्यायवेत्ता एवं कवि थे। आपके द्वारा रचित साहित्य प्राकृत-भाषा में निबद्ध होकर भी व्यापकरूप से विद्वानों में समादृत रहा है। आपकी सूक्तियाँ बड़े-बड़े आचार्यों के द्वारा भी सराही गई हैं।

'प्रभावकचरित' के अनुसार उज्जयिनी नगरी के कात्यायन-गोत्रीय देवर्षि ब्राह्मण की देवश्री पत्नी के उदर से इनका जन्म हुआ था। ये प्रतिभाशाली और समस्त शास्त्रों के पारंगत विद्वान् थे। वृद्धवादी जब उज्जयिनी नगरी में पधारे, तो उनके साथ सिद्धसेन का शास्त्रार्थ हुआ। सिद्धसेन वृद्धवादी से बहुत प्रभावित हुये और उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। गुरु ने इनका दीक्षानाम 'कुमुदचन्द्र' रखा। आगे चलकर ये सिद्धसेन के नाम से प्रसिद्ध हुये।

व्यापक ऊहापोह के बाद विद्वानों ने आचार्य सिद्धसेन का समय विक्रम-संवत् 625 के आस-पास माना है। दिगम्बर-जैन-परम्परा के अनुसार आपके द्वारा रचित ग्रन्थों में 'सन्मति-सूत्र' एवं 'कल्याणमंदिर' स्तोत्र हैं। 'सन्मति-सूत्र' प्राकृत-भाषा में लिखित दर्शन एवं न्याय के तत्त्वों से समन्वित अद्वितीय ग्रन्थ है, जबकि 'कल्याणमंदिर-स्तोत्र' संस्कृत में रचित है। प्रतीत होता है कि इसकी रचना आचार्य सिद्धसेन ने दीक्षा के तुरन्त बाद ही की होगी, क्योंकि इसमें ग्रन्थकर्त्ता के रूप में आपका दीक्षानाम 'कुमुदचन्द्र' प्राप्त होता है।

सिद्धसेन दार्शनिक और कवि दोनों हैं। दोनों में उनकी गति अस्खलित है। जहाँ उनका काव्यत्व उच्चकोटि का है, वहीं उनका उसके माध्यम से दार्शनिक विवचेन भी गम्भीर और तत्त्वप्रतिपादनपूर्ण है। ओजगुण इनकी कविता का विशेष उपकरण है।

आचार्य पूज्यपाद देवनन्दि

अध्यात्मवेत्ता-दार्शनिक, श्रेष्ठ कवि, भिषग् एवं व्याकरण जैसे बहुआयामी वैशिष्ट्यों के धनी आचार्य देवनन्दि अपने अतुलनीय प्रतिभा एवं सिद्धियों के कारण 'पूज्यपाद' के विरुद से विभूषित हुये और कालान्तर में इनका यही नाम अधिक प्रचलित हो गया। कन्नड़ भाषा के कथाग्रन्थों एवं शिलालेखों में देवताओं के द्वारा पूजित चरण होने के कारण इन्हें 'पूज्यपाद' कहा गया है। कहा जाता है कि आपके

माता-पिता कर्नाटक राज्य के 'कोले' नामक ग्राम के निवासी, उच्चकुलीन ब्राह्मण थे, तथा पिता का नाम 'माधवभट्ट' एवं माता का नाम 'श्रीदेवी' था। आप बाल्यकाल से ही दीक्षित माने जाते हैं। आपका स्थितिकाल पाँचवीं शताब्दी ईस्वी माना गया है।

आचार्य पूज्यपाद देवनन्दि ने दशभक्ति, जैनाभिषेक, तत्त्वार्थवृत्ति (सर्वार्थसिद्धि), जैनेन्द्र-व्याकरण, सिद्धिप्रिय-स्तोत्र, इष्टोपदेश तथा समाधिशतक आदि ग्रन्थों की रचना की। इनके अतिरिक्त वैद्यक-सम्बन्धी ग्रन्थ भी आचार्य पूज्यपाद के द्वारा रचित माना जाता है।

उनके वैदुष्य का अनुमान 'सर्वार्थसिद्धि' ग्रन्थ से किया जा सकता है। नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, वेदान्त, बौद्ध आदि विभिन्न दर्शनों की समीक्षा कर इन्होंने अपनी विद्वत्ता प्रकट की है। निर्वचन और पदों की सार्थकता के विवेचन में आचार्य पूज्यपाद की समकक्षता कोई नहीं कर सकता है।

आचार्य स्वामी पात्रकेसरी

महान दार्शनिक कवि स्वामी पात्रकेसरी का जन्म उच्चकुलीन ब्राह्मणवंश में हुआ था, तथा ये किसी राजा के महामात्य-पद पर प्रतिष्ठित थे — ऐसा विद्वान् अनुमान करते हैं। अहिच्छत्र नगर के पार्श्वनाथ भगवान के चैत्यालय में चारित्रभूषण मुनि के मुख से आचार्य समन्तभद्र द्वारा रचित 'देवागम-स्तोत्र' को सुनकर उसका अर्थ विचारकर इनकी जैन-तत्त्वों पर प्रगाढ़ श्रद्धा हो गई, और अंततः वे जैन-मुनि बन गये। कहा जाता है कि हेतु के लक्षण के विषय में उन्हें कुछ संदेह बना रहा, तो रात्रि के अन्तिम प्रहर में उन्हें एक स्वप्न आया कि पार्श्वनाथ स्वामी के मंदिर में प्रतिमा की फणावली पर उन्हें हेतु का लक्षण लिखा हुआ मिल जायेगा, और अगले दिन प्रातःकाल जब वे मन्दिर में पहुँचे, तो उन्हें हेतु का निम्नलिखित लक्षण फणावली पर लिखा हुआ मिला—

"अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।।"

इसके बाद स्वामी पात्रकेसरी ने जैन-दर्शन एवं न्याय के विषय में अपना लेखन प्रारम्भ किया, तथा 'त्रिलक्षण-कदर्थन' नामक ग्रन्थ की रचना की। इसके अतिरिक्त 'पात्रकेसरी-स्तोत्र' नामक रचना भी आपने की, जोकि उपलब्ध है; जबकि 'त्रिलक्षण-कदर्थन' उल्लेखमात्र शेष है। आपको ईस्वी सन् की छठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का मनीषी-साधक माना जाता है।

समकालीन समस्त दर्शनों की मान्यताओं का न्यायशास्त्रीय रीति से प्रभावी समीक्षण करते हुये जैन-दर्शन की अवधारणाओं की तर्क और युक्तिसहित पुष्टि करने में स्वामी पात्रकेसरी का अतिमहत्त्वपूर्ण स्थान है।

आचार्य जोइंदु

अपभ्रंश-भाषा में जैन-वाङ्मय के प्रथम-प्रणेता के रूप में आचार्य जोइंदु का नाम विश्वविख्यात है। आपका वास्तविक नाम 'योगीन्द्र' था, जिसका अपभ्रंश-रूप 'जोइंदु' परमात्म-प्रकाश नामक ग्रंथ में उल्लिखित मिलता है, इसीसे आपका नाम जोइंदु प्रचलित हो गया। अपभ्रंश-भाषा के नियमों की दृष्टि से भी 'योगीन्द्र' का 'जोइंदु' रूप ही सही बैठता है। इस विषय में डॉ. सुदीप जैन ने अपने शोध-ग्रंथ[24] में व्यापक प्रमाणपूर्वक सिद्धि की है।

आचार्य जोइंदु के जीवन के बारे में कोई भी प्रमाण नहीं मिलता। एकमात्र सम्पर्कसूत्र ग्रंथ की रचना का निमित्त 'भट्टप्रभाकर' का उल्लेख है, किन्तु यह भी कोई ऐतिहासिक व्यक्तित्व नहीं हैं, जिससे इनके व्यक्तित्व-परिचय या काल-निर्णय में कोई मदद मिल सके। इनके काल-निर्णय के बारे में अन्य अंतःसाक्ष्यों एवं बहिर्साक्ष्यों के आधार पर डॉ. सुदीप जैन ने इनका काल छठवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध निर्धारित किया है।[25]

प्रारम्भ में आपकी मात्र दो रचनायें मानी जाती थीं — 'परमात्म-प्रकाश' (परमप्पयासु) एवं 'योगसार' (जोयसारु)। बाद में अपने अनुसंधानकार्य में डॉ. सुदीप जैन ने व्यापक शोधखोजपूर्वक दो ग्रंथ और निकाले हैं, वे हैं — 'अमृताशीति' एवं 'निजात्माष्टक'। इन चार ग्रंथों में से परमात्म-प्रकाश और योगसार अपभ्रंश-भाषा के ग्रंथ हैं, तथा 'अमृताशीति' संस्कृत-भाषा का और 'निजात्माष्टक' प्राकृत-भाषा का ग्रंथ है। इन सभी ग्रंथों पर टीकायें मिलती हैं, और वे प्रकाशित भी हैं।

आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान एवं योगसाधना के विषयों के निरूपण में आचार्य जोइंदु अति विशिष्ट स्थान रखते हैं, तथा पहले इनको मात्र अपभ्रंश-भाषा का कवि माना जाता था; किन्तु अब ये अपभ्रंश के साथ-साथ संस्कृत एवं प्राकृत-भाषा के अधिकारी विद्वान्-कवि सिद्ध होते हैं।

आचार्य विमलसूरि

प्राकृत-भाषा में 'चरित-काव्य' ग्रंथ लिखने वाले कवियों और मनीषियों में आचार्य विमलसूरि का सर्वप्रथम स्थान है। आपकी रचना 'पउमचरियं' का जैन-रामकथा-साहित्य में वही स्थान है, जोकि वैदिक-परम्परा में वाल्मीकि-रामायण का है। इनके द्वारा लिखित रामकथा जैन-परम्परा के अनुरूप तथा अतिकाल्पनिकता से परे व्यावहारिक धरातल पर भगवान् राम का प्रभावी-चरित्र प्रस्तुत करती है।

विमलसूरि का समय विद्वानों ने व्यापक ऊहापोह के बाद चौथी शताब्दी ईस्वी अनुमानित किया है। आचार्य विमलसूरि की दो रचनायें कही जाती हैं — पउमचरियं एवं हरिवंसचरियं। इनमें से 'पउमचरियं' ही विमलसूरि की असंदिग्ध कृति मानी जाती है। इस ग्रंथ में 118 पर्वों एवं सात अधिकारों में सम्पूर्ण रामकथा का समावेश

किया गया है। काव्य-शास्त्रीय मानदण्डों एवं जैन-सिद्धान्तों के सुन्दर समायोजन से अलंकृत यह रचना आचार्य विमलसूरि के अगाध वैदुष्य तथा भावुक कवि-हृदय होने का जीवन्त प्रमाण है। इसका परवर्ती समस्त रामकथा-साहित्य पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। यहाँ तक की वैदिक-परम्परा के कवि गोस्वामी तुलसीदास ने भी अपने 'रामचरितमानस' को इनसे उपकृत माना है, और लिखा है—

जे प्राकृतकवि परम सयाने, भाषों जिन हरिचरित बखाने।
भये जे अहहिं जे होहहिं आगे, प्रनवहुँ सबहिं कपट सब त्यागे।।

इससे आचार्य विमलसूरि की प्रभावोत्पादकता को स्पष्टरूप से परिलक्षित किया जा सकता है।

आचार्य ऋषिपुत्र

आप जैन-ज्योतिष के प्रकाण्ड विद्वान् थे। आपके पिता आचार्य गर्ग भी ज्योतिष के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इनके द्वारा रचित 'पाशकेवली' नामक ग्रंथ पटना के पुस्तकालय में मिलता है। सम्भवतः गर्ग के पुत्र होने के कारण ही इनका नाम 'ऋषिपुत्र' प्रसिद्ध हुआ। आपके द्वारा रचित 'ऋषिपुत्र-संहिता' का उल्लेखमात्र मिलता है। विद्वानों ने विभिन्न प्रमाणों की समीक्षा करके आपका समय ईसा की छठी-सातवीं शताब्दी अनुमानित किया है।

प्राप्त प्रमाणों के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि आचार्य ऋषिपुत्र फलित-ज्योतिष के विशिष्ट विद्वान् थे, तथा इनके उपलब्ध ग्रंथ 'निमित्त-शास्त्र' के आधार पर ही इनके वैदुष्य का अनुमान किया जा सकता है।

आचार्य मानतुंग

भक्ति-साहित्य के सृष्टा आचार्य मानतुंग एक ऐसे अद्वितीय आचार्य हैं, जिनकी प्रतिष्ठा दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों में समानरूप से है। आपके द्वारा रचित 'भक्तामर-स्तोत्र' मात्र 48 'वसंततिलका' पद्यों की संक्षिप्त रचना होते हुये भी यह जैन-समाज में सर्वाधिक प्रचलित एवं गायी जाने वाली रचना है। आपकी रचना की बहुश्रुतता के कारण आपके बारे में दोनों सम्प्रदायों में अनेक प्रकार की कथायें प्रचलित हो गईं, किन्तु आपका व्यक्तित्व एवं कृतित्व अपने आप में पर्याप्त प्रतिष्ठा रखता है, और इन कथाओं से उसे प्रतिष्ठा की अपेक्षा नहीं है। भाषा-शैली, अलंकार, गेयता एवं प्रभावोत्पादकता आदि की दृष्टि से आचार्य मानतुंग द्वारा रचित 'भक्तामर-स्तोत्र' एक अद्वितीय काव्य है, जिसको अन्तर्राष्ट्रीय-प्रतिष्ठा प्राप्त है।

विद्वानों ने व्यापक चिंतन के बाद आपका काल सम्राट् श्रीहर्ष के निकट माना है। अतः हम इन्हें ईसा की सातवीं शताब्दी का विद्वान् मान सकते हैं। आपकी रचना भक्ति, दर्शन एवं काव्यत्व की पावन त्रिवेणी है।

आचार्य रविषेण

जैन-रामकथा को संस्कृत-भाषा में प्रस्तुत करने वाले आचार्य रविषेण संस्कृत-भाषा में 'जैन-चरितकाव्य' लिखने वाले महत्त्वपूर्ण आचार्य हैं। आपके गण-गच्छ आदि का कोई उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु आपके नाम से प्रतीत होता है कि आप सेनसंघ के आचार्य थे। विद्वानों ने आपके गुरु का नाम आचार्य 'लक्ष्मणसेन' बताया है। आपके द्वारा रचित 'पदम्-चरितम्' में वर्णित प्रकृति और पर्यावरण के तत्त्वों के आधार पर आपको दक्षिण-भारतीय अनुमानित किया जाता है। आपने अपनी रचना विक्रम-संवत् 734 के वैशाख मास के शुक्ल-पक्ष में पूर्ण बताई है। अत: इनका काल विक्रम की आठवीं शताब्दी असंदिग्धरूप से माना जा सकता है।

इनकी रचना यद्यपि आचार्य विमलसूरि के 'पउमचरियं' पर आधारित है, तथापि विषय-वस्तु, प्रतिपादन-शैली एवं भाषा आदि की दृष्टि से इसमें पर्याप्त मौलिकता समाहित है। छ: खण्डों और 123 पर्वों में निबद्ध इस कथा-ग्रंथ में रामकथा का जैन-दृष्टि से विस्तृत वर्णन हुआ है। भाषिक तत्त्वों तथा काव्य-शास्त्रीय मानदण्डों के आधार पर यह किसी भी उत्कृष्ट संस्कृत-महाकाव्य के तुल्य माना जाता है।

आचार्य जटासिंहनन्दि

'वरांगचरित' नामक अतिविशिष्ट चरितकाव्य के द्वारा प्रतिष्ठा प्राप्त आचार्य जटासिंहनन्दि का उल्लेख अनेकों प्रतिष्ठित जैनाचार्यों ने आदर एवं बहुमान के साथ किया है। इससे आपकी प्रतिष्ठा और गरिमा का स्पष्ट अवबोध होता है। आपका नाम प्राय: 'जटाचार्य' मिलता है। कहीं-कहीं आपको 'जटिलाचार्य' या 'जटिलमुनि' के नाम से भी उल्लिखित किया गया है, किन्तु 'चामुण्डराय' ने आपको आचार्य 'जटासिंहनन्दि' के पूर्ण नाम से वर्णित किया है। प्राप्त उल्लेखों के अनुसार दक्षिण-भारत के कर्नाटक प्रान्त के 'कोप्पल' ग्राम में आपकी समाधि हुई थी। अत: आपने अपना जीवन दक्षिण-भारत में ही व्यतीत किया होगा। 'वरांगचरित' में प्राप्त वर्णनों के आधार पर भी आपके दाक्षिणात्य होने की पुष्टि होती है।

विद्वानों ने पौर्वापर्य साक्ष्यों के अनुशीलन के बाद आपका समय ईसा की सातवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध एवं आठवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध निर्धारित किया है। आपकी एकमात्र रचना 'वरांगचरित' ही आपकी अक्षय यशोगाथा का प्रमाण है। विद्वानों ने इसे पौराणिक-महाकाव्य माना है। इसमें आपकी अपूर्व काव्य-प्रतिभा परिलक्षित होती है।

आचार्य अकलंकदेव

बौद्धों के चरम प्रभाव के युग में जैन-दर्शन तत्त्वज्ञान एवं सिद्धान्तों की

तर्कयुक्ति और न्यायपूर्वक अकाट्य-रीति से सिद्धि करने वाले आचार्य अकलंकदेव जैन-न्याय के क्षेत्र में अत्यधिक प्रतिष्ठित आचार्य हैं।

अकलंक मान्यखेट के राजा, शुभतुंग के मन्त्री 'पुरुषोत्तम' के पुत्र थे। 'राजावलिकथे' में इन्हें कांची के 'जिनदास' नामक ब्राह्मण का पुत्र कहा गया हैं पर 'तत्त्वार्थवार्तिक' के प्रथम अध्याय के अन्त में उपलब्ध प्रशस्ति से ये 'लघुहव्वनृपति' के पुत्र प्रतीत होते हैं।

कांचीपुरी में बौद्धधर्म के पालक पल्लवराज की छत्रछाया में अकलंक ने बौद्धन्यास का अध्ययन किया। अकलंक शास्त्रार्थी विद्वान् थे। इन्होंने दीक्षा लेकर सुधापुर के देशीयगण का आचार्य-पद सुशोभित किया। अकलंक ने हिमशीतल राजा की सभा में शास्त्रार्थ कर तारादेवी को परास्त किया। ब्रह्म नेमिदत्तकृत 'आराधनाकथाकोष' और 'मल्लिषेण-प्रशस्ति' से भी उक्त तथ्य पुष्ट होता है।

विद्वानों के अनुमानों से अकलंक का समय सातवीं शती का उत्तरार्द्ध सिद्ध होता है। अकलंकदेव की रचनायें दो वर्गों में विभाजित हैं — 1. स्वतन्त्र-ग्रंथ, एवं 2. टीका-ग्रन्थ। स्वतन्त्र-ग्रंथ में स्वोपज्ञवृत्तिसहित लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय-सवृत्ति, सिद्धिविनिश्चय-सवृत्ति एवं प्रमाणसंग्रह-सवृत्ति रचनायें आती हैं, जबकि टीका-ग्रन्थों में तत्त्वार्थवार्तिक-सभाष्य एवं अष्टशती अपरनाम देवागमविवृत्ति हैं।

अकलंकदेव का उनकी रचनाओं पर से षड्दर्शनों का गम्भीर और सूक्ष्म-चिन्तन अवगत होता है एवं शैली की दृष्टि से अकलंक निश्चय ही उद्योतकर और धर्मकीर्ति के समकक्ष हैं।

आचार्य एलाचार्य

एलाचार्य का स्मरण आचार्य 'वीरसेन' ने विद्यागुरु के रूप में किया है। वीरसेन ने 'जयधवलाटीका' में एलाचार्य का स्मरण किया है, तथा उनकी कृपा से प्राप्त आगम-सिद्धान्त को लिखे जाने का निर्देश किया है।

इनके समय का निर्धारकरूप से बड़ा प्रमाण यही है कि वीरसेन ने उन्हें अपना गुरु बताया है, और उन्हीं के आदेश से सिद्धान्त-ग्रन्थों का प्रणयन किया है। अतः एलाचार्य वीरसेन के समकालीन अथवा कुछ पूर्ववर्ती हैं। वीरसेन ने धवलाटीका शक-संवत् 738 (ईस्वी सन् 819) में समाप्त की थी। अतएव एलाचार्य आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और नवमी शती के पूर्वार्द्ध के विद्वानाचार्य हैं।

एलाचार्य के ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, और न कोई ऐसी कृति ही उपलब्ध है, जिसमें एलाचार्य की कृतियों के उद्धरण ही मिलते हों। फिर भी आ. वीरसेन के गुरु होने के कारण ये सिद्धान्तशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् थे, इसमें सन्देह नहीं है।

आचार्य वीरसेनाचार्य

बहुआयामी ज्ञान-विज्ञान के साथ-साथ अगाध कवित्व-प्रतिभा के धनी आचार्य वीरसेन जैन-आचार्य-परम्परा के अद्वितीय मनीषी हैं, जिन्हें समस्त परवर्ती आचार्यों और मनीषियों ने अत्यन्त बहुमान के साथ स्मरण किया है। आपके द्वारा 'षट्खण्डागम' आदि सिद्धान्त-ग्रंथों पर रचित टीका-साहित्य विश्व-भर के व्याख्या-साहित्य में अद्वितीय स्थान रखता है। इतना ही नहीं, व्याख्या-साहित्य के मानदण्ड भी आपके द्वारा निर्धारित किये गये हैं, तथा इस विद्या के अनेकों अभिनव प्रयोग इनके व्याख्या-साहित्य में स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं।

आप 'पंचस्तूपान्वय' के आचार्य 'आर्यनन्दि' के द्वारा दीक्षित थे, तथा आपके विद्यागुरु का नाम 'एलाचार्य' था। गुरु की आज्ञा से आपने 'वाटग्राम' (बड़ौदा) के 'आनतेन्द्र-जिनालय' में 'बप्पदेव' द्वारा निर्मित सिद्धान्त-ग्रन्थ की टीका का अध्ययन कर उन्होंने कुल 72,000 श्लोकप्रमाण 'षट्खण्डागम' की धवलाटीका लिखी। तत्पश्चात् 'कषायप्राभृत' की चार विभक्तियों की 20,000 श्लोकप्रमाण ही जयधवलाटीका लिखे जाने के उपरान्त उनका स्वर्गवास हो गया, और उनके शिष्य जिनसेन द्वितीय ने अवशेष जयधवलाटीका 40,000 श्लोकप्रमाण लिखकर पूरी की।

अनेक विद्वानों के विभिन्न अनुमानों के बीच आचार्य वीरसेन का समय ईस्वी सन् की नौवीं शताब्दी (ईस्वी सन् 816) माना है। इनकी दो ही रचनायें उपलब्ध हैं। इन दोनों में से एक पूर्ण रचना है, और दूसरी अपूर्ण। इन्होंने 72,000 श्लोकप्रमाण प्राकृत और संस्कृत-मिश्रित भाषा में मणि-प्रवालन्याय से 'धवला' टीका लिखी है। वीरसेनस्वामी ने 92,000 श्लोकप्रमाण रचनायें लिखी हैं। एक व्यक्ति अपने जीवन में इतना अधिक लिख सका, यह आश्चर्य की बात है। इन टीकाओं से वीरसेन की विशेषज्ञता के साथ बहुज्ञता भी प्रकट होती है।

वीरसेनाचार्य ने अकेले वह कार्य किया है, जो कार्य 'महाभारत' के रचयिता ने किया है। महाभारत का प्रमाण एक लाख श्लोक है, और यह टीका भी लगभग इतनी ही बड़ी है। अतएव 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचिद्' उक्ति यहाँ भी चरितार्थ है।

आचार्य जिनसेन द्वितीय

आचार्य जिनसेन द्वितीय, श्रुतधर और प्रबुद्धाचार्य के बीच की कड़ी होने के कारण इनका स्थान सारस्वताचार्यों में परिगणित है। ये प्रतिभा और कल्पना के अद्वितीय धनी हैं। यही कारण है कि इन्हें 'भगवत् जिनसेनाचार्य' कहा जाता है। श्रुत या आगम-ग्रन्थों की टीका रचने के अतिरिक्त मूलग्रन्थरचयिता भी हैं।

इनके वैयक्तिक जीवन के सम्बन्ध में विशेष जानकारी अप्राप्त है।

जयधवलाटीका के अन्त में दी गयी पद्य-रचना से इनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त होती है। इन्होंने बाल्यकाल में (अबिद्धकर्ण—कर्णसंस्कार के पूर्व) ही जिनदीक्षा ग्रहण कर ली थी। कठोर ब्रह्मचर्य की साधना द्वारा वाग्देवी की आराधना में तत्पर रहे। इनका शरीर कृश था, आकृति भी भव्य और रम्य नहीं थी। बाह्य व्यक्तिव के मनोरम न होने पर भी तपश्चरण, ज्ञानाराधना एवं कुशाग्र बुद्धि के कारण इनका अन्तरंग व्यक्तित्व बहुत ही भव्य था। ये ज्ञान और अध्यात्म के अवतार थे।

जिनसेन मूलसंघ के पंचस्तूपान्वय के आचार्य हैं। इनके गुरु का नाम वीरसेन और दादागुरु का नाम आर्यनन्दि था। वीरसेन के एक गुरुभाई जयसेन थे। यही कारण है कि जिनसेन ने अपने आदिपुराण में 'जयसेन' का भी गुरुरूप में स्मरण किया है।

जिनसेन का चित्रकूट, वंकापुर और बटग्राम से सम्बन्ध रहा है।[26] वंकापुर उस समय वनवास देश की राजधानी थी, जो वर्तमान में धारवाड़ जिले में है। चित्रकूट भी वर्तमान 'चित्तौड़' से भिन्न नहीं है। इसी चित्रकूट में एलाचार्य निवास करते थे, जिनके पास जाकर वीरसेनास्वामी ने सिद्धान्तग्रन्थ का अध्ययन किया था।

विद्वानों द्वारा लगाये गये विभिन्न समय-अनुमानों में इनका समय ईस्वी सन् की आठवीं शती का उत्तरार्द्ध सिद्ध हुआ है। इनकी केवल तीन ही रचनायें उपलब्ध है — 1. पार्श्वाभ्युदय, 2. आदिपुराण एवं 3. जयधवलाटीका।

आचार्य विद्यानन्दि

आचार्य विद्यानन्दि ऐसे सारस्वत आचार्य हैं, जिन्होंने प्रमाण और दर्शन-सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना कर श्रुत-परम्परा को गतिशील बनाया है। इनके जीवनवृत्त के सम्बन्ध में प्रामाणिक इतिवृत्त ज्ञात नहीं है। 'राजावलिकथे' में आ. विद्यानन्दि का उल्लेख आता है और संक्षिप्त जीवन-वृत्त भी उपलब्ध होता है, पर वे सारस्वताचार्य विद्यानन्दि नहीं हैं, परम्परा-पोषक विद्यानन्दि हैं।

आचार्य विद्यानन्दि की रचनाओं के अवलोकन से यह अवगत होता है, कि ये दक्षिण-भारत कर्नाटक प्रान्त के निवासी थे। इसी प्रदेश को इनकी साधना और कार्यभूमि होने का सौभाग्य प्राप्त है। किंवदन्तियों के आधार पर यह माना जात है कि इनका जन्म ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। इन्होंने कुमारावस्था में ही वैशेषिक, न्याय, मीमांसा, वेदान्त आदि दर्शनों का अध्ययन कर लिया था।

सारस्वताचार्य विद्यानन्दि की कीर्ति ईस्वी सन् की 10वीं शताब्दी में ही व्याप्त हो चुकी थी। उनके महनीय व्यक्तित्व का सभी पर प्रभाव था। दक्षिण से उत्तर तक उनकी प्रखर न्यायप्रतिभा से सभी आश्चर्यचकित थे।

विद्यानन्दि गंगनरेश शिवमार द्वितीय (ईस्वी सन् 810) और राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम (ईस्वी सन् 813) के समकालीन हैं, और इन्होंने अपनी कृतियाँ प्राय: इन्हीं के राज्य-समय में बनायी हैं। आचार्य विद्यानन्दि का समय ईस्वी सन्

775-840 ईस्वी प्रमाणित होता है।[27]

आचार्य विद्यानन्दि की रचनाओं को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है— 1. स्वतन्त्र-ग्रंथ, एवं 2. टीका-ग्रंथ। स्वतन्त्र-ग्रंथ में आप्तपरीक्षा स्वोपज्ञवृत्तिसहित, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र एवं विद्यानन्दमहोदय रचनायें आती हैं, जबकि टीका-ग्रंथों में अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक एवं युक्त्यनुशासनालंकार रचनायें हैं।

आचार्य देवसेन

देवसेन ने भी प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश-भाषा में रचनाओं का प्रणयन किया होगा। उनकी सरस्वती-आराधना का काल विक्रम-संवत् 990 (ईस्वी सन् 933) से विक्रम-संवत् 1012 (ई. सन् 955) तक है। दर्शनसार, भावसंग्रह, आराधनासार, तत्त्वसार, आलापपद्धति, लघुनयचक्र आदि ग्रन्थों के रचयिता विमलसेनगणि शिष्य देवसेनगणि हैं।

आचार्य अमितगति प्रथम

नेमिषेण गुरु तथा देवसेन के शिष्य अमितगति 'प्रथम अमितगति' हैं। इन्होंने प्रथम अमितगति को 'त्यक्तनि:शेषशंग' विशेषण देकर अपने को उनसे पृथक् सिद्ध किया है। अमितगति द्वितीय का समय विक्रम-संवत् 1050 है। इनके द्वारा उल्लिखित अमितगति, प्रथम इनसे दो पीढ़ी पूर्व होने से उनका समय विक्रम-संवत् 1000 निश्चित होता है।

इनका एकमात्र 'योगसारप्राभृत' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जो प्रकाशित हो चुका है। यह ग्रन्थ 9 अधिकारों में विभक्त है — 1. जीवाधिकार, 2. अजीवाधिकार, 3. आस्रवाधिकार, 4. बन्धाधिकार, 6. संवराधिकार, 7. निर्जराधिकार, 7. मोक्षाधिकार, 8. चारित्राधिकार एवं नवम अधिकार को नवाधिकार या नवमाधिकार के नाम से उल्लिखित किया है। इस अधिकार की संज्ञा चूलिकाधिकार के रूप में की गयी है।

योग-सम्बन्धी ग्रन्थों में 'योगसारप्राभृत' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नि:सन्देह योग के अध्ययन, मनन और चिन्तन के लिये यह नितान्त उपादेय है।

आचार्य अमितगति द्वितीय

आचार्य अमितगति द्वितीय भी प्रथितयश सारस्वताचार्य हैं। ये माथुर-संघ के आचार्य थे। दर्शनसारकर्त्ता देवसेन ने अपने 'दर्शनसार' में माथुर-संघ को जैनाभासों में परिगणित किया है। इन्हें नि:पिच्छिक भी कहा गया है, क्योंकि इस संघ के मुनि मयूरपिच्छि नहीं रखते थे। यह संघ काष्ठासंघ की एक शाखा है। इस संघ की उत्पत्ति वीरसेन के शिष्य कुमारसेन द्वारा हुई है। श्री पण्डित विश्वेश्वरनाथ ने अमितगति द्वितीय को वाक्पतिराज मुज की सभा के एक रत्न के रूप में स्वीकार किया है।

अमितगति बहुश्रुत आचार्य थे। उन्होंने विविध विषयों पर ग्रन्थों का निर्माण किया है। काव्य, न्याय, व्याकरण, आचार-प्रभृति अनेक विषयों के विद्वान् थे। इन्होंने 'पंचसंग्रह' की रचना 'मसूतिकापुर' में की थी। यह स्थान 'धार' से सात कोस दूर 'मसीदकिलौदा' नामक गाँव बताया जाता है। अमितगति का समय विक्रम-संवत् की 11वीं शताब्दी है। अमितगति की अनेक रचनायें मानी जाती है पर जिन्हें निर्विवादरूप से अमितगति की रचना माना गया है, वे हैं — सुभाषितरत्नसंदोह, धर्मपरीक्षा, उपासकाचार, पंचसंग्रह, आराधना, भावनाद्वात्रिंशतिका, चन्द्र-प्रज्ञप्ति एवं व्याख्या-प्रज्ञप्ति।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त लघु एवं वृहत् सामायिक पाठ, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ग्रन्थ भी इनके द्वारा रचे गये माने जाते हैं। 'सामायिक पाठ' में 120 पद्य हैं। इनमें सामायिक का स्वरूप, विधि और महत्त्व प्रतिपादित किया गया है।

आचार्य अमृतचन्द्रसूरि

सारस्वताचार्यों में टीकाकार अमृतचन्द्रसूरि का वही स्थान है, जो स्थान संस्कृत-काव्यरचयिताओं में कालिदास के टीकाकार मल्लिनाथ का है। कहा जाता है कि यदि मल्लिनाथ न होते, तो कालिदास के ग्रन्थों के रहस्य को समझना कठिन हो जाता। उसी तरह यदि अमृतचन्द्रसूरि न होते, तो आचार्य कुन्दकुन्द के रहस्य को समझना कठिन हो जाता। अतएव कुन्दकुन्द आचार्य के व्याख्याता के रूप में और मौलिक ग्रन्थ-रचयिता के रूप में अमृतचन्द्रसूरि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। निश्चयत: इन आचार्य की विद्वत्ता, वाग्मिता और प्रांजल शैली अप्रतिम है। इनका परिचय किसी *भी कृति में प्राप्त नहीं होता है; पर कुछ ऐसे संकेत अवश्य मिलते हैं, जिनसे इनके* व्यक्तित्व का निश्चय किया जा सकता है।

आध्यात्मिक विद्वानों में कुन्दकुन्द के पश्चात् यदि आदरपूर्वक किसी का नाम लिया जा सकता है, तो वे अमृतचन्द्रसूरि ही हैं। ये बड़े निस्पृह आध्यात्मिक आचार्य थे।

पंडित आशाधर ने अमृतचन्द्रसूरि का उल्लेख 'ठक्कुर पद' के साथ किया है। ठक्कुर का प्रयोग जागीरदार या जमींदारों के लिये होता है। इससे निश्चित है कि वे किसी सम्मानित कुल के व्यक्ति थे। संस्कृत और प्राकृत इन दोनों ही भाषाओं पर इनका पूर्ण अधिकार था। ये मूलसंघ के आचार्य थे।

पट्टावली में अमृतचन्द्र के पट्टारोहण का समय विक्रम-संवत् 962 दिया है, जो ठीक प्रतीत होता है। अमृतचन्द्रसूरि की रचनायें दो भागों में विभक्त हैं, जो इस प्रकार हैं, 1. मौलिक रचनायें — पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, तत्त्वार्थसार, समयसारकलश; एवं 2. टीका-ग्रन्थ — समयसार-टीका, प्रवचनसार-टीका, पंचास्तिकाय-टीका।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती

सिद्धान्तग्रन्थों के अभ्यासी को 'सिद्धान्तचक्रवर्ती' का पद प्राचीन समय से ही

दिया जाता रहा है। वीरसेनस्वामी ने 'जयधवला' की प्रशस्ति में लिखा है कि भरत-चक्रवर्ती की आज्ञा के समान जिनकी भारती 'षट्खण्डागम' में स्खलित नहीं हुई। अनुमान है कि वीरसेनस्वामी के समय से ही सिद्धान्तविषयज्ञ को 'सिद्धान्तचक्रवर्ती' कहा जाने लगा है। निश्चयतः आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तग्रन्थों के अधिकारी विद्वान् थे। यही कारण है कि उन्होंने धवलासिद्धान्त का मंथन कर 'गोम्मटसार' और जयधवला-टीका का मंथन कर 'लब्धिसार' ग्रन्थ की रचना की है।

आचार्य नेमिचन्द्र देशीयगण के हैं। इन्होंने अभयनन्दि, वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि को अपना गुरु बतलाया है। वस्तुतः अभयनन्दि के वीरनन्दि, इन्द्रनन्दि और नेमिचन्द्र — ये तीनों ही शिष्य थे। वयः और ज्ञान में लघु होने के कारण नेमिचन्द्र ने वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि से भी अध्ययन किया होगा।

आचार्य नेमिचन्द्र का शिष्यत्व चामुण्डराय ने ग्रहण किया था। यह चामुण्डराय गंगवंशी राजा राचमल्ल का प्रधानमन्त्री और सेनापति था। उसने अनेक युद्ध जीते थे और उसके उपलक्ष्य में अनेक उपाधियाँ प्राप्त की थीं। वह 'वीरमार्त्तण्ड' कहलाता था। 'गोम्मटसार' में 'सम्मत्तरयणणिलय' — सम्यक्त्वरत्ननिलय, 'गुणरयणभूषणं'- गुणरत्नभूषण, 'सत्ययुधिष्ठिर'[28], 'देवराज'[29] आदि विशेषणों का प्रयोग किया है। इन चामुण्डराय ने श्रवणबेलगोला (मेसूर) में स्थित विन्धयगिरि पर्वत पर बाहुबलि स्वामी की 50 फीट ऊँची अतिशय मनोज्ञ प्रतिमा प्रतिष्ठित की थी।

चामुण्डराय का घरेलू नाम 'गोम्मट' था। उनके इस नाम के कारण ही उनके द्वारा स्थापित बाहुबलि की मूर्ति गोम्मटेश्वर के नाम से प्रसिद्ध हुई है। इसी 'गोम्मट' उपनामधारी चामुण्डराय के लिये नेमिचन्द्राचार्य ने अपने 'गोम्मटसार' नामक ग्रन्थ की रचना की है। अतएव यह स्पष्ट है कि गंगनरेश राचमल्लदेव के प्रधान सचिव और सेनापति चामुण्डराय का आचार्य नेमिचन्द्र के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है।

आचार्य नेमिचन्द्र का समय ईस्वी सन् की 10वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध या विक्रम-संवत् 11वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। आचार्य नेमिचन्द्र आगमशास्त्र के विशेषज्ञ हैं। इनकी प्रसिद्ध रचनायें हैं — गोम्मटसार, त्रिलोकसार, लब्धिसार, एवं क्षपणासार।

आचार्य नरेन्द्रसेन

अमृतचन्द्र के 'तत्त्वार्थसार' की शैली पर आचार्य नरेन्द्रसेन ने 'सिद्धान्तसार-संग्रह' नामक ग्रन्थ रचा है। शैली में समानता होने पर भी दोनों के नामों के अनुरूप विषय में अन्तर है। तत्त्वार्थसार 'तत्त्वार्थसूत्र' के अनुरूप है, पर 'सिद्धान्तसार-संग्रह' में सिद्धान्त-सम्बन्धी ऐसे विषय चर्चित हैं, जो 'तत्त्वार्थसूत्र' और उसकी टीकाओं के अतिरिक्त अन्यत्र भी प्राप्त हैं।

लाडवागड़ संघ में 'धर्मसेन' नाम के दिगम्बर मुनिराज हुये। उनके पश्चात् क्रमशः शान्तिषेण, गोपसेन, भावसेन, जयसेन, ब्रह्मसेन और वीरसेन हुये। वीरसेन के

शिष्य गुणसेन हुये और गुणसेन के शिष्य नरेन्द्रसेन हुये। नरेन्द्रसेन 'धर्मरत्नाकर' के कर्त्ता जयसेन के वंशज हैं। नरेन्द्रसेन को विक्रम की 12वीं शताब्दी के द्वितीय चरण का विद्वान् मानना उचित है। नरेन्द्रसेन भी अमितगति के समान काष्ठसंघी ही प्रतीत होते हैं। काष्ठासंघ में नन्दितट, माथुर, बागड़ और लाटवागड़ या झाडवागड़ — ये चार प्रसिद्ध गच्छ हुये हैं।

नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती द्वारा विरचित 'गोम्मटसार' तथा 'त्रिलोकसार' का भी उपयोग नरेन्द्रसेन ने अपनी रचना में किया प्रतीत होता है। इसकी एक ही रचना उपलब्ध है — सिद्धान्तसार-संग्रह। यह ग्रन्थ 12 अध्यायों में विभाजित है, और संस्कृत-भाषा में अनुष्टुप छन्दों में लिखा गया है। प्रत्येक अध्याय के अन्त में छन्द-परिवर्तन हुआ है, और पुष्पिका में 'सिद्धान्तसार-संग्रह' यह नाम दिया गया है। निश्चयत: इस ग्रन्थ में 'तत्त्वार्थसार' की अपेक्षा अनेक विषयों का समावेश है। 'तत्त्वार्थसार' में चर्चित विषयों का विस्तारपूर्वक कथन किया ही गया है।

आचार्य नेमिचन्द्र मुनि

'द्रव्यसंग्रह' के रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती से भिन्न अन्य कोई नेमिचन्द्र हैं, जिन्हें नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव या नेमिचन्द्रमुनि कहा गया है। 'द्रव्यसंग्रह' के रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव का समय विक्रम-संवत् की 12वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। अर्थात् ईस्वी सन् की 11वीं शती का अन्तिम पाद है।

नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव की दो ही रचनायें उपलब्ध हैं — 1. लघुद्रव्यसंग्रह, और 2. वृहद्द्रव्यसंग्रह। ग्रन्थकार ने इसमें बहुत संक्षेप में जैनदर्शन के प्रमुख तत्त्वों का कथन किया है।

आचार्य सिंहनन्दि

गंग-राजवंश की स्थापना में सहायता देनेवाले आचार्य सिंहनन्दि विशेष उल्लेखनीय हैं। गंगवंश का सम्बन्ध प्राचीन 'इक्ष्वाकुवंश' से माना जाता है। मूलत: यह वंश उत्तर या पूर्वोत्तर का स्वामी था। ईस्वी सन् की दूसरी शताब्दी के लगभग *इस वंश के दो राजकुमार दक्षिण में आये। उनके नाम 'दडिग' और 'माधव' थे।* 'पेरूर' नामक स्थान में उनकी भेंट जैनाचार्य सिंहनन्दि से हुई। सिंहनन्दि ने उनकी योग्यता और शासनक्षमता देखकर उन्हें शासनकार्य की शिक्षा दी।

सिंहनन्दि को मूलसंघ कुन्दकुन्दान्वय, काणूरगण और मेषपाषाणगच्छ का आचार्य तथा दक्षिणवासी बताया है। सिंहनन्दि के प्रभाव से ही गंगराजाओं ने जैनधर्म को संरक्षण प्रदान किया था। ये आगम, तर्क, राजनीति और व्याकरण-शास्त्र आदि विषयों के ज्ञाता थे। इनका समय ई. सन् की द्वितीय शताब्दी है।

उपर्युक्त उल्लेखों से विदित है कि गंगवंश-संस्थापक सिंहनन्दि राजनीति के

साथ आगम-शास्त्र के भी ज्ञाता थे। अत: असम्भव नहीं कि इनकी रचनायें भी रही हों, जो आज उपलब्ध नहीं हैं।

आचार्य सुमति

आचार्य सुमतिदेव का उल्लेख सन्मति-टीकाकार के रूप में पाया जाता है। सुमतिदेव की यह टीका 11वीं शताब्दी के श्वेताम्बराचार्य अभयदेव की टीका से लगभग तीन शताब्दी पहले की होनी चाहिये।[30]

श्रवणबेलगोला के अभिलेख-संख्या 54 में भी सुमतिदेव का उल्लेख आया है; यह अभिलेख शक-संवत् 1050 का है। सुमतिदेव अच्छे प्रभावशाली तार्किक हुये हैं, जिनका स्थितिकाल 8वीं शताब्दी के लगभग रहा है। तत्त्वसंग्रह और शिलालेख के उल्लेख बतलाते हैं कि आचार्य सुमतिदेव प्रमाण और नय के विशिष्ट विद्वान् हैं। तार्किक के रूप में इनकी ख्याति आठवीं, नौवीं शताब्दी में पूर्णतया व्याप्त रही है।

आचार्य कुमारनन्दि

आज कुमारनन्दि की कोई रचना उपलब्ध नहीं है। पर उनके तथा उनके ग्रन्थ के उल्लेख कई स्थानों पर प्राप्त होते हैं। आचार्य विद्यानन्दि ने अपने ग्रन्थ प्रमाण-परीक्षा, पत्र-परीक्षा और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में कुमारनन्दि का उल्लेख किया है। आचार्य विद्यानन्दि के उद्धरणों से प्रकट है कि कुमाननन्दि विद्यानन्द के पूर्ववर्ती आचार्य हैं। इन्होंने वादन्याय का प्रणयन किया था, जिसकी कतिपय कारिकायें विद्यानन्दि ने अपने ग्रन्थों में उद्धृत की हैं। नागमंगल-ताम्रपत्र में भी कुमारनन्दि का उल्लेख आया है।

कुमारनन्दि को 'समस्त विद्वल्लोक का परिरक्षक' और 'मुनिपति' कहा है। इससे सम्भावना है कि विद्यानन्दि द्वारा उल्लिखित और वादन्याय के कर्त्ता तार्किक कुमारनन्दि का ही इसमें गुणकीर्त्तन है। इसमें इतना स्पष्ट है, कि आचार्य कुमारनन्दि एक प्रभावशाली तार्किक एवं 'वादन्यायविचक्षण'-ग्रन्थकार थे।

आचार्य वज्रसूरि

ये वज्रसूरि देवन्दि-पूज्यपाद के शिष्य द्राविड़ संघ के संस्थापक वज्रनन्दि जान पड़ते हैं। 'हरिवंशपुराण' में इनके सम्बन्ध में कहा है—

वज्रसूरेर्विचारिण्यः सहेत्वोर्बन्धमोक्षयोः।
प्रमाणं धर्मशास्त्राणां प्रवक्तृणामिवोक्तयः॥

अर्थात् जो हेतु-सहित बन्ध और मोक्ष का विचार करनेवाली हैं, ऐसी श्री वज्रसूरि की उक्तियाँ धर्मशास्त्रों का व्याख्यान करने वाले गणधरों की उक्तियों के समान प्रमाणरूप हैं।

इस उल्लेख से स्पष्ट है कि वज्रसूरि के वचन गणधरों के समान मान्य थे। दर्शनसार के उल्लेखानुसार इनका समय छठी शती ईस्वी प्रतीत होता है।

आचार्य यशोभद्र

प्रखर तार्किक के रूप में जिनसेन ने इनका स्मरण किया है। 'आदिपुराण' में बताया है—

विदुष्विणीषु संसत्सु यस्य नामापि कीर्तितम्।
निखर्वयति तर्दगर्वं यशोभद्रः स पातु नः॥[31]

अर्थात् विद्वानों की सभा में जिनका नाम कह देने मात्र से सभी का गर्व दूर हो जाता है, वे यशोभद्र स्वामी हमारी रक्षा करें।

जैनेन्द्र-व्याकरण में "क्व वृषिमृजां यशोभद्रस्य" (2/1/99) सूत्र आया है; अतः जिनसेन के द्वारा उल्लिखित यशोभद्र और देवनन्दि के जैनेन्द्र-व्याकरण में निर्दिष्ट यशोभद्र यदि एक ही हैं, तो इनका समय विक्रम-संवत् छठी शती के पूर्व होना चाहिये।

आचार्य कनकनन्दि

सिद्धान्त-ग्रन्थों के रचयिता के रूप में कनकनन्दि का नाम भी नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के समान समादरणीय है। इन्हें भी 'सिद्धान्त-चक्रवर्ती' कहा गया है। नेमिचन्द्र ने 'गोम्मटसार' की रचना कनकनन्दि से अध्ययन करके की है, और वे उनके गुरु रहे होंगे या 'गुरु' नाम से वे अधिक ख्यात होंगे।

कनकनन्दि द्वारा रचित 'विस्तरसत्त्वत्रिभंगी' नामक ग्रन्थ जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा में वर्तमान है। इस ग्रंथ की कागज पर लिखी गयी दो प्रतियाँ विद्यमान हैं। दोनों की गाथा-संख्या में अन्तर है। एक प्रति में 48 और दूसरी में 51 गाथायें हैं।

कनकनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्त्ती ने 'कर्मकाण्ड' के लिखने में सहयोग प्रदान किया होगा और कुछ गाथायें अधिक जोड़कर उसे स्वतन्त्र ग्रंथ का रूप प्रदान किया होगा। कर्मकाण्ड में कनकनन्दि के मतान्तर को देखने से उक्त कथन पुष्ट होता है। इससे स्पष्ट है कि कनकनन्दि अपने समय के प्रसिद्ध आचार्य हैं।

3. प्रबुद्धाचार्य

'प्रबुद्धाचार्य' से हमारा अभिप्राय ऐसे आचार्यों से है, जिन्होंने अपनी प्रतिभा द्वारा ग्रन्थ-प्रणयन के साथ विवृत्तियाँ और भाष्य भी रचे हैं। यद्यपि 'सारस्वताचार्य' और 'प्रबुद्धाचार्य' — दोनों में ही प्रतिभा का बाहुल्य है, पर दोनों की प्रतिभा के तारतम्य में अन्तर है। जितनी सूक्ष्म निरूपण-शक्ति सारस्वताचार्यों में पायी जाती है, उतनी सूक्ष्म निरूपण-शक्ति प्रबुद्धाचार्यों में नहीं है। कल्पना की रमणीयता या

कल्पना की उड़ान प्रबुद्धाचार्यों में अधिक है, और इस श्रेणी के सभी आचार्य प्राय: कवि हैं। इनका गद्य और पद्य भी अलंकृत-शैली का है। अत: अभिव्यंजना की सशक्त काव्यशक्ति के रहने पर भी सिद्धान्त-निरूपण की वह क्षमता नहीं है, जो क्षमता सारस्वताचार्य या श्रुतधराचार्यों में पायी जाती है। इस श्रेणी के आचार्यों में आ. जिनसेन प्रथम, प्रभाचन्द्र, नरेन्द्रसेन, भावसेन, आर्यनन्दि, नेमिचन्द्रगणि, पद्मनन्दि, वादीभसिंह, हरिषेण, वादिराज, पद्मनन्दि-जंबूद्वीवपण्णत्तीकार, महासेन, सोमदेव, हस्तिमल्ल, रामसिंह, नयनन्दि, माधवचन्द्रत्रैविद्य, विश्वसेन, जयसेनाचार्य द्वितीय, अनन्तवीर्य एवं इन्द्रनन्दि आदि की गणना की जा सकती है। इन आचार्यों ने पदयात्रा द्वारा भारत का भ्रमण किया और प्राकृत, अपभ्रंश एवं संस्कृत आदि भाषाओं में ग्रन्थ-रचना की।

स्वतन्त्र-रचना-प्रतिभा के साथ टीका, भाष्य एवं विवृत्ति लिखने की क्षमता भी प्रबुद्धाचार्यों में थी। श्रुतधराचार्य और सारस्वताचार्यों ने जो विषय-वस्तु प्रस्तुत की थी, उसी को प्रकारान्तर से उपस्थित करने का कार्य प्रबुद्धाचार्यों ने किया है। यह सत्य है कि इन आचार्यों ने अपनी मौलिक प्रतिभा द्वारा परम्परा से प्राप्त तथ्यों को नवीन रूप में भी प्रस्तुत किया है; अत: विषय के प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से इन आचार्यों का अपना महत्त्व है। प्रबुद्धाचार्यों में कई आचार्य इतने प्रतिभाशाली हैं कि उन्हें सारस्वताचार्यों की श्रेणी में परिगणित किया जा सकता है; किन्तु विषय-निरूपण की सूक्ष्म-क्षमता प्रबुद्धाचार्यों में वैसी नहीं है, जैसी सारस्वताचार्यों में पायी जाती है।

प्रमुख एवं प्रभावक प्रबद्धाचार्यों का विवरण यहाँ दिया जा रहा है—

आचार्य जिनसेन (प्रथम)

आचार्य जिनसेन प्रथम ऐसे प्रबुद्धाचार्य हैं, जिनकी वर्णन-क्षमता और काव्य-प्रतिभा अपूर्व है। इन्होंने 'हरिवंशपुराण' नामक कृति का प्रणयन किया है। ये पुन्नाटसंघ के आचार्य हैं। इनके गुरु का नाम कीर्तिषेण था। 'हरिवंशपुराण' के 66वें सर्ग में भगवान् महावीर से लेकर लोहाचार्य-पर्यन्त आचार्यों की परम्परा अंकित है। 'पुन्नाट' कर्नाटक का प्राचीन नाम है। 'हरिषेण-कथाकोष' में आया है कि भद्रबाहु स्वामी के आदेशानुसार उनका संघ चन्द्रगुप्त या विशाखाचार्य के साथ दक्षिणापथ के पुन्नाट देश में गया। अत: इस देश के मुनिसंघ का नाम पुन्नाटसंघ पड़ गया। जिनसेन से 50-60 वर्ष पूर्व ही यह संघ उत्तर-भारत में प्रविष्ट हुआ होगा।

जिसप्रकार पंचस्तूपान्वयी वीरसेन स्वामी का 'वाटनगर' में ज्ञानकेन्द्र था, सम्भवत: उसी प्रकार अमितसेन ने 'बदनावर' में ज्ञानकेन्द्र की स्थापना की हो और उसी केन्द्र में उक्त दोनों ग्रन्थों की रचना सम्पन्न हुई हो। आचार्य जिनसेन प्रथम का समय लगभग ईस्वी सन् 748-818 सिद्ध होता है।

इनकी एक ही रचना प्राप्त है 'हरिवंशपुराण'। इसकी कथावस्तु जिनसेन को अपने गुरु कीर्तिसेन से प्राप्त हुई थी। इस पुराण-ग्रन्थ पर पूर्वाचार्यों का पूर्ण प्रभाव है। इस पुराण में 22वें तीर्थंकर नेमिनाथ का चरित्र निबद्ध है, पर प्रसंगोपात्त अन्य कथानक भी लिखे गये हैं। 'हरिवंशपुराण' ज्ञानकोष है। इसमें कर्म-सिद्धान्त, आचारशास्त्र, तत्त्वज्ञान एवं आत्मानुभूति-सम्बन्धी चर्चायें निबद्ध हैं। यह पुराणग्रन्थ होने पर भी उच्चकोटि का महाकाव्य है। साहित्यिक सुषमा के साथ सृष्टिविद्या, धर्मशास्त्र, तत्त्वज्ञान, षट्द्रव्य, चास्तिकाय आदि का भी विस्तारपूर्वक वर्णन आया है। आचार्य जिनसेन ने अपने समय की राजनीतिक परिस्थिति का भी चित्रण किया है।

आचार्य गुणभद्र

प्रतिभामूर्ति गुणभद्राचार्य संस्कृत-भाषा के श्रेष्ठ कवि हैं। गुणभद्र का समस्त जीवन साहित्य-साधना में ही व्यतीत हुआ। ये उत्कृष्ट ज्ञानी और महान् तपस्वी थे।

गुणभद्राचार्य का निवास स्थान दक्षिण आरकट जिले का 'तिरुमरुडकुण्डम्' नगर माना जाता है। इनके गृहस्थ-जीवन के सम्बन्ध में तथ्य अज्ञात हैं। इनके ग्रन्थों की प्रशस्तियों से स्पष्ट है कि ये सेनसंघ के आचार्य थे। इनके गुरु का नाम आचार्य जिनसेन द्वितीय और दादा गुरु का नाम वीरसेन है। आचार्य जिनसेन प्रथम या द्वितीय के समान गुणभद्र की भी साधना-भूमि कर्नाटक और महाराष्ट्र की भूमि रही है।

गुणभद्राचार्य जिनसेन द्वितीय के शिष्य थे तथा उनके अपूर्ण महापुराण (आदिपुराण) को इन्होंने पूर्ण किया था। गुणभद्र का समय शक-संवत् 820, ईस्वी सन् 898 अर्थात् ईस्वी सन् की नवम शती का अन्तिम चरण सिद्ध होता है।

अपनी रचना 'आदिपुराण' में गुणभद्राचार्य ने अपने गुरु जिनसेन द्वितीय द्वारा अधूरे छोड़े 'आदिपुराण' के 43वें पर्व के चौथे पद्य से समाप्तिपर्यन्त कुल 1620 पद्य लिखे हैं। 'उत्तरपुराण' एक और रचना है, जो 'महापुराण' का उत्तर भाग है। अन्य रचनायें 'आत्मानुशासन' एवं 'जिनदत्तचरित-काव्य' हैं।

आचार्य वादीभसिंह

श्रेण्य-गद्य-संस्कृत-साहित्य में जो स्थान महाकवि बाण का है, जैन-संस्कृत-गद्य-साहित्य में वही स्थान वादीभसिंह का है। कवि वादीभसिंह ने 'गद्यचिन्तामणि' जैसा गद्यकाव्य का उत्कृष्ट ग्रन्थ लिखकर जैन-संस्कृत-काव्य को अमरत्व प्रदान किया है। डॉ. कीथ ने लिखा है—

"कादम्बरी से प्रतिस्पर्धा करने का दूसरा प्रयत्न ओडयदेव (वादीभसिंह) के 'गद्यचिन्तामणि' में परिलक्षित होता है, उनका उपनाम वादीभसिंह था। वे एक दिगम्बर-जैन-मुनि थे और पुष्पसेन के शिष्य थे।"

तंजौर में 'गद्यचिन्तामणि' की पाण्डुलिपियों का प्राप्त होना भी इस बात की

ओर संकेत करता है कि कवि का निवास तमिलनाडु में या उसके आस-पास किसी स्थान में होना चाहिये। ओडयदेव या वादीभसिंह ने 'गद्यचिन्तामणि' के प्रारम्भ में अपने गुरु का नाम पुष्पसेन लिखा है और बताया है कि "गुरु के प्रसाद से ही उन्हें वादीभसिंहता और मुनिपुंगवता प्राप्त हुई।" कवि ने 'गद्यचिन्तामणि' के मंगलवाक्यों में अपने गुरु का स्मरण निम्नप्रकार किया है—

श्रीपुष्पसेनमुनिनाथ इति प्रतीतो दिव्यो मनुर्मम सदा हृदि संनिदध्यात्।
यच्छक्तितः प्रकृतिमूढमतिर्जनोऽपि वादीभसिंह-मुनिपुंगवतामुपैति[32]॥

समस्त प्रमाणों का आध्ययन करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि वादीभसिंह का समय नवम शती है। वादीभसिंह की दो ही रचनायें उपलब्ध हैं — 1. क्षत्रचूड़ामणि, एवं 2. गद्यचिन्तामणि।

महावीराचार्य

भारतीय गणित के इतिहास में महावीराचार्य का नाम आदर के साथ लिया जा सकता है। महावीराचार्य की इस गणित-ग्रन्थ की पाण्डुलिपियों एवं कन्नड़ और तमिल टीकाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि महावीराचार्य मैसूर प्रान्त के किसी कन्नड़ भाग में हुये होंगे।

महावीराचार्य ने पूर्ववर्ती गणितज्ञों के कार्य में पर्याप्त संशोधन और परिवर्द्धन किये। इन्होंने शून्य के विषय में भाग करने की प्रणाली का आविष्कार किया।

आचार्य वृहत् अनन्तवीर्य

'सिद्धिविनिश्चय' के टीकाकार और रविभद्र-पादोपजीवी आचार्य अनन्तवीर्य न्यायशास्त्र के पारंगत और अनेक शास्त्रों के मर्मज्ञ थे। सिद्धिविनिश्चय-टीका से अवगत होता है कि इनका दर्शन-शास्त्रीय अध्ययन बहुत व्यापक और सर्वतोमुखी थी। वैदिक संहिताओं, उपनिषद्, उनके भाष्य एवं वार्त्तिक आदि का भी इन्होंने गहरा अध्ययन किया था। न्याय-वैशेषिक सांख्य-योग, मीमांसा, चार्वाक और बौद्धदर्शन के ये असाधारण पण्डित थे। 'सिद्धिविनिश्चयटीका' के पुष्पिकावाक्यों से इनके गुरु का नाम रविभद्र जान पड़ता है। इन्होंने अपने को उनका 'पादोपजीवी' बतलाया है। इसके अतिरिक्त इनके विषय में और कोई जानकारी उपलब्ध नहीं होती।

'सिद्धिविनिश्चयटीका' के रचयिता अनन्तवीर्य का समय ईस्वी सन् 975-1025 घटित होता है। रविभद्रशिष्य अनन्तवीर्य की दो रचनायें हैं — 'सिद्धिविनिश्चयटीका' और 'प्रमाणसंग्रहभाष्य' या 'प्रमाणसंग्रहालंकार'।

आचार्य माणिक्यनन्दि

आचार्य माणिक्यनन्दि जैन-न्यायशास्त्र के महापण्डित थे। इनका

'परीक्षामुखसूत्र' जैन-न्यायशास्त्र का आद्य-न्यायसूत्रग्रंथ है। इसके स्रोत का निर्देश करते हुये 'प्रमेयरत्नमाला' में कहा गया है—

अकलंकवचोऽम्भोधेरुद्दध्रे येन धीमता।
न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने।।[33]

अर्थात् जिस श्रीमान् ने अकलंकदेव के वचन-सागर का मन्थन करके 'न्यायविद्यामृत' निकाला, उस माणिक्यनन्दि को नमस्कार है।

माणिक्यनन्दि 'नन्दिसंघ' के प्रमुख आचार्य थे। 'धारानगरी' इनकी निवास-स्थली रही है — ऐसा प्रमेयरत्नमाला की टिप्पणी तथा अन्य प्रमाणों से अवगत होता है।[34]

माणिक्यनन्दि का समय नयनन्दी के समय विकम-संवत् 1100 से 30-40 वर्ष पहले अर्थात् विक्रम-संवत् 1060, ईस्वी सन् 1003 (ईस्वी सन् की 11वीं शताब्दी का प्रथम चरण) अवगत होता है।

माणिक्यनन्दि का एकमात्र ग्रन्थ 'परीक्षामुख' ही मिलता है। इस ग्रन्थ का नामकरण बौद्धदर्शन के हेतुमुख, न्यायमुख जैसे ग्रन्थों के अनुकरण पर मुखान्त नाम पर किया गया है। परीक्षा-मुखसूत्र में प्रमाण ओर प्रमाणाभासों का विशद प्रतिपादन किया गया है। यह ग्रन्थ न्यायसूत्र, वैशेषिकसूत्र और तत्त्वार्थसूत्र आदि सूत्रग्रन्थों की तरह सूत्रात्मक शैली में लिखा गया है।

इस पर उत्तरकाल में अनेक टीका-व्याख्यायें लिखी गयी हैं। इनमें प्रभाचन्द्राचार्य का विशाल प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, लघु अनन्तवीर्य की मध्यम-परिणामवाली 'प्रमेयरत्नमाला', भट्टारक चारुकीर्ति का 'प्रमेयरत्नमालालंकार' एवं शान्ति वर्णी की 'प्रमेयकण्ठिका' आदि टीकायें उपलब्ध हैं। 'परीक्षामुखसूत्र' का प्रभाव आचार्य देवसूरि के 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' और आचार्य हेमचन्द्र की 'प्रमाणमीमांसा' पर स्पष्टत: दिखलाई पड़ता है। उत्तरवर्त्ती प्राय: समस्त जैन-नैयायिकों ने इस ग्रन्थ से प्रेरणा ग्रहण की है।

आचार्य प्रभाचन्द्र

आचार्य प्रभाचन्द्र ने परीक्षामुख पर 12,000 श्लोकप्रमाण 'प्रमेयकमलमार्त्तण्ड' नाम की वृहत् टीका लिखी है। यह जैन-न्यायशास्त्र का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। प्रभाचन्द्र ने अपने को माणिक्यनन्दि के पद में रत कहा है। इससे उनका साक्षात् शिष्यत्व प्रकट होता है, अत: यह सम्भव है कि प्रभाचन्द्र ने जैन-न्याय का अभ्यास माणिक्यनन्दि से किया हो और उन्हीं के जीवनकाल में 'प्रमेयकमलमार्त्तण्ड' की रचना की हो।

डॉ. दरबारीलाल जी कोठिया के सप्रमाण अनुसन्धान के अनुसार प्रभाचन्द्र और माणिक्यनन्दि की समसामयिकता प्रकट होती है, और उनमें परस्पर साक्षात्

गुरु-शिष्यत्व भी सिद्ध होता है।[35] इससे भी आचार्य प्रभाचन्द्र का समय ईस्वी सन् की 11वीं शती निर्णीत होता है।

इनकी ये रचनायें मान्य हैं — प्रमेयकमलमार्त्तण्ड : परीक्षामुख-व्याख्या; न्यायकुमुदचन्द्र : लघीयस्त्रय-व्याख्या; तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण : सर्वार्थसिद्धि-व्याख्या; शाकटायनन्यास : शाकटायनव्याकरण-व्याख्या; शब्दाम्भोजभास्कर : जैनेन्द्रव्याकरण-व्याख्या; प्रवचनसारसरोजभास्कर : प्रवचनसार-व्याख्या; गद्यकथाकोष : स्वतंत्र रचना; रत्नकरण्डकश्रावकाचार-टीका; समाधितंत्र-टीका; क्रियाकलाप-टीका; आत्मानुशासन-टीका; एवं महापुराण-टिप्पण। इन्होंने जिन टीकाओं का निर्माण किया है, वे टीकायें स्वतंत्र-ग्रन्थ का रूप प्राप्त कर चुकी हैं।

आचार्य लघु अनन्तवीर्य

उत्तरकालवर्ती होने के कारण 'प्रमेयरत्नमाला' के रचयिता अनन्तवीर्य को लघु अनन्तवीर्य या द्वितीय अनन्तवीर्य कहा जाता है। इन्होंने 'परीक्षामुख' के सूत्रों की संक्षिप्त, किन्तु विशद व्याख्या की है। साथ ही प्रसंगत: चार्वाक, बौद्ध, सांख्य, न्याय, वैशेषिक और मीमांसा दर्शनों के कतिपय सिद्धान्तों की समीक्षा भी की है।

इनकी एकमात्र कृति 'प्रमेयरत्नमाला' प्राप्त है। ग्रन्थ के आरम्भ में इस टीका को इन्होंने 'परीक्षामुख-पंजिका' कहा है। प्रत्येक समुद्देश्य के अन्त में दी गयी पुष्पिकाओं में इसे 'परीक्षामुख-लघुवृत्ति' भी कहा है। अनन्तवीर्य का समय विक्रम की 12वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध प्रतिफलित होता है।

'प्रमेयकमलामार्त्तण्ड' में जिन विषयों का विस्तार से वर्णन है, उन्हीं का संक्षेप में स्पष्टरूप से कथन करना 'प्रमेयरत्माला' की विशेषता है। प्रतिपादन-शैली बड़ी सरल, विशद और हृदयग्राही है।

आचार्य वीरनन्दि

आचार्य वीरनन्दि सिद्धान्तवेत्ता होने के साथ जनसाधारण के मनोभावों, हृदय की विभिन्न वृत्तियों एवं विभिन्न अवस्थाओं में उत्पन्न होने वाले मानसिक विकारों के सजीव चित्रणकर्ता महाकवि थे। इनके द्वारा रचित 'चन्द्रप्रभ-महाकाव्य' इनकी काव्य-प्रतिभा का चूड़ान्त-निदर्शन है। ये नन्दिसंघ देशीयगण के आचार्य हैं। चन्द्रप्रभ के अन्त में इन्होंने जो प्रशस्ति[36] लिखी है, उससे ज्ञात होता है कि ये आचार्य अभयनन्दि के शिष्य थे। अभयनन्दि के गुरु का नाम गुणनन्दि था।

नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती इनके शिष्य अथवा लघु गुरुभाई प्रतीत होते हैं। इन्होंने उन्हें नमस्कार किया है।[37]

वीरनन्दि का समय ईस्वी सन् 1025 से पूर्व और ईस्वी सन् 900 के बाद अर्थात् 950-999 सिद्ध होता है। आचार्य वीरनन्दि की एकमात्र रचना 'चन्द्रप्रभचरित'

है, जो उपलब्ध तथा प्रकाशित है।[38] इस महाकाव्य में 18 सर्ग और 1697 पद्य हैं। कवि ने संस्कृत के सभी प्रसिद्ध छन्दों का इसमें प्रयोग किया है। आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ का इसमें जीवन-चरित वर्णित है। रचना बड़ी सरस और हृदयग्राही है।

आचार्य महासेन

महासेन लाट-वर्गट या लाड़-बागड़ संघ के आचार्य थे। गुणाकरसेन के शिष्य महासेनसूरि हुये, जो राजा मुंज द्वारा पूजित थे और सिन्धुराज या सिन्धुल के महामात्य पर्पट ने जिनके चरणकमलों की पूजा की थी। इन्हीं महासेन 'प्रद्युम्नचरित' काव्य की रचना की और राजा के अनुचर विवेकवान् मद्यन ने इसे लिखकर कोविदजनों[39] को दिया।

लाट-वर्गटसंघ माथुरसंघ के ही समान काष्ठासंघ की शाखा है। यह संघ गुजरात और राजपूताने में विशेष-रूप से निवास करता था। कवि आचार्य महासेन पर्पट के गुरु थे। इससे यह स्पष्ट है कि आचार्य महासेन का व्यक्तित्व अत्यन्त उन्नत था और राजपरिवारों में उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी।

आचार्य महासेन का समय 10वीं शती का उत्तरार्द्ध है। आचार्य महासेन का 'प्रद्युम्नचरित' महाकाव्य उपलब्ध है। इस काव्य में 14 सर्ग हैं। परम्परा-प्राप्त कथानक को आचार्य ने महाकाव्योचित रूप प्रदान किया है। प्रस्तुत महाकाव्य का कथानक श्रृंखलाबद्ध एवं सुगठित है। काव्य-प्रवाह को स्थिर एवं प्रभावोत्पादक बनाये रखने क लिये अवान्तर-कथायें भी गुम्फित हैं। रचना सरस और रोचक है।

आचार्य हरिषेण

हरिषेण नाम के कई आचार्य हुये हैं। डॉ. एन. एन. उपाध्ये[40] ने छः हरिषेण नाम के ग्रन्थकारों का निर्देश किया है। हरिषेण के दादागुरु के गुरु मौनी भट्टारक जिनसेन की उत्तरवर्ती दूसरी, तीसरी पीढ़ी में हुये होंगे। हरिषेण पुन्नाट संघ के आचार्य हैं और इसी पुन्नाट संघ में 'हरिवंशपुराण' के कर्त्ता जिनसेन प्रथम भी हुये हैं।

हरिषेण ने कथाकोश की रचना वर्द्धमानपुर में की है। इस स्थान को डॉ. ए. ए. उपाध्ये काठियावाड़ का बड़वान मानते हैं। शक-संवत् 853, विक्रम-संवत् 988 (ईस्वी सन् 931) में कथाकोशग्रन्थ रचा गया है। अतः अन्तरंग प्रमाण के आधार पर हरिषेण का समय ई. सन् की 10वीं शताब्दी का मध्यभाग सिद्ध होता है।

आचार्य हरिषेण ने पद्यबद्ध वृहत् कथाकोश ग्रन्थ लिखा है। इस कोशग्रन्थ में छोटी-बड़ी सब मिलाकर 157 कथायें हैं, और ग्रन्थ का प्रमाण 'अनुष्टुप्-छन्द' में 12,500 (साढ़े बारह हजार) श्लोक हैं।

आचार्य सोमदेवसूरि

आचार्य सोमदेव महान् तार्किक, सरस साहित्यकार, कुशल राजनीतिज्ञ, प्रबुद्ध

तत्त्वचिन्तक और उच्चकोटि के धर्माचार्य थे। उनके लिये प्रयुक्त होने वाले स्याद्वादाचलसिंह, तार्किकचक्रवर्ती, वादीभपंचानन, वाक्कल्लोलपयोनिधि, कवि-कुलराजकुंजर, अनवद्यगद्य-पद्यविद्याधरचक्रवर्ती आदि विशेषण उनकी उत्कृष्ट प्रज्ञा और प्रभावकारी व्यक्तित्व के परिचायक हैं। 'नीतिवाक्यामृत' की प्रशस्ति में उक्त सभी उपाधियाँ प्राप्त होती है।[41] यशोदव को देवसंघ का तिलक कहा गया है।[42]

सोमदेव के संरक्षक 'अरिकेशरी' नामक चालुक्य राजा के पुत्र वाद्यराज या बद्दिग नामक राजकुमार थे। यशस्तिलक का प्रणयन गंगधारा नामक स्थान में रहते हुये किया गया है। सोमदेव ने अपने साहित्य में राष्ट्रकूटों के साम्राज्य के तत्कालीन अभ्युदय का परिचय प्रस्तुत किया है। वस्तुतः राष्ट्रकूटों के राज्यकाल में साहित्य, कला, दर्शन एवं धर्म की बहुमुखी उन्नति हुई है। कवि का 'यशस्तिलकचम्पू' मध्यकालीन भारतीय संस्कृति के इतिहास का अपूर्व स्रोत है। आ. सोमदेव ईस्वी सन् 959 अर्थात् दशम शती के विद्वानाचार्य हैं। आ. सोमदेव अद्वितीय प्रतिभाशाली कवि और दार्शनिक विद्वान् थे।

आचार्य वादिराज

दार्शनिक, चिन्तक और महाकवि के रूप में वादिराज ख्यात हैं। ये उच्चकोटि के तार्किक होने के साथ भावप्रवण महाकाव्य-प्रणेता भी हैं। इनकी बुद्धिरूपी गाय ने जीवनपर्यन्त सुतर्करूपी घास खाकर काव्य-दुग्ध से सहृदयजनों को तृप्त किया है। इनकी तुलना जैन-कवियों में सोमदेवसूरि से और इतर संस्कृत-कवियों में नैषधकार श्रीहर्ष से की जा सकती है।

प्रस्तुत वादिराज जगदेकमल्ल द्वारा सम्मानित हुये थे, अतः इनका समय सन् 1010 से 1065 ईस्वी प्रतीत होता है।

आचार्य पद्मनन्दि प्रथम

पद्मनन्दि प्रथम से हमारा अभिप्राय 'जम्बूदीवपण्णत्ति' के कर्त्ता से है। ये अपने को वीरनन्दि का प्रशिष्य और बलनन्दि का शिष्य बतलाते हैं। इन्होंने विजयगुरु के पास ग्रन्थों का अध्ययन किया था। ग्रन्थ-रचना के स्थान और वहाँ के शासक का नाम निर्देश करते हुये यह बतलाया है कि बारांनगर का स्वामी नरोत्तमशक्तिभूपाल था।

'जम्बूदीवपण्णति' के अतिरिक्त इनकी दो रचनायें और मानी जाती हैं, एक है प्राकृतपद्यात्मक 'धम्मरसायण' और दूसरी है 'प्राकृतपंचसंग्रहवृत्ति'। पद्मनन्दि का समय विक्रम-संवत् 1100 अर्थात् ईस्वी सन् 1043 के लगभग सिद्ध किया है।

आचार्य पद्मनन्दि द्वितीय

पद्मनन्दि द्वितीय पद्मनन्दि-पंचविंशतिका के रचयिता हैं। इन्होंने अपने गुरु वीरनन्दि को नमस्कार किया है। आचार्य पद्मनन्दि द्वितीय का समय ईस्वी सन् 959

के बाद होना चाहिये। अमितगति से उत्तरवर्ती होने के कारण पद्मनन्दि द्वितीय का समय ईस्वी सन् की 11वीं शती मानाा गया है। अमितगति ने विक्रम-संवत् 1073 में अपना 'पंचसंग्रह' रचा है।

'पद्मनन्दिपंचविंशति' अत्यन्त लोकप्रिय रचना रही है। इस पर किसी अज्ञात विद्वान् की संस्कृत-टीका है। इस रचना में 26 विषय हैं — 1. धर्मोपदेशामृत, 2. दानोपदेश, 3. अनित्यपंचाशत, 4. एकत्वसप्तति, 5. यतिभावनाष्टक, 6. उपासक-संस्कार, 7. देशव्रतोद्योतन, 8. सिद्धस्तुति, 9. आलोचना, 10. सद्बोधचन्द्रोदय, 11. निश्चयपंचाशत, 12. ब्रह्मचर्यरक्षावर्ति, 13. ऋषभस्तोत्र, 14. जिनदर्शनस्तवन, 15. श्रुतदेवतास्तुति, 16, स्वयंभूस्तुति, 17. सुप्रभाताष्टक, 18. शान्तिनाथस्तोत्र, 19. जिनपूजाष्टक, 20. करुणाष्टक, 21. क्रियाकाण्डचूलिका, 22. एकत्व-भावनादशक, 23. परमार्थविंशति, 24 शरीराष्टक, 25. स्नानाष्टक, एवं 26. ब्रह्मचर्याष्टक।

आचार्य जयसेन प्रथम

'धर्मरत्नाकर' नामक ग्रन्थ के रचयिता आचार्य जयसेन 'लाडबागड' संघ के विद्वान् थे। उन्होंने धर्मरत्नाकर की अन्तिम प्रशस्ति में अपनी गुरुपरम्परा अंकित की है। इस परम्परा में बताया है कि धर्मसेन के शिष्य शान्तिषेण, शान्तिषेण के गोपसेन, गोपसेन के भावसेन और भावसेन के शिष्य जयसेन थे। इन्होंने अपने वंश को 'योगीन्द्रवंश' कहा है।

'धर्मरत्नाकर' में जो उसका रचनाकाल विक्रम-संवत् 1055 दिया गया है, उसकी पुष्टि अन्य प्रमाणों से भी होती है।

आचार्य जयसेन द्वितीय

आचार्य जयसेन द्वितीय भी अमृतचन्द्रसूरि के समान कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के टीकाकार हैं। इन्होंने समयसार की टीका में अमृतचन्द्र के नाम का उल्लेख किया है, और उनकी टीका के कतिपय पद्य भी यथास्थान उद्धृत किये हैं।

जयसेनाचार्य के गुरु का नाम सोमसेन और दादा-गुरु का नाम वीरसेन था। जयसेनाचार्य सेनगणान्वयी हैं। इन्होंने अन्य किसी टीका में अपना परिचय नहीं दिया है। जयसेनाचार्य ने अपनी टीकाओं में अनेक श्लोक और गाथायें अन्य ग्रन्थों से उद्धृत की हैं। जयसेन ईस्वी सन् 1154 के पश्चात् ही हुये होंगे।

जयसेनाचार्य ने कुन्दकुन्द के समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय — इन तीनों ग्रन्थों पर अपनी टीकायें लिखी हैं। इन्होंने आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा की गयी टीका से भिन्न शैली में अपनी टीका लिखी है। इनकी टीका-शैली की प्रमुख विशेषतायें इसप्रकार हैं — समस्त पदों का व्याख्यान, आशय का स्पष्टीकरण,

व्याख्या में निश्चयनय के साथ व्यवहारनय का भी अवलम्बन, व्याख्यान की पुष्टि-हेतु उद्धरणों का प्रस्तुतीकरण, एवं पारिभाषिक शब्दों का स्पष्टीकरण।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव

आचार्य कुन्दकुन्द के 'नियमसार' की 'तात्पर्यवृत्ति' नामक टीका के रचयिता पद्मप्रभमलधारिदेव हैं। इन्होंने अपने को कविजनोंपयोगमित्र, पंचेन्द्रिमप्रसरवर्जित और गात्रमात्रपरिग्रह बताया है। पद्मप्रभ ने अपनी गुरुपरम्परा या गण-गच्छ का कोई उल्लेख नहीं किया है। पद्मप्रभमलधारिदेव 'पद्मनन्दिपंचविंशति' के कर्त्ता पद्मनन्दि से भिन्न ही प्रतीत होते हैं।

नियमसार-टीका के साथ 'पार्श्वनाथस्तोत्र' की रचना भी इनके द्वारा की गयी है। 'नियमसार' की टीका में 'नियमसार' के विषय का ही स्पष्टीकरण किया गया है। सिद्धान्तशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान होने के कारण टीका में आये हुये विषयों का विशद स्पष्टीकरण किया है।

आचार्य शुभचन्द्र

आचार्य शुभचन्द्र का 'ज्ञानार्णव' या 'योगप्रदीप' नामक ग्रन्थ प्राप्त है। किंवदन्ती है कि भर्तृहरि को मुनिमार्ग में दृढ़ करने और सच्चे योग का ज्ञान कराने के लिये शुभचन्द्र ने 'योगप्रदीप' अथवा 'ज्ञानार्णव' की रचना की।

'ज्ञानार्णव' के प्रारम्भ में समन्तभद्र, देवनन्दि, भट्टाकलंक और जिनसेन का स्मरण किया है। इसमें सबसे अन्तिम जिनसेनस्वामी हैं, जिन्होंने जयधवलाटीका का शेषभाग विक्रम-संवत् 894 में समाप्त किया था। इससे यह स्पष्ट है कि ज्ञानार्णव की रचना ही सन् 837 के पश्चात् हुई है। अतः शुभचन्द्र का समय विक्रम-संवत् की 11वीं शती होना चाहिये। इससे भोज और मुंज की समकालीनता भी घटित हो जाती है।

शुभचन्द्र की एकमात्र रचना 'ज्ञानार्णव' उपलब्ध है। महाकाव्य के समान लेखक ने इसके विषय का भी सर्गों में विभाजन किया है। समस्त ग्रन्थ 42 सर्गों में विभक्त हैं। अन्त में ज्ञानार्णव का महत्त्व बतलाते हुये ग्रन्थ समाप्त किया है—

ज्ञानार्णवस्य माहात्म्यं चित्ते को वेत्ति तत्त्वतः।
यज्ज्ञानात्तीर्यते भव्यैर्दुस्तरोऽपि भवार्णवः:[43]॥

आचार्य अनन्तकीर्ति

'वृहत्सर्वज्ञसिद्धि' और 'लघुसर्वज्ञसिद्धि' के कर्त्ता अनन्तकीर्ति हैं, जिनके शान्तिसूरि के 'जैन तर्कवार्तिक' में उल्लेख एवं उद्धरण पाये जाते हैं, तथा अभयदेवसूरि तर्कपंचानन की 'तत्त्वबोधविधायिनी' अपरनाम 'वादमहार्णव-सन्मति-टीका' में जिनका अनुसरण पाया जाता है।

अनन्तकीर्त के ग्रन्थों के देखने से ज्ञात होता है कि वे अपने युग के प्रख्यात तार्किक विद्वान् थे, इन्होंने स्वप्नज्ञान को मानसप्रत्यक्ष माना है। अनन्तकीर्ति का समय ईस्वी सन् 980[44] के पूर्व है। अनन्तकीर्ति का समय जिनसेन के बाद और वारिजसूरि से पहले अर्थात् विक्रम-संवत् 840 और 1082 के बीच मानना चाहिये।[45]

आचार्य मल्लिषेण

उभयभाषा-कविचक्रवर्ती आचार्य मल्लिषेण अपने युग के प्रख्यात आचार्य हैं। इन्हें 'कविशेखर' का विरुद प्राप्त था। ये अपने को सकलागमवेदी, लक्षणवेदी और तर्कवेदी भी लिखते हैं। आचार्य मल्लिषेण की 'कवि' और 'मन्त्रवादी' के रूप में विशेष ख्याति है। ये उन अजितसेन की परम्परा में हुये हैं, जो गंगनरेश राचमल्ल और उनके मन्त्री तथा सेनापति चामुण्डराय के गुरु थे और जिन्हें नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने 'भुवनगुरु' कहा है। मल्लिषेण के गुरु जिनसेन हैं और जिनसेन के कनकसेन तथा कनकसेन के अजितसेन[46] गुरु हैं।

आचार्य मल्लिषेण ने अपने कई ग्रन्थों की प्रशस्तियों में अपने को कनकसेन का शिष्य और जिनसेन का प्रशिष्य बतलाया है। असम्भव नहीं कि जिनसेन और उनके अनुज नरेन्द्रसेन दोनों ही मल्लिषेण के गुरु रहे हों — दोनों ने भिन्न-भिन्न विषयों का अध्ययन किया[47] हो।

इसमें सन्देह नहीं कि ये संस्कृत-भाषा, साहित्य और मन्त्रवाद के प्रसिद्ध आचार्य रहे हैं। मल्लिषेण का समय ईस्वी सन् की 11वीं शताब्दी है। इनकी ये रचनायें उपलब्ध हैं — नागकुमारकाव्य, महापुराण, भैरवपद्मावतीकल्प, सरस्वतीमन्त्रकल्प, ज्वालिनीकल्प, एवं कामचाण्डालीकल्प।

प्रवचनसारटीका, पंचास्तिकायटीका, वज्रपंजरविधान, ब्रह्मविद्या आदि कई ग्रन्थ मल्लिषेण के नाम से उल्लिखित मिलते हैं। पर निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि ये ही मल्लिषेण इन ग्रन्थों के रचयिता हैं। 'वज्रपंजरविधान' और 'ब्रह्मविद्या' मन्त्र-ग्रन्थ होने के कारण इन मल्लिषेण के सम्भव हैं। वज्रपंजरविधान की पाण्डुलिपि श्री जैन सिद्धान्त-भवन आरा में है।

आचार्य इन्द्रनन्दि प्रथम

यहाँ मन्त्रशास्त्रविज्ञ ज्वालमालिनीकल्प के रचयिता इन्द्रनन्दि अभिप्रेत हैं। एकसन्धिभट्टारक द्वारा विरचित जिनसंहिता में उनके पूर्ववर्ती आठ प्रतिष्ठाचार्यों का उल्लेख आया है। ज्वालमालिनीकल्प की प्रशस्ति से अवगत होता है कि इन्द्रनन्दि योगीन्द्र मन्त्रशास्त्र के विशिष्ट विद्वान् थे तथा वासवनन्दि प्रशिष्य और बप्पनन्दि के शिष्य थे। इन्होंने हेलाचार्य द्वारा उचित हुये अर्थ को लेकर इस ज्वालमालिनीकल्प की रचना की है।

'ज्वालमालिनीकल्प' मन्त्रशास्त्र का उत्कृष्ट ग्रन्थ है। प्रस्तुत ग्रन्थ दस परिच्छेदों में विभक्त है, जिनके नाम इस प्रकार हैं — 1. मन्त्रीलक्षण — अर्थात् मन्त्रसाधक के लक्षण; 2. दिव्यादिव्यग्रह — दिव्यस्त्रीग्रह, दिव्यपुरुषग्रह, अदिव्यस्त्रीग्रह, अदिव्यपुरुषग्रह; 3. सकलीकरणक्रिया-अशुद्धि, बीजाक्षरज्ञान; 4. मण्डलपरिज्ञान — सामान्यमण्डल, सर्वतोभद्रमण्डल आदि मण्डलों का विवेचन; 5. भताकम्पन तैल; 6. रक्षास्तम्भन — वश्य प्रकरण; 7. वशीकरण प्रकरण; 8. पूजनविधि प्रकरण; 9. नीराजनविधि; एवं 10. शिष्यपरीक्षा एवं शिष्यप्रदेयस्तोत्र आदि विवरण।

इस मन्त्रग्रन्थ में भारती की 8-9वीं शती की मान्त्रिक-परम्परा का संकलन किया गया है। आचार्य ने जहाँ-तहाँ पंचपरमेष्ठी और उनके बीजाक्षरों का निर्देश कर सामान्य मन्त्र-परम्परा को जैनत्व का रूप दिया है। जैनदर्शन और जैन-तत्त्वज्ञान के साथ इसका कोई भी मेल नहीं है, पर लोकविधि के अन्तर्गत इसकी उपयोगिता है। मध्यकाल में फलाकांक्षी व्यक्ति श्रद्धान से विचलित हो रहे थे, अतः उस युग में जैन-मन्त्रों का विधान कर जनसाधारण को इस लोकैषणा में स्थित किया है।

आचार्य जिनचन्द्राचार्य

'सिद्धान्तसार' ग्रन्थ के रचयिता जिनचन्द्राचार्य हैं। तत्त्वार्थ की सुखबोधिका-टीका में जो प्रशस्ति प्राप्त होती हैं, उसमें भास्करनन्दि के गुरु जिनचन्द्र सिद्धान्तशास्त्रों के पारंगत विद्वान् बतलाये गये हैं। सिद्धान्तसारग्रन्थ का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ पर 'गोम्मटसार जीवकाण्ड' और 'कर्मकाण्ड' इन दोनों का प्रभाव है। आचार्य नेमिचन्द्र के गोम्मटसार का अध्ययन कर ही इस ग्रन्थ की रचना जिनचन्द्र ने की है। सिद्धान्तसार की प्रारम्भिक गाथायें गोम्मटसार जीवकाण्ड से पूर्णतया प्रभावित हैं।

जिनचन्द्र का समय नेमिचन्द्र और प्रभाचन्द्र के मध्य में होना चाहिये। अर्थात् ईस्वी सन् की 11वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध या 12वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध निश्चित है। जिनचन्द्र का सिद्धान्तसार प्राकृत-भाषा में निबद्ध उपलब्ध है। इस ग्रन्थ पर ज्ञानभूषण का संस्कृत-भाष्य भी है। इसका प्रकाशन 'माणिकचन्द्र' ग्रन्थमाला से 'सिद्धान्तसारादिसंग्रह' के रूप में हो चुका है। इस लघुकाय ग्रन्थ में पर्याप्त सैद्धान्तिक विषयों की चर्चा आयी है।

आचार्य श्रीधराचार्य

श्रीधराचार्य गणितसार, जातकतिलक, कन्नड़ लीलावती, ज्योतिर्ज्ञानविधि आदि ज्योतिष-विषयक ग्रन्थों के रचयिता हैं।

श्रीधराचार्य के 'जातकतिलक' का रचनाकाल ईस्वी सन् 1049 है। अतः

श्रीधराचार्य का समय ईस्वी सन् की आठवीं शती का अन्तिम भाग या नवम शती का पूर्वार्द्ध है। श्रीधराचार्य की ज्योतिष और गणित-विषयक चार रचनायें मानी जाती हैं — 1. गणितसार या त्रिंशतिका; 2. ज्योतिज्ञविधि — करणविषयक ज्योतिष-ग्रन्थ; 3. जातकतिलक — जातक-सम्बन्धी फलित-ग्रन्थ; एवं 4. बीजगणित — बीजगणितविषयक गणित-ग्रन्थ। इनमें से जातकतिलक कन्नड़-भाषा में लिखित जातक-सम्बन्धी ग्रन्थ है।

आचार्य दुर्गदेव

आचार्य दुर्गदेव दिगम्बर-परम्परा के हैं। जैन-साहित्य संशोधक में प्रकाशित 'बृहट्टिप्पणिका' नामक प्राचीन जैन-ग्रन्थ सूची में 'मरणकण्डिका' और 'मन्त्रोदधि' के कर्त्ता दुर्गदेव को दिगम्बर आम्नाय का आचार्य माना है। 'रिष्टसमुच्चय' की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि इनके गुरु का नाम 'संयमदेव'[48] था।

दुर्गदेव ने 'रिष्टसमुच्चय' ग्रन्थ की रचना लक्ष्मीनिवास राजा के राज्य में कुम्भनगर नामक पहाड़ी नगर के शान्तिनाथ जिनालय में की है।[49] विशेषज्ञों का अनुमान है कि यह कुम्भनगर भरतपुर के निकट 'कुम्हर', 'कुम्भेर' अथवा 'कुम्भेरी' नाम का प्रसिद्ध स्थान ही है। इस ग्रन्थ की रचना शौरसेनी-प्राकृत में हुई है।

'रिष्टसमुच्चय' की प्रशस्ति में संयमदेव और दुर्गदेव — इन दोनों की विद्वत्ता का वर्णन आया है। दुर्गदेव के गुरु संयमदेव षड्दर्शन के ज्ञाता, ज्योतिष, व्याकरण और राजनीति में पूर्ण निष्णात थे। ये सिद्धान्तशास्त्र के पारगामी थे और मुनियों में सर्वश्रेष्ठ थे। इन यशस्वी यमदेव के शिष्य दुर्गदेव भी विशुद्ध चरित्रवान् और सकलशास्त्रों के मर्मज्ञ पण्डित थे।

दुर्गदेव ईस्वी सन् की 11वीं शती के विद्वान् हैं। दुर्गदेव की ये रचनायें उपलब्ध हैं — रिष्टसमुच्चय, अर्घकाण्ड, मरणकण्डिका, एवं मन्त्रमहोदधि। ग्रंथकर्त्ता के जीवन की छाप ग्रन्थ में रहती है — इस नियम के अनुसार यह स्पष्ट है कि आचार्य दुर्गदेव एक अच्छे मन्त्रवेत्ता थे। 'मन्त्रमहोदधि' मन्त्रशास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

आचार्य पद्मकीर्ति

'पासणाहचरिउ' के कर्त्ता मुनि पद्मकीर्ति हैं। इस ग्रंथ की प्रत्येक सन्धि के अन्तिम कड़वक के घत्ते में 'पउम' शब्द का उपयोग किया गया है। 14वीं और 18वीं सन्धियों के अन्तिम घत्तों में 'पउमकित्तिमुणि' का प्रयोग आ जाता है, जिससे स्पष्ट है कि आचार्य पद्मकीर्तिमुनि ने 'पासणाहचरिउ' की रचना की।

पद्मकीर्ति के गुरु जिनसेन, दादागुरु माधवसेन और परदादागुरु चन्द्रसेन थे। सेनसंघ अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है और इस ससंघ में बड़े-बड़े आचार्य उत्पन्न हुये हैं। पद्मकीर्ति दाक्षिणात्य थे, क्योंकि सेनसंघ का प्रभुत्व दक्षिण भारत में रहा है।

'पासणाहचरिउ' के वर्णनों से भी इनका दाक्षिणात्य होना सिद्ध होता है। युद्धवर्णन-सम्बन्ध में कर्नाटक और महाराष्ट्र के वीरों की प्रशंसा की गयी है। अतएव जन्मभूमि के प्रेम के कारण कवि को दाक्षिणात्य मानने में किसी प्रकार की बाधा नहीं है। अर्थात् 18 संधियों से युक्त यह पुराण 63 पुराणों में सबसे अधिक प्रधान है। नानाप्रकार के छन्दों से सुशोभित 310 कड़वक तथा 3323 से कुछ अधिक पंक्तियाँ इस ग्रन्थ का परिमाण हैं। आचार्य पद्मकीर्ति ने धर्म, दर्शन और काव्य की त्रिवेणी इस ग्रन्थ में एकसाथ प्रवाहित की है।

आचार्य इन्द्रनन्दि द्वितीय

पं. जुगलकिशोर जी ने अनुमान किया था कि 'छेद-पिण्ड' के रचयिता इन्द्रनन्दि 'मल्लिषेणप्रशस्ति' में निर्दिष्ट इन्द्रनन्दि हैं। इन्द्रनन्दि का समय ईस्वी सन् की 10वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध या 11वीं शती का पूर्वार्द्ध होना सम्भव है।

इन्द्रनन्दि का 'छेदपिण्ड' नामक ग्रन्थ उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला से विक्रम-संवत् 1978 में हुआ है। प्रकाशित प्रति में 362 गाथायें हैं, पर ग्रन्थ में निबद्ध गाथा में 333 ही गाथाओं की संख्या बतायी है और श्लोक-प्रमाण 420 बताया गया है।

नामानुसार तत्तदधिकार में होनेवाले दोष और इन दोषों के निराकरणार्थ प्रायश्चित्तविधि का वर्णन आया है। वस्तुत: यह प्रायश्चितशास्त्र आत्म-शुद्धि के लिये अत्यन्त उपयोगी है। मूलगुण और उत्तरगुणों में प्रमाद या अज्ञान से लगनेवाले दोषों का कथन किया गया है।

आचार्य वसुनन्दि प्रथम

वसुनन्दि प्रथम ने 'प्रतिष्ठासंग्रह' की रचना संस्कृत-भाषा में की है और 'श्रावकाचार' या 'उपासकाध्ययन' की रचना प्राकृत-भाषा में। अत: स्पष्ट है कि वे उभय भाषा के ज्ञाता थे। यही कारण है कि वसुनन्दि को उत्तरवर्ती आचार्यों ने 'सैद्धान्तिक' उपाधि द्वारा उल्लिखित किया है। कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा में श्रीनन्दि नाम के आचार्य हुये। उनके शिष्य नयनन्दि और नयनन्दि के शिष्य नेमिचन्द्र हुये। नेमिचन्द्र प्रसाद से वसुनन्दि ने यह 'उपासकाध्ययन' लिखा है।

ग्रन्थरचनाकार वसुनन्दि ने इस ग्रन्थ के निर्माण का समय नहीं दिया है। वसुनन्दि का समय ईस्वी सन् की 11वीं शताब्दी का अन्तिम चरण या 12वीं शताब्दी का प्रथम चरण सम्भव है। आचार्य वसुनन्दि के 'प्रतिष्ठासारसंग्रह', 'उपासकाचार' और 'मूलाचार की आचारवृत्ति' ये तीन ग्रन्थ हैं। 'आप्तमीमांसावृत्ति' और 'जिनशतक' टीका के रचयिता अन्य वसुनन्दि हैं। इन समस्त ग्रन्थों में इनकी सबसे महत्त्वपूर्ण रचना 'उपासकाध्ययन' या 'श्रावकाचार' है।

आचार्य रामसेनाचार्य

आचार्य रामसेनाचार्य 'तत्त्वानुशासन' के कर्त्ता थे। 'तत्त्वानुशासन' के अन्त में प्रशस्ति दी गयी है, जिसमें आचार्य ने अपने विद्यागुरु और दीक्षागुरु का निर्देश किया है।

'तत्त्वानुशासन' के रचयिता मुनि रामसेन सेनगण के आचार्य हैं। रामसेनाचार्य गुणभद्र के उत्तरकालीन हैं। गुणभद्र का 'उत्तरपुराण' शक-संवत् 950 में पूर्ण हुआ है। अतएव रामसेन के समय की पूर्वसीमा 950 तक पहुँच जाती है। रामसेन का समय ईस्वी सन् की 11वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है।

'तत्त्वानुशासन' नामक ग्रंथ में 259 पद्य हैं। इस ग्रंथ का प्रकाशन माणिकचन्द्र ग्रंथमाला के ग्रंथांक 13 में किया गया है। इस प्रकाशन में इस ग्रंथ के रचयिता नागसेन बतलाये हैं, पर आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार ने इस ग्रन्थ का संशोधित संस्करण प्रकाशित किया है, जिसमें इसके रचयिता रामसेनाचार्य सिद्ध किये हैं। यह ग्रन्थ अध्यात्म-विषयक है और स्वानुभूति से अनुप्राणित है। इस ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक ध्यान का वर्णन आया है।

आचार्य गणधरकीर्ति

आचार्य गणधरकीर्ति अध्यात्म-विषय के विद्वान् हैं। ये दर्शन-व्याकरण और साहित्य के पारंगत विद्वान् थे। गद्य और पद्य — दोनों में लिखने की क्षमता इनमें विद्यमान थी। अध्यात्मतरंगिणी के टीकाकार के रूप में गणधरकीर्ति की ख्याति है। ये गुजरात प्रदेश के निवासी थे। इन्होंने अपनी यह टीका सोमदेव नाम के किसी व्यक्ति के अनुरोध से रची है। यह टीका गुजरात के चालुक्यवंशी राजा जयसिंह या सिद्धराज जयसिंह के राज्यकाल में समाप्त की थी। विक्रम-संवत् 1189, चैत्र शुक्ला पंचमी, रविवार, पुष्य नक्षत्र में इस टीका की रचना की गयी थी।

श्री पं. परमानन्द जी शास्त्री ने इसकी दो पाण्डुलिपियों की चर्चा की है। एक पाण्डुलिपि 'ऐलक पन्नालाल दिगम्बर-जैन सरस्वती भवन, झालरापाटन' में है। यह प्रति विक्रम-संवत् 1533 आश्विन शुक्ल द्वितीया के दिन 'हिसार' में लिखी गयी है। यह प्रति सुनामपुर के वासी खण्डेलवालवंशी संघाधिपति श्रावक कल्हू के चार पुत्रों में से प्रथम पुत्र धीरा की पत्नी धनश्री के द्वारा अपने ज्ञानावरणी कर्म के क्षयार्थ लिखकर तात्कालिक भट्टारक जिनचन्द्र के शिष्य पण्डित मेधावी को प्रदान की है। दूसरी प्रति पाटन के श्वेताम्बरी शास्त्रभण्डार में है।

आचार्य भट्टवोसरि

आचार्य भट्टवोसरि ज्योतिष और निमित्तशास्त्र के आचार्य हैं। ये दिगम्बराचार्य दामनन्दि के शिष्य थे। भट्टवोसरि ने गुरु दामनन्दि के पास से आयों का रहस्य प्राप्त कर आय-विषयक सम्पूर्ण शास्त्रों के साररूप में यह ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ पर

स्वयं ग्रन्थकार की रची हुई संस्कृत-टीका भी है। टीका अथवा मूलग्रन्थ में रचयिता ने रचना-समय का निर्देश नहीं किया है। भाषा-शैली और विषय इन दोनों ही दृष्टियों से आय-ज्ञानतिलक 11वीं शताब्दी से पहले की रचना प्रतीत होती है।

इस ग्रन्थ में 415 गाथायें और 25 प्रकरण हैं। प्रश्नशास्त्र की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण है। इसमें वज्र, धूम, सिंह, गज, खर, श्वान, वृष और ध्वांक्ष — इन आठ आयों द्वारा प्रश्नों के फल का सुन्दर वर्णन किया है। इन्होंने आठ आयों द्वारा स्थिर चक्र और चल-चक्रादिक की रचना कर विविध प्रश्नों के उत्तर दिये हैं।

इस प्रकार प्रश्नाक्षरों द्वारा फलादेश-विधि का निरूपण किया है। प्रश्नकर्त्ता की शारीरिक शुद्धि के साथ मान्त्रिक शुद्धि भी अपेक्षित है। आचार्य ने तन-मन की शुद्धि का वर्णन कर अन्त में मान्त्रिक शुद्धि का विधान किया है। प्रश्न-शास्त्र की दृष्टि से यह ग्रन्थ विशेष महत्त्वपूर्ण है।

आचार्य उग्रादित्य

आयुर्वेद के विशेषज्ञ विद्वान् उग्रादित्याचार्य ने अपना विशेष परिचय नहीं लिखा है। इन्होंने अपने गुरु का नाम श्रीनन्दि, ग्रन्थ-निर्माण स्थान रामगिरि पर्वत बताया है। श्रीनन्दि नाम के कई आचार्य हुये हैं। नन्दिसंघ की पट्टावली में उल्लिखित श्रीनन्दि ही उग्रादित्याचार्य के गुरु हैं। इन श्रीनन्दि का समय संवत् 749 है। यदि इसको शक-संवत् मान लिया जाये, तो उग्रादित्य आचार्य नन्दि-संघ के आचार्य सिद्ध होते हैं।

उग्रादित्याचार्य का 'कल्याणकारक' नामक एक वृहद्काय ग्रन्थ प्राप्त है। इस ग्रन्थ में 25 परिच्छेदों के अतिरिक्त अन्त में परिशिष्ट-रूप में 'अरिष्टध्याय' और 'हिताध्याय' ये दो अध्याय भी आये हैं। ग्रन्थकर्त्ता ने प्रत्येक परिच्छेद के आरम्भ में जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार किया है। ग्रन्थ रचने की प्रतिज्ञा, उद्देश्य आदि का वर्णन गया है। परिशिष्ट-रूप में 'रिष्टाधिकार' में अरिष्टों का वर्णन और हिताध्याय में पथ्यापथ्य का निरूपण आया है। आयुर्वेद की दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण है।

इनका समय ईस्वी सन् की 13वीं शताब्दी का मध्यभाग होना सम्भव है। इनकी निम्नलिखित रचनायें प्राप्त हैं — प्रमाप्रमेय, कथा-विचार, शाकटायन-व्याकरण-टीका, कातन्त्ररूपमाला, न्यायसूर्यावलि, भुक्ति-मुक्तिविचार, सिद्धान्तसार, न्यायदीपिका, सप्तदार्थी-टीका, एवं विश्वतत्त्वप्रकाश। यह विश्वतत्त्वप्रकाश भी किसी ग्रन्थ का एक परिच्छेद ही प्रतीत होता है। सम्भवतः पूर्ण ग्रन्थ आचार्य का दूसरा ही रहा होगा।

आचार्य नयसेन

'धर्मामृत' के रचयिता आचार्य नयसेन का जन्मस्थान धारवाड़ जिले का मूलगुन्दा नामक तीर्थस्थान है। उत्तरवर्ती कवियों ने उन्हें 'सुकवि-निकर-पिक-माकन्द', 'सुकविजन-मनःसरोज-राजहंस' एवं 'वात्सल्यरत्नाकर' आदि विशेषणों से विभूषित किया है। नयसेन के गुरु का नाम नरेन्द्रसेन था।

नयसेनाचार्य संस्कृत, तमिल और कन्नड़ के धुरन्धर विद्वान् थे। इन्होंने 'धर्मामृत' के अतिरिक्त कन्नड़ का एक व्याकरण भी रचा है। इन्होंने अपने को 'तर्कवागीश' कहा है तथा अपने को चालुक्यवंश के भुवनैकमल्ल (शक संवत् 1069-1076) द्वारा वन्दनीय कहा है।

'धर्मामृत' में ग्रन्थरचना का समय दिया हुआ है। इससे इनका समय ईस्वी सन् की 12वीं शती का पूर्वार्द्ध सिद्ध होता है। 'धर्मामृत' ग्रन्थ में कथाओं के माध्यम से धर्म के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं। श्रावकाचार की प्रायः सभी बातें इस ग्रंथ में बतायी गयी हैं। विषय-प्रतिपादन करने की विधि अत्यन्त सरल और सरस है। कथात्मक-शैली में धर्मसिद्धान्तों का निरूपण किया गया है।

आचार्य वीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती

'आचारसार' के रचयिता वीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती मूलसंघ, पुस्तकगच्छ और देशीयगण के आचार्य हैं। इनके गुरु मेघचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती थे। मेघचन्द्र के शिष्य वीरनन्दि का समय ईस्वी सन् की 12वीं शताब्दी का मध्य भाग है।

वीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती की एक ही कृति प्राप्त है — 'आचारसार'। इसमें मुनियों के आचार का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। ग्रन्थ 12 परिच्छेदों में विभक्त है।

श्रुतमुनि

श्रुतमुनि की तीन रचनायें प्राप्त होती हैं — 1. परमागमसार, 2. आस्रवत्रिभंगी, एवं 4. भावत्रिभंगी। 'आस्रवत्रिभंगी' में 62 गाथायें हैं, जिनमें आस्रव के 57 भेदों का गुणस्थानों में कथन किया गया है। 'भावत्रिभंगी' में 116 गाथायें हैं। इस ग्रन्थ में गुणस्थान और मार्गणास्थानक्रमानुसार भावों का वर्णन आया है। 'परमागमसार' में 230 गाथायें हैं, और आगम के स्वरूप तथा भेद-प्रभदों का वर्णन आया है। दोनों त्रिभंगी-ग्रन्थ 'माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला' से ग्रन्थसंख्या 20 में प्रकाशित हैं।

आचार्य हस्तिमल्ल

हस्तिमल्ल वत्स्यगोत्रीय ब्राह्मण थे और इनके पिता का नाम गोविन्दभट्ट था। ये दक्षिण-भारत के निवासी थे। विक्रान्तकौरव[50] नाटक की प्रशस्ति से अवगत होता है कि गोविन्दभट्ट ने स्वामी समन्तभद्र के प्रभाव से आकृष्ट होकर मिथ्यात्व त्याग

कर जैनधर्म ग्रहण किया था। गोविन्दभट्ट के छः पुत्र थे — 1. श्रीकुमारकवि, 2. सत्यवाक्य, 3. देवरवल्लभ, 4. उदयभूषण, 5. हस्तिमल्ल, एवं 6. वर्द्धमान।

ये छहों पुत्र कवीश्वर थे। हस्तिमल्ल के सरस्वती-स्वयंवर-वल्लभ, महाकवि-तल्लज और सूक्तिरत्नाकर विरुद[51] थे। उनके बड़े भाई सत्यवाक्य ने 'कविसाम्राज्यलक्ष्मीपति' कहकर हस्तिमल्ल की सूक्तियों की प्रशंसा की है। 'राजावलिकथे' के कर्त्ता ने उन्हें 'द्वयभाषाकविचक्रवर्ती' लिखा है।

हस्तिमल्ल के पुत्र का नाम पार्श्वपण्डित बताया जाता है, जोकि पिता के समान ही यशस्वी और बहुशास्त्रज्ञ था। 'गुड्डिपत्तनद्वीप' वर्तमान 'तन्जौर' जिलान्तर्गत 'दोपनगुडि' स्थान ही है। नाटककार हस्तिमल्ल इसी स्थान के निवासी थे। उनका यह उपाधिप्राप्त नाम है। उनका वास्तविक नाम मल्लिषेण था। परवादीरूपी हस्तियों को वश करने के कारण हस्तिमल्ल यह उपाधिनाम बाद में प्रसिद्ध हुआ होगा।

इनके नाटकों के अध्ययन से अवगत होता है कि आचार्य-हस्तिमल्ल, बहुभाषाविद्, कामशास्त्रज्ञ, सिद्धान्ततर्कविज्ञ एवं विविध शास्त्रों के ज्ञाता थे। हस्तिमल्ल सेनसंघ के आचार्य हैं और ये वीरसेन और जिनसेन की परम्परा में हुये हैं। हस्तिमल्ल का समय विक्रम-संवत् 1217-1237 (ईस्वी सन् 1161-1181) तक माना गया है।

उभयभाषाकविचक्रवर्ती आचार्य-हस्तिमल्ल के निम्नलिखित चार नाटक और एक पुराण-ग्रन्थ प्राप्त है — 1. विक्रान्तकौरव, 2. मैथिलीकल्याणम्, 3. अंजनापवनंजयं, 4. सुभद्रनाटिका, एवं 5. आदिपुराण। इनके द्वारा विरचित एक प्रतिष्ठापाठ भी बताया जाता है।

उपर्युक्त चार नाटकों के अतिरिक्त उदयनराज, भरतराज, अर्जुनराज और मेघेश्वर — ये चार नाटक और इनके द्वारा विरचित माने जाते हैं। भरतराज सम्भवतः सुभद्रानाटिका और मेघेश्वर विक्रान्तकौरव का ही अपरनाम है। उदयनराज और अर्जुनराज इन दो नाटकों के सम्बन्ध में अभी तक यथार्थ जानकारी उपलब्ध नहीं है।

आचार्य माघनन्दि

इन्होंने 'शास्त्रसारसमुच्चय' नामक ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ के अन्त में एक पद्य अंकित है, जिसमें माघनन्दि योगीन्द्र को 'सिद्धान्ताम्बोधिचन्द्रमा' कहा गया है। 'शास्त्रसारसमुच्चय' के कर्त्ता का समय ईस्वी सन् की 12वीं शताब्दी का अन्तिम भाग है। यह ग्रन्थ चार अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में 20 सूत्र हैं, द्वितीय अध्याय में 45 सूत्र है, तृतीय अधयाय में 66 सूत्र है, जबकि चतुर्थ अध्याय में 65 सूत्र हैं।

आचार्य वज्रनन्दि

मल्लिषेणप्रशस्ति में वज्रनन्दि का नाम आया है, इन्हें 'नवस्तोत्र' का रचयिता बताया है। ये वही वज्रनन्दि मालूम होते हैं, जो पूज्यपाद के शिष्य थे और जिन्हें देवसेनसूरि ने अपने 'दर्शनसार' में द्राविडसंघ का संस्थापक बतलाया है। 'नवस्तोत्र' के अतिरिक्त इनका कोई प्रमाणग्रन्थ भी था। जिनसेन के उल्लेख से इनके किसी सिद्धान्तग्रन्थ के होने की भी सम्भावना की जा सकती है।

आचार्य महासेन द्वितीय

जिनसेन प्रथम ने अपने हरिवंशपुराण में 'सुलोचनाकथा' के रचयिता महासेन का उल्लेख किया है। धवल कवि ने भी अपभ्रंश के 'हरिवंशपुराण' में 'सुलोचनाकथा' की प्रशंसा की है। 'कुवलयमाला' के रचयिता उद्योतनसूरि ने भी महासेनकवि की सुलोचनाकथा की चर्चा की है। यह कथा सम्भवत: प्राकृत में रही होगी।

उद्योतनसूरि ने जिनसेन प्रथम से 5 वर्ष पूर्व अपने ग्रन्थ की रचना की है। अतएव यह निश्चित है कि दोनों के द्वारा प्रशंसित 'सुलोचनाकथा' एक ही है। अत: महासेन का समय ईस्वी सन् की 8वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध या 9वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध होना चाहिये।

आचार्य सुमतिदेव

मल्लिषेणप्रशस्ति में सुमतिदेव नाम के आचार्य का उल्लेख है, जो 'सुमतिसप्तक' के रचयिता हैं। मल्लिषेणप्रशस्ति में कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, सिंहनन्दि, वक्रग्रीव, वज्रनन्दि और पात्रकेसरी के पश्चात् सुमतिदेव की स्तुति किये जाने के कारण इनका समय 7वीं-8वीं शताब्दी अनुमानित किया है।

आचार्य पद्मसिंह मुनि

पद्मसिंहमुनि ने 'ज्ञानसार' नामक प्राकृत-ग्रन्थ की रचना विक्रम-संवत् 1086 में 'अम्बक' नाम के नगर में की है। पद्मसिंहमुनि ने यह रचना 63 गाथायें, 74 श्लोक प्रमाण में रची हैं। इन गाथाओं से स्पष्ट है कि कवि ज्ञान, प्रमाण, नय, कर्मसिद्धान्त आदि विषयों का पूर्ण ज्ञाता है।

आचार्य माधवचन्द्र त्रैविद्य

माधवचन्द्र नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के शिष्य माधवचन्द्र त्रैविद्य हैं, जिनहोंने अपने गुरु की सम्मति से कुछ गाथायें यत्र-तत्र समाविष्ट की हैं। आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार और प्रेमीजी दोनों ही 'गोम्मटसार' में उल्लिखित तथा 'त्रिलोकसार' के संस्कृतटीकाकार को नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती का शिष्य मानते हैं,

पर डॉ. ज्योतिप्रसाद जी ने 'क्षपणासार' की प्रशस्ति के आधार पर उसका रचनास्थान दुल्लकपुर या छुल्लकपुर या कोल्हापुर बताया है।

आचार्य नयनन्दि

आचार्य नयनन्दि अपने युग के प्रसिद्ध आचार्य हैं। इनके गुरु का नाम माणिक्यनन्दि त्रैविद्य था। नयनन्दि ने अपने ग्रन्थ 'सुदंसणचरिउ' में अपनी गुरु-परम्परा अंकित की है। प्रशस्ति से स्पष्ट है कि सुनक्षत्र, पद्मनन्दि, विश्वनन्दि, नन्दनन्दि, विष्णुनन्दि, विशाखनन्दि, रामनन्दि, माणिक्यनन्दि और नयनन्दि नामक आचार्य हुये हैं। 'सुदंसणचरिउ' का रचनाकाल स्वयं ही ग्रन्थकर्त्ता ने अंकित किया है। यह ग्रन्थ विक्रम-संवत् 1100 में रचा गया है। आचार्य ने बताया है कि अवन्ति देश की धारा नगरी में जब त्रिभुवननारायण श्रीनिकेतननरेश भोजदेव का राज्य था, उसी समय धारा नगरी के एक जैन-मन्दिर में बैठकर विक्रम-संवत् 1100 में 'सुदर्शनचरित' की रचना की। नयनन्दि का समय विक्रम-संवत् की 11वीं शताब्दी का अन्तिम और 12वीं शती का प्रारम्भिक भाग है।

नयनन्दि की 'सुदंसणचरिउ' और 'सयलविहिविहाणकव्व' नामक दो रचनायें उपलब्ध हैं। सुदंसणचरिउ अपभ्रंश का एक प्रबन्धकाव्य है, जो महाकाव्य की कोटि में परिगणित किया जा सकता है। रोचक कथावस्तु के कारण आकर्षक होने के साथ सालंकार काव्य-कला की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ उच्च-कोटि का है। 'सकलविधिविधान' काव्य 58 सन्धियों में समाप्त हुआ है, पर यह ग्रन्थ अपूर्ण ही उपलब्ध है। इस ग्रन्थ की रचना की प्रेरणा मुनि हरिसिंह ने की थी। इस ग्रंथ की सामग्री अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। संसार की असारता और मनुष्य की उन्नति-अवनति का इसमें हृदयग्राही चित्रण आया है।

4. परम्परापोषकाचार्य

'परम्परापोषक' आचार्यों से अभिप्राय उन भट्टारकों से है, जिन्होंने दिगम्बर-परम्परा की रक्षा के लिये प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्मित ग्रन्थों के आधार पर अपने नवीन-ग्रन्थ लिखे। सारस्वताचार्य और प्रबुद्धाचार्य में जैसी मौलिक-प्रतिभा समाविष्ट थी, वैसी मौलिक-प्रतिभा परम्परापोषक-आचार्यों में नहीं पायी जाती।

सामान्यतः यहाँ पर इनका परिचयात्मक विवरण प्रकरण-प्राप्त है, किन्तु इसकी व्यापकता तथा योगदान को पृथक्तः रेखांकित करने के लिये मैं इनका अगले खण्ड में स्वतंत्र-रूप से वर्णन करूँगा। इसीलिये यहाँ पर इनका उल्लेख नहीं कर रहा हूँ। कृपया जिज्ञासु पाठक-वृन्द इस क्रम-परिवर्तन को अन्यथा न लेते हुये यह सामग्री आगामी खण्ड में देखने का कष्ट करें।

5. आचार्यतुल्य कवि और लेखक

दिगम्बर-परम्परा के श्रुत का संरक्षण और विस्तार आचार्यों के अतिरिक्त गृहस्थ लेखक और कवियों ने भी किया है। पंडित आशाधर जैसे बहुश्रुतज्ञ विद्वान् इस परम्परा में हुये हैं, जिन्होंने मौलिक रचनाओं के साथ अनेक ग्रन्थों की टीकायें और टिप्पण भी लिखे हैं। महाकवि रइधू, असग, हरिचन्द आदि ने भी रचनायें लिखकर आरातीय-परम्परा के विकास में योगदान दिया है। आचार्य जिनसेन, महाकवि पुष्पदन्त की परम्परा का विकास विभिन्न भाषाओं द्वारा रचित वाङ्मय के आधार पर किया है। प्रबुद्ध आचार्यों ने जिन पौराणिक महाकाव्यों के रचनातन्त्र का प्रारम्भ किया था, उस रचनातन्त्र का सम्यक् विकास इन कवियों द्वारा हुआ। संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल, तेलुगू आदि भाषाओं में कवियों और लेखकों ने सिद्धान्त और आचारविषयक रचनायें लिखकर श्रुत-परम्परा का विकास किया है। ये लेखक और कवि भी वाङ्मय के स्रष्टा और संवर्द्धक हैं।

इस श्रेणी के कवि और लेखकों में असग, हरिचन्द, अर्हद्दास, आशाधर, धर्मधर, दोड्य, जगन्नाथ, लक्ष्मीचन्द्र, रामचन्द्र मुमुक्षु, पद्मनाभ कायस्थ, कविवर बनारसीदास, पंडित रामचन्द्र, ब्रह्म कामराज, रूपचन्द्र, रूपचन्द्र पाण्डेय, हरपाल, केशवसेन, अक्षयराम, देवदत्त, पंडित धरसेन, शिवभिराम, ब्रह्म राजमल आदि प्रमुख हैं। साधारणतः इन कवियों और लेखकों में अधिकांश का सम्बन्ध भट्टारकों के साथ है। यह भी सम्भव है कि इनमें से दो-चार कवि या लेखक भट्टारक भी रहे हों, पर रचनाओं से इनका जीवन सांसारिक गृहस्थ के समान ही प्रतीत होता है। इसी कारण हमने इनकी गणना कवियों और लेखकों में की है।

परम्परपोषक आचार्यों द्वारा निर्मित वाङ्मय को निम्नलिखित वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—1. न्याय-दर्शनविषयक वाङ्मय, 2. अध्यात्म एवं सिद्धान्त-सम्बन्धी वाङ्मय, 3. चरित्र या आचारमूलक धार्मिक वाङ्मय, 4. पौराणिकचरितग्रन्थ, 5. लघुप्रबन्धग्रन्थ, 6. दूतकाव्य, 7. प्रबन्धात्मक प्रशस्तिमूलक ग्रन्थ, 8. ऐतिहासिक ग्रन्थ, 9. सन्धानकाव्य, 10. सूक्तिकाव्य, 11. स्तोत्र, पूजा और भक्ति-विषयक साहित्य, 12. संहिता-विषयक साहित्य, 13. मन्त्र-तन्त्र एवं चमत्कार-विषयक साहित्य, 14. व्रतमाहात्म्य-सम्बन्धी साहित्य, 15. उद्यापन एवं क्रियाकाण्ड-विषयक साहित्य, एवं 16. ज्योतिष-आयुर्वेद-विषयक साहित्य।

संक्षेप में, परम्परापोषक-आचार्यों ने अपनी प्रतिभा का पूर्ण प्रदर्शन कर लोकहित-साधक वाङ्मय का प्रणयन विशेषरूप में किया है। भले ही आगम, दर्शन, अध्यात्म आदि विषयों में नूतनता का समावेश न हुआ हो, पर लौकिक साहित्य का प्रभूत प्रणयन कर जनमानस को अपनी ओर आकृष्ट करने का पूर्ण प्रयास किया है।

प्रमुख एवं प्रभावक परम्परापोषक-आचार्यों का संक्षिप्त परिचय निम्नानुसार है—

आचार्य पार्श्वदेव

आचार्य पार्श्वदेव लौकिक-विषयों के मर्मज्ञ पण्डित हैं। इन्होंने अन्य शास्त्रों के साथ संगीतशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ की रचना की है। पार्श्वदेव महादेवार्य के शिष्य और अभयचन्द्र के प्रशिष्य थे। कृष्णमाचार्य ने इन्हें श्रीकान्त जाति के 'आदिदेव' एवं 'गौरी' का पुत्र बताया है। इनकी 'श्रुतज्ञानचक्रवर्ती', 'संगीतकार' और 'भाषाप्रवीण' उपाधियाँ थीं। श्रीनारायण मोरेश्वर खरे ने पार्श्वदेव को दाक्षिणात्य अनुमानित किया है। 'संगीतसमयसार' में केवल देशी संगीत पर ही विचार किया गया है।

पार्श्वदेव का समय 12वीं शताब्दी का अन्तिम पाद या 13वीं शताब्दी का प्रथम पाद होना सम्भव है। पार्श्वदेव की 'संगीतसमयसार' नामक एक ही कृति उपलब्ध है। ग्रंथ नव-अधिकरणों में समाप्त हुआ है। इस प्रकार पार्श्वदेव ने अपने इस ग्रन्थ में संगीत की उपादेयता स्वीकार की है और इसे समाधिप्राप्ति का कारण माना है। अतः धर्मशास्त्र के समान ही संगीतशास्त्र का महत्त्व स्वीकार किया है।

आचार्य भास्करनन्दि

तत्त्वार्थ के टीकाकारों में भास्करनन्दि का अपना स्थान है। भास्करनन्दि के गुरु का नाम जिनचन्द्र और जिनचन्द्र के गुरु का नाम सर्वसाधु था। भास्करनन्दि का समय विक्रम-संवत् 16वीं शती है। भास्करनन्दि की एक रचना उपलब्ध है — 'तत्त्वार्थसूत्रवृत्ति' —सुखसुबोधटीका। इसका प्रकाशन मैसूर विश्वविद्यालय ने किया है। टीकाकार ने पूज्यपाद के साथ अकलंक और विद्यानन्द के ग्रंथों से भी प्रभाव अर्जित किया है। इस वृत्ति की प्रमुख विशेषतायें इसप्रकार हैं — विषय-स्पष्टीकरण के साथ नवीन सिद्धान्तों की स्थापना, पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को आत्मसात् कर उनका अपने रूप में प्रस्तुतीकरण, ग्रंथान्तरों के उद्धरणों का प्रस्तुतीकरण, मूल मान्यताओं का विस्तार, एवं पूज्यपाद की शैली का अनुसरण करने पर भी मौलिकता का समावेश। इनकी एक अन्य रचना 'ध्यानस्तव' भी है, जो रामसेन के 'तत्त्वानुशासन' के आधार पर रचित है।

आचार्य ब्रह्मदेव

अध्यात्मशैली के टीकाकारों में आचार्य ब्रह्मदेव का नाम उल्लेखनीय है। ये जैनसिद्धान्त के मर्मज्ञ विद्वान् थे। श्री पण्डित परमानन्द जी शास्त्री ने अपने एक निबन्ध में बताया है कि 'द्रव्यसंग्रह' के रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव, वृत्तिकार ब्रह्मदेव और सोमराज श्रेष्ठि ये तीनों ही समसामयिक हैं। उत्थानिकावाक्य से यह स्पष्ट है कि ब्रह्मदेव की टीका और द्रव्यसंग्रह दोनों ही भोज के काल में रचे गये हैं। अतएव ब्रह्मदेव का समय विक्रम-संवत् की 12वीं शताब्दी होना चाहिये।

ब्रह्मदेव का समय ईस्वी मन् की 12वीं शती है। इनकी रचनायें हैं — वृहद्द्रव्यसंग्रह की टीका, परमात्मप्रकाश की टीका, तत्त्वदीपक, ज्ञानदीपक, प्रतिष्ठातिलक, विवाहपटल, एवं कथाकोष।

ब्रह्मदेव की टीका-शैली पर भाष्यात्मक होने पर भी सरल है। व्याख्यायें नये रूप में प्रस्तुत की गयी है। अन्य ग्रन्थों से जो उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं, उनका विषय के साथ मेल बैठता है। टीकाकार के व्यक्तित्व के साथ मूल-लेखक का व्यक्तित्व भी ब्रह्मदेव में समाविष्ट है।

आचार्य रविचन्द्र

आचार्य रविचन्द्र अपने को 'मुनीन्द्र' कहते हैं। उनका निवास-स्थान कर्नाटक-प्रान्त के अन्तर्गत 'पनसोज' नाम का स्थान है। अभिलेखों से इनका समय ईस्वी सन् की दशम शताब्दी सिद्ध होता है।[52]

इस परिचय से इतना तो स्पष्ट है कि आचार्य दक्षिण-भारत के निवासी थे और इन्होंने जैन-आगम का पाण्डित्य प्राप्त किया था। 'आराधनासार' में रविचन्द्र ने पूर्वाचार्यों के अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। अतएव इनका समय ई. सन् की 12वीं शताब्दी का अन्तिम पाद या 13वीं शती का प्रथम पाद संभव है।

रविचन्द्र का 'आराधनासारसमुच्चय' संस्कृतपद्यों में लिखा गया उपलब्ध है। इस ग्रन्थ में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप — इन चारों आराधनाओं का वर्णन किया गया है। रविचन्द्र ने यह समस्त ग्रन्थ आर्याछन्द में लिखा है।

आचार्य अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती

मूलसंघ, देशीयगण, पुस्तकगच्छ, कोण्डकुन्दान्वय की 'इंगलेश्वरी' शाखा के श्रीसमुदाय में माघनन्दि भट्टारक हुये हैं। इनके नेमिचन्द्र भट्टारक और अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती — ये दो शिष्य हुये हैं। अभयचन्द्र बालचन्द्र पण्डित के श्रुतगुरु थे।

अभयचन्द्र के समाधिमरण से सम्बन्धित अभिलेख में कहा गया है कि वह छन्छ, न्याय, निघण्टु, शब्द, समय, अलंकार, भूचक्र, प्रमाणशास्त्र आदि के विशिष्ट विद्वान् थे। श्रुतमुनि का समय ईस्वी सन् की 13वीं शताब्दी निश्चित है। अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने 'कर्मप्रकृति' नामक ग्रन्थ की रचना की है। इनको गोम्मटसार जीवकाण्ड की 'मन्दप्रबोधिका टीका' का रचयिता भी माना है।[53]

इस ग्रन्थ में समस्त 146 उत्तरप्रकृतियों का स्वरूप-निर्धारण और भेद बतलाये गये हैं।

इस प्रकार संक्षेपतः उल्लिखित जैनाचार्य-परम्परा के परिचयात्मक-विवरण से

यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनाचार्यों द्वारा न केवल धार्मिक और दार्शनिक क्षेत्रों में, अपितु ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में भी बहुआयामी-ग्रंथों का प्रणयन कर भारतीय संस्कृति और साहित्य को अभिनव-क्षितिज प्रदान किये गये हैं। भारतीय साहित्य और प्रातिभज्ञान की परम्परा में इनका योगदान अतुलनीय है। भारतीय-साहित्य का इतिहास लिखनेवाले अधिकांश लेखकों ने इनकी उपेक्षा साम्प्रदायिक-दृष्टिकोण से की है अथवा विषयज्ञान की व्यापकता न होने से की है; इससे भारतीय-साहित्य की व्यापकता का पूर्णबोध नहीं हो पाया है। अत: यह आवश्यक है इनके प्रकाश्य-संस्करणों में ये तथ्य निष्पक्षता में जोड़े जायें ताकि सम्पूर्ण विश्व के समक्ष भारतीय-वाङ्मय की गरिमा का सम्पूर्णता से बोध हो सके।

संस्कृत-भाषा के कवि और लेखक

संस्कृत-काव्य का प्रादुर्भाव भारतीय-सभ्यता के उषःकाल में ही हुआ था। जैन-कवियों और दार्शनिकों ने दर्शनशास्त्र के गहन और गूढ़ ग्रन्थों का प्रणयन संस्कृत-भाषा में भी किया था तथा दर्शन के क्षेत्र को अपनी महत्त्वपूर्ण रचनाओं के द्वारा समृद्ध बनाया।

प्रमुख एवं प्रभावक संस्कृतभाषी कवियों एवं लेखकों का संक्षिप्त वर्णन निम्नानुसार किया जा रहा है—

कवि परमेष्ठी या परमेश्वर

कवि परमेश्वर का स्मरण 9वीं शती से लेकर 13वीं शती तक के कन्नड़ कवि एवं संस्कृत के कवि करते रहे हैं। उद्धरणों से स्पष्ट है कि कवि परमेश्वर अत्यन्त प्रसिद्ध और प्रामाणिक पुराण-रचयिता हैं। इस पुराण का नाम 'वागर्थसंग्रह' था। इस ग्रन्थ की रचना समन्तभद्र और पूज्यपाद के समकालीन अथवा कुछ समय पश्चात् हुई होगी। कवि परमेश्वर की रचना ही समस्त जैन-पुराण-साहित्य का मूलाधार है।

महाकवि धनञ्जय

'द्विसन्धानमहाकाव्य' के अन्तिम पद्य की व्याख्या में टीकाकार ने इनके पिता का नाम वसुदेव, माता का नाम श्रीदेवी और गुरु का नाम दशरथ सूचित किया है। इनका समय ई. सन् की 8वीं शती के लगभग है।

इनकी रचनाओं में 'धनञ्जय नाममाला' छात्रोपयोगी 200 पद्यों का शब्दकोश है। इस नाममाला के साथ 46 श्लोकप्रमाण एक अनेकार्थनाममाला भी सम्मिलित है। 'विषापहारस्तोत्र' एक स्तुतिपरक काव्य है। 'द्विसन्धानमहाकाव्य' सन्धानशैली का सर्वप्रथम संस्कृत-काव्य है।

महाकवि असग

कवि के पिता का नाम 'पटुमति' और माता का नाम 'वैरेति' था। गुरु का नाम 'नागनन्दि आचार्य' लिखा है। कवि का समय ई. सन् की 10वीं शताब्दी है। कवि की दो महाकाव्य रचनायें प्राप्त हैं — 1. वर्द्धमानचरित, और 2. शान्तिनाथ-चरित।

महाकवि हरिचन्द्र

इनके पिता का नाम 'आर्द्रदेव' और माता का नाम 'रव्यादेवी' था। इनकी जाति कायस्थ थी, पर ये जैनधर्मावलम्बी थे। हरिचन्द्र का व्यक्तित्व कवि और आचारशास्त्र के वेत्ता के रूप में उपस्थित होता है। महाकवि हरिचन्द्र की दो रचनायें उपलब्ध हैं — 1. धर्मशर्माभ्युदय, एवं 2. जीवन्धरचम्पू।

कवि चामुण्डराय

चामुण्डराय 'वीरमार्त्तण्ड', 'रणरंगसिंह', 'समरधुरन्धर' और 'वैरिकुलकालदण्ड' होने पर भी कलाकार एवं कलाप्रिय हैं। इनकी माता का नाम 'कालिकादेवी' बतलाया गया है और समझा जाता है कि इनके पिता तथा पूर्व गंगवंश के श्रद्धाभाजन राज्याधिकार रहे होंगे। वे महाराज मारसिंह तथा राजमल्ल द्वितीय के प्रधानमंत्री थे। इनका वंश 'ब्रह्मक्षत्रियवंश' बताया गया है।[54] इन्होंने श्रवणबेलागोल में बाहुबलि स्वामी की मूर्ति की प्रतिष्ठा ई. सन् 981 में की है।[55] चामुण्डराय का समय ई. सन् की दशम शताब्दी है।

'चामुण्डरायपुराण' अपरनाम 'त्रिषष्ठिपुराण' है। यह ग्रन्थ कन्नड़गद्य का सबसे प्रथम ग्रन्थ है। आचारशास्त्र का संक्षेप में स्पष्टरूप से वर्णन इस ग्रन्थ में संस्कृत के गद्यरूप में प्रस्तुत किया गया है।

महाकवि आशाधर

महाकवि आशाधर जैनाचार, अध्यात्म, दर्शन, काव्य, साहित्य, कोष, राजनीति, कामशास्त्र, आयुर्वेद आदि सभी विषयों के प्रकाण्ड पण्डित थे। आशाधर माण्डलगढ़ (मेवाड़) के मूलनिवासी थे; किन्तु मालवा की राजधानी 'धारा' नगरी में अपने परिवार-सहित आकर बस गये थे। पं. आशाधर बघेरवाल-जाति के श्रावक थे। इनके पिता का नाम 'सल्लक्षण' एवं माता का नाम 'श्रीरत्नी' था। 'सरस्वती' इनकी पत्नी थीं, जो बहुत सुशील और सुशिक्षिता थीं। इनके पुत्र भी था, जिसका नाम 'छाहड़' था। इनके विद्यागुरु प्रसिद्ध विद्वान् 'पं. महावीर' थे।

आशाधर का समय विक्रम की तेहरवीं शती निश्चित है। अभी तक उनकी निम्नलिखित रचनाओं उल्लेख मिले हैं — प्रमेयरत्नाकर, भरतेश्वराभ्युदय, ज्ञानदीपिका, राजीमतिविप्रलंभ, अध्यात्मरहस्य, मूलाराधना टीका, इष्टोपदेश टीका, भूपालचतुर्विंशति का टीका, आराधनासार टीका अमरकीटाश टीका, क्रियाकलाप,

काव्यालंकार टीका, सहस्रनामस्तवन सटीक, जिनयज्ञ कल्पसटीक, त्रिषष्ठिंस्मृति-शास्त्र, नित्यमहोद्योत, रत्नत्रयविधान, अष्टांगहृद्योतिनी टीका, सागारधर्मामृत सटीक, एवं अनगारधर्मामृत सटीक।

महाकवि अर्हद्दास

संस्कृत गद्य और पद्य के निर्माता के रूप में महाकवि अर्हद्दास अद्वितीय हैं। इनके गुरु 'आशाधर' थे। अर्हद्दास का समय वि. सं. 1300 मानना उचित है। अर्हद्दास की तीन रचनायें उपलब्ध हैं — 1. मुनिसुव्रतकाव्य, 2. पुरुदेवचम्पू, और 3. भव्यजनकण्ठाभरण।

कवि नागदेव

नागदेव सारस्वतकुल में उत्पन्न हुये और उनके परिवार के सभी व्यक्ति चिकित्साशास्त्र या अन्य किसी शास्त्र से परिचित थे। नागदेव का समय वि. सं. 1573 के पूर्व है। नागदेव का एक ही ग्रन्थ 'मदनपराजय' उपलब्ध है।

कवि रामचन्द्र मुमुक्षु

ये दिव्यमुनि 'केशवनन्दि' के शिष्य थे। रामचन्द्र मुमुक्षु की 'पुण्यास्रवकथाकोश' के साथ 'शान्तिनाथचरित' कृति भी बतलायी जाती है। रामचन्द्र का समय 13वीं शती के मध्य का भाग होगा।

कवि राजमल्ल

राजमल्ल का काव्य अध्यात्मशास्त्र, प्रथमानुयोग और चरणानुयोग पर आधृत है। इनका समय विक्रम की 17वीं शताब्दी है। इनकी निम्नलिखित रचनायें प्राप्त हैं — लाटीसंहिता, जम्बूस्वामीचरित, अध्यात्मकमलमार्त्तण्ड, पञ्चाध्यायी, एवं पिङ्गलशास्त्र।

अभिनव चारुकीर्ति पंडिताचार्य

अभिनव पंडिताचार्य का जनम दक्षिण-भारत के सिंहपुर में हुआ था। जब श्रवणबेलगोल में भट्टारक-पद प्राप्त किया, तो इनका उपाधिनाम 'चारुकीर्ति' हो गया। इनका समय ई. सन् की 16शीं शती होना चाहिये। अभिनव पंडिताचार्य की दो रचनायें उपलब्ध हैं — 1. गीतवीतराग, और 2. प्रमेयरत्नालंकार।

अपभ्रंश-भाषा के कवि एवं लेखक

गुर्जर, प्रातिहार, पालवंश, चालुक्य, चौहान, चेदि, गहड़वाल, चन्देल, परमार आदि राजाओं के राज्यकाल में अपभ्रंश का पर्याप्त विकास हुआ। छठवीं शती से चौदहवीं शतक तक अपभ्रंश में अनेक मान्य आचार्य हुये, जिन्होंने अपनी लेखनी से अपभ्रंश-साहित्य को मौलिक कृतियाँ समर्पित कीं।

प्रमुख एवं प्रभावक अपभ्रंश-भाषी कवियों और लेखकों का विवरण निम्नलिखित है—

कवि चतुर्मुख

चतुर्मुख कवि अपभ्रंश-भाषा के ख्यातिप्राप्त कवि थे। 'पद्धड़िया' छन्द के क्षेत्र में चतुर्मुख का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। सम्भवत: इनकी दो रचनायें रही हैं — 1. महाभारत, और 2. पंचमीचरिउ। आज ये रचनायें उपलब्ध नहीं हैं।

महाकवि स्वयंभूदेव

काव्य-रचयिता के साथ स्वयंभू छन्दशास्त्र और व्याकरण के भी प्रकाण्ड पण्डित थे। स्वयंभूदेव गृहस्थ थे। इनकी कई पत्नियाँ थीं, जिनमें दो के नाम प्रसिद्ध हैं — एक 'अइच्चंबा (आदित्यम्बा) ओर दूसरी सामिअंब्बा। स्वयंभु का व्यक्तितव प्रभावक थ। वे शरीर से क्षीणकाय होने पर भी ज्ञान से पुष्टकाय थे। पुष्पदन्त ने इन्हें 'आपुलसंघीय' बताया है। इसप्रकार ये यापनीय-सम्प्रदाय के अनुयायी जान पड़ते हैं। वे दाक्षिणात्य थे। इनका समय ई. सन् 783 है। इनकी रचनायें हैं — पउमचरिउ, रिट्णेमिचरिउ, स्वयंभुछंद, सोद्धयचरिउ, पंचमिचरिउ, एवं स्वयंभुव्याकरण।

महाकवि पुष्पदन्त

पुष्पदन्त का घरेलू नाम 'खण्ड' या खण्डू' था। इनका स्वभाव उग्र और स्पष्टवादी था। कवि के उपाधिनाम अभिमानमेरु कविकुल-तिलक, सरस्वतीनिलय और काव्यपिसल्ल' थे। महाकवि पुष्पदन्त कश्यपगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम 'केशवभट्ट' और माता का नाम 'मुग्धादेवी' था। आरंभ में कवि शैव थे, पर बाद में वह किसी जैन-मुनि के उपदेश से जैन हो गये। मान्यखेट में कवि ने अपनी अधिकांश रचनायें लिखी हैं। महाकवि का समय ई. सन् की प्रथम शती है। इनकी तीन रचनायें उपलब्ध हैं — 1. तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकार या महापुराण, 2. णाय-कुमारचरिउ, एवं 3. जसहरचरिउ।

कवि धनपाल

धनपाल के पिता का नाम 'माएसर' (मायेश्वर) और माता का नाम 'धनश्री' था। इनका जन्म 'धक्कड़' वंश में हुआ था। धनपाल दिगम्बर-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। *इनका समय 10वीं शती है। कवि की एक ही रचना 'भविसयत्तकहा'* प्राप्त है।

धवल कवि

कवि धवल के पिता का नाम 'सूर' औरं माता का नाम 'केसुल्ल' तथा इनके गुरु का नाम 'अम्बसेन' था। धवल ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुये थे; पर अन्त में वे जेन-धर्मावलम्बी हो गये थे। कवि का समय 10वीं-11वीं शती सिद्ध होता है। कवि का एक ही ग्रंथ 'हरिवंशापुरण' उपलब्ध है।

कवि हरिषेण

हरिषेण मेवाड़ में स्थिति चित्रकूट (चित्तौड़) के निवासी थे। इनका वंश 'धक्कड़ या 'धरकट' था। इनके पिता का नाम 'गोवर्द्धन' और माता का नाम 'गुणवती' था। ये किसी कारणवश चित्रकूट छोड़ अचलपुर में रहने लगे थे। 'धर्म-परीक्षा' ग्रंथ में कवि ने ब्राह्मण-धर्म पर व्यंग्य किया है। कवि हरिषेण का समय वि. सं. की 11वीं शती है।

वीर कवि

कवि वीर का जन्म मालवा देश के 'गुखखेड' नामक ग्राम में हुआ था। उनके पिता 'लाडबागड' गोत्र के 'महाकवि देवदत्त' थे, जो कि स्वयं भी अपभ्रंश के ख्यातिप्राप्त कवि थे। कवि की चार पत्नियाँ थीं — 1. जिनमति, 2. पद्मावती, 3. लीलावती, एवं 4. जयादेवी। इनका समय विक्रम की 11वीं शताब्दी हैं

कवि श्रीधर प्रथम

कवि अग्रवाल-कुल में उत्पन्न हुये थे। इनकी माता का नाम 'वील्हादेवी' और पिता का नाम 'बुधगोल्ह' था। कवि को नट्टल साहू ने 'पासणाहचरिउ' को लिखने की प्रेरणा दी थी। श्रीधर प्रथम या विवुध श्रीधर का समय विक्रम की 11वीं शती निश्चित है। कवि विवुध श्रीधर की दो रचनायें निश्चितरूप से मानी जा सकती हैं — 1. पासणाहरिउ, और 2. वड्ढमाणचरिउ, जिनमें से कवि की 'पासणाहचरिउ' उपलब्ध है। ये दोनों ही रचनायें पौराणिक महाकाव्य हैं।

कवि देवसेन

कवि देवसेन मुनि हैं। वे निवडिदेव के प्रशिष्य और विमलसेन गणधर के शिष्य थे। देवसेन का व्यक्तित्व आत्माराधक, तपस्वी और जितेन्द्रिय साधक का है। उन्होंने सुलोचना के चरित को 'मम्मल' राजा की नगरी में निवास करते हुये लिखा है। कवि देवसेन का समय वि. सं. 1132 ठीक प्रतीत होता है।

कवि मुनि कनकामर

कवि मुनि कनकामर के गुरु का नाम 'पंडित' या 'बुधमंगलदेव' है। वे ब्राह्मणवंश के चन्द्रऋषिगोत्रीय थे। जब विरक्त होकर वे दिगम्बर-मुनि हो गये, तो उनका नाम 'कनकामर' प्रसिद्ध हुआ। उन्होंने अपने को 'बुधमंगलदेव' का शिष्य कहा है। मुनि कनकामर का समय विक्रम की 12वीं शताब्दी है।[56] इनकी रचना 'करकंडुचरिउ' 10 सन्धियों में विभक्त हैं, इसमें करकण्डु महाराज की कथा वर्णित है।

महाकवि सिंह

महाकवि सिंह संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और देशीभाषा के प्रकाण्ड विद्वान् थे।

इनके पिता का नाम 'रल्हण पंडित' था, जो संस्कृत और प्राकृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे। ये गुर्जर कुल में उत्पन्न हुये थे। कवि की माता का नाम 'जिनमती' बताया गया है। कवि ने इसी की प्रेरणा से 'पज्जुण्णचरिउ' की रचना की है, जिसका समयकाल ई. सन् की 12वीं शती का पूर्वार्द्ध माना गया है। कवि की एकमात्र रचना 'प्रद्युम्नचरित' है।

कवि लाखू

पं. लाखू द्वारा विरचित 'जिनदत्तकथा' अपभ्रंश के कथा-काव्यों में उत्तम रचना है। लाखू का जन्म जायसवंश में हुआ है। इनके प्रपितामह का नाम 'कोशवाल' था, जो जायसवंश के प्रधान तथा अत्यन्त प्रसिद्ध व्यक्ति थे। कवि का साहित्यिक जीवन वि सं. 1275 से आरम्भ होकर वि. सं. 1313 तक बना रहता है। कवि की तीन रचनायें उपलब्ध हैं — 1. चंदणछट्ठीकहा, 2. जिणयत्तकहा, और 3. अणुवय-रयण-पईव।

कवि यशःकीर्ति प्रथम

'चंदप्पहचरिउ' के रचयिता कवि यशःकीर्ति हैं। कवि ने इस ग्रंथ को हुम्बडकुलभूषण कुंवरसिंह के सुपुत्र सिद्धपाल के अनुरोध से रचा है। कवि ने इस ग्रंथ की रचना 11वीं शती ई. के अन्त में या 12वीं शती के प्रारम्भ में की होगी।

कवि देवचन्द

कवि देवचन्द ने 'पासणाहचरिउ' की रचना गुंदिज्ज नगर के पार्श्वनाथ मंदिर में की है। कवि मूलसंघ गच्छ के विद्वान् वासवचन्द के शिष्य थे। देवचन्द्र का समय 12वीं शताब्दी के लगभग है। महाकवि देवचन्द्र की एकमात्र रचना 'पासणाहचरिउ' उपलब्ध है।

महाकवि रइधू

महाकवि रइधू के पिता का नाम 'हरिसिंह' और पितामह का नाम 'संघपति देवराज' था। इनकी माँ का नाम 'विजयश्री' और पत्नी का नाम 'सावित्री' था। रइधू 'पद्मावतीपुरवालवंश' में उत्पन्न हुये थे। इनका अपरनाम 'सिंहसेन' भी बताया जाता है। रइधू अपने माता-पिता के तृतीय पुत्र थे। इनके अन्य दो बड़े भाई भी थे, जिनके नाम क्रमशः 'बहोल' और 'मानसिंह' थे। रइधू काष्ठासंघ माथुरगच्छ की पुष्करगणीय शाखा से सम्बद्ध थे।

हिसार, रोहतक, कुरुक्षेत्र, पानीपत, ग्वालियर, सोनीपत और योगिनीपुर आदि स्थानों के श्रावकों में उनकी अच्छी प्रतिष्ठा थी। वे ग्रन्थ-रचना के साथ मूर्ति-प्रतिष्ठा एवं अन्य क्रिया-काण्ड भी करते थे। महाकवि रइधू ने अकेले ही विपुल परिमाण में ग्रन्थों की रचना की है। इन्हें महाकवि न कहकर एक पुस्तकालय-रचयिता कहा

जा सकता है। डॉ. राजाराम जैन ने विभिन्न स्रोतों के आधार पर अभी तक कवि की 37 रचनाओं का अन्वेषण किया है।

कवि हरिचन्द या जयमित्रहल

इनके गुरु पद्मनन्दि भट्टारक थे। ये मूलसंघ बलात्कारगण और सरस्वतीगच्छ के विद्वान् थे। जयमित्रहल की दो रचनायें उपलब्ध हैं — 1. वड्ढमाणचरिउ, और 2. मल्लिणाहकव्व। 'वड्ढमाणचरिउ' का दूसरा नाम 'सेणियचरिउ' भी मिलता है।

कवि हरिदेव

इनके पिता का नाम 'चंगदेव' और माता का नाम 'चित्रा' था। हरिदेव का समय 12वीं शती से 15वीं शती के बीच माना है।[57] कवि की एक ही रचना 'मयणपराजयचरिउ' उपलब्ध है। यह छोटा-सा रूपक खण्डकावय है।

कवि तारणस्वामी

तारणस्वामी बालब्रह्मचारी थे। आरम्भ से ही उन्हें घर से उदासीनता और आत्मकल्याण की रुचि रही। कुन्दकुन्द के समयसार, पूज्यपाद के इष्टोपदेश और समाधिशतक तथा योगीन्दु के परमात्मप्रकाश और योगसार का उनपर प्रभाव लक्षित होता है। संवेगी-श्रावक रहते हुये भी अध्यात्म-ज्ञान की भूख और उसके प्रसार की लगन उनमें दृष्टिगोचर होती है।

तारणस्वामी का जनम अगहन सुदी 7, विक्रम-संवत् 1505 में 'पुष्पावती' (कटनी, मध्यप्रदेश) में हुआ था। पिता का नाम 'गढ़ासाहू' और माता का नाम 'वीरश्री' था। ज्येष्ठ वदी 6, विक्रम-संवत् 1572 में शरीरत्याग हुआ था। 67 वर्ष के यशस्वी दीर्घ-जीवन में इन्होंने ज्ञान-प्रचार के साथ 14 ग्रन्थों की रचना भी की हैं। तारणस्वामी 16वीं शती के लोकोपकारी और अध्यात्म-प्रचारक सन्त हैं। इनके ग्रन्थों की भाषा उस समय की बोलचाल की भाषा जान पड़ती है।

हिन्दी कवि और लेखक

प्रमुख एवं प्रभावक हिन्दी कवियों व लेखकों का संक्षिप्त-विवरण इस प्रकार है—

महाकवि बनारसीदास

'बीहोलियावंश' की परम्परा में श्रीमाल-जाति के अन्तर्गत बनारसीदास का एक धनी-मानी सम्भ्रान्त परिवार में जन्म हुआ। इनके प्रपितामह 'जिनदास' का 'साका' चलता था। पितामह 'मूलदास' हिन्दी और फारसी के पंडित थे, और ये 'नरवर' (मालवा) में वहाँ के मुसलमान-नबाबा के मोदी होकर गये थे। इनके मातामह 'मदनसिंह चिनालिया' जौनपुर के प्रसिद्ध जौरी थे। पिता खड्गसेन कुछ दिनों तक बंगाल के सुल्तान मोदीखाँ के पोतदार थे। और कुछ दिनों के उपरान्त

जौनपुर में जवाहरात का व्यापार करने लगे थे। इस प्रकार कवि का वंश सम्पन्न था तथा अन्य सम्बन्धी भी धनी थे।

बनारसीदास का जन्म विवव.सं. 1643 माघ, शुक्ला एकादशी रविवार को रोहिणी नक्षत्र में हुआ। 14 वर्ष की अवस्था में उन्होंने पं. देवीदास से विद्याध्ययन का संयोग प्राप्त किया। मुनि भानुचन्द्र से भी विविध-शास्त्रों का अध्ययन आरंभ किया। कवि जन्मना श्वेताम्बर-सम्प्रदाय का अनुयायी था। उसके सभी मित्र भी श्वेताम्बर-सम्प्रदाय की मान्यताओं की ओर हुआ।

बनारसीदास के नाम से निम्नलिखित रचनायें प्रचलित हैं — नाममाला, समयसारनाटक, बनारसीविलास, अर्द्धकथानक, मोहविवेकयुद्ध एवं नवरसपद्यावली।

कवि भैया भगवतीदास

भैया भगवतीदास आगरा-निवासी कटारिया-गोत्रीय ओसवाल जैन थे। इनके दादा का नाम 'दशरथ साहू' और पिता का 'लालजी' था। इन्होंने स्तुतिपरक या भक्तिपरक जितने पद लिखे हैं, उनमें तीर्थंकरों के गुण और इतिवृत्त दिगम्बर-सम्प्रदाय के अनुसार अंकित हैं।

भैया बनारसीदास 18वीं शताब्दी के कवि हैं। भैया भगवतीदास की रचनाओं का संग्रह 'ब्रह्मविलास' के नाम से प्रकाशित है। इसमें 67 रचनायें संगृहीत हैं।

महाकवि भूधरदास

हिन्दी-भाषा के जैन-कवियों में महाकवि भूधरदास का नाम उल्लेखनीय है। कवि आगरा-निवासी थे और इनकी जाति खण्डेलवाल थी। इनकी रचनाओं से इनका समय वि. सं. की 18वीं शती (1781) सिद्ध होता है। महाकवि भूधरदास ने पार्श्वपुराण, जिनशतक और पद-साहित्य की रचना कर हिन्दी-साहित्य को समृद्ध बनाया है। इनकी कविता उच्च-कोटि की है।

कवि द्यानतराय

द्यानतराय आगरा-निवासी थे। इनका जन्म अग्रवाल-जाति के गोयल-गोत्र में हुआ था। इनके पूर्वज 'लालपुर' से आकर यहाँ बस गये थे। इनके पितामह का नाम 'वीरदास' और पिता का नाम 'श्यामदास' था। इनका जन्म वि. सं. 1733 में हुआ और विवाह वि. सं. 1748 में। इनका महान् ग्रन्थ 'धर्मविलास' के नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में 333 पद, अनेक पूजायें एवं 45 विषयों पर फुटकर कवितायें संग्रहीत हैं। कवि ने इनका संकलन स्वयं वि. सं. 1780 में किया है।

कवि पंडित दौलतराम कासलीवाल

पं. दौलतराम जी कासलीवाल का जन्म वि. सं. 1745 में 'बसवा' ग्राम में

हुआ था। इनके पिता का नाम 'आनन्दराम' था। जाति खण्डेलवाल और गोत्र कासलीवाल था। जयपुर के महाराज से इनका विशेष परिचय था। ये उदयपुर राज्य में जयपुर के वकील बनकर गये थे, और वहाँ 30 वर्षों तक रहे। संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे। हिन्दी-गद्यसाहित्य के क्षेत्र में सबसे पहली रचना इन्हीं दौलतराम की उपलब्ध है।

इनका समय विक्रम की 18वीं शती का अंतिम भाग और 19वीं शती का पूर्वार्द्ध है। इन्होंने निम्नलिखित रचनायें लिखी हैं — 1. पुण्यास्त्रववचनिका (वि. सं. 1777), 2. क्रियाकोषभाषा (वि. 1795), 3. आदिपुराणवचनिका (सं. 1824), 4. हरिवंशपुराण (सं. 1829), 5. परमात्मप्रकाशवचनिका, 6. श्रीपालचरित (सं. 1822), 7. अध्यात्मबाराखड़ी (वि. सं. 1728), 8. वसुनन्दीश्रावकाचार टब्बा (वि. सं. 1818), 9. पदमपुराणवचनिका (सं. 1833), 10. विवेकविलास (वि. सं. 1829), 11. तत्त्वार्थसूत्रभाषा, 12. चौबीसदण्डक, 13, सिद्धपूजा, 14. आत्मबत्तीसी, 15. सारसमुच्चय, 17. जीवंधरचरित (वि. सं. 1805), 17. पुरुषार्थसिद्धुपाय वचनिका, जो पं. टोडरमल जी पूर्ण नहीं कर पाये थे।

कवि आचार्यकल्प पं. टोडरमल

महाकवि आशाधर क अनुपम व्यक्तित्व की तुलना करेवाला व्यक्तित्व आचार्यकल्प पं. टोडरमल जी का है। ये स्वयंबुद्ध थे। इनका जन्म जयपुर में हुआ था। पिता का नाम 'जोगीदास' और माता का नाम 'रमा' या 'लक्ष्मी' था। इनकी जाति खण्डेलवाल और गोत्र गोदीका था। इनकी प्रतिभा विलक्षण थी। इसका एक प्रमाण यही है कि इन्होंने किसी से बिना पढ़े ही कन्नड़ लिपि का अभ्यास कर लिया था।

अब तक के उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर इनका समय वि. सं. 1797 है, और मृत्यु सं. 1824 है। मात्र 18-29 वर्ष की अवस्था में ही गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणसार एवं त्रिलोकसार के 65,000 श्लोकप्रमाण की टीका कर इन्होंने जनसमूह में विस्मय भर दिया था।

टोडरमल जी की कुल 11 रचनायें हैं, जिनमें सात टीकाग्रन्थ और चार मौलिक-ग्रन्थ हैं। मौलिक-ग्रंथों में 1. मोक्षमार्गप्रकाशक, 2. आध्यात्मिक पत्र, 3. अर्थसंदृष्टि, और 4. गोम्मटसारपूजा परिगणित हैं। उनके द्वारा रचित टीकाग्रन्थ हैं — 1. गोम्मटसार (जीवकाण्ड)—सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, 2. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) — सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, 3. लब्धिसार—सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, 4. क्षपणासार—वचनिका, 5. त्रिलोकसार, 6. आत्मानुशासन, एवं 7. पुरुषार्थसिद्धयुपाय।

कवि दौलतराम द्वितीय

कवि दौलतराम द्वितीय लब्धप्रतिष्ठ कवि हैं। ये हाथरस के निवासी और

पल्लीवाल-जाति के थे। इनका गोत्र 'गंगटीवाल' था, पर प्राय: लोग इनहें 'फतेहपुरी' कहा करते थे। इनका जन्म वि. सं. 1855 या 1856 के मध्य हुआ था। इनकी दो रचनायें उपलब्ध हैं — 1. छहढाला, और 2. पदसंग्रह।

कवि पण्डित जयचन्द छाबड़ा

हिन्दी जैन-साहित्य के गद्य-पद्य लेखक विद्वानों में पण्डित जयचन्द जी छाबड़ा का नाम उल्लेखनीय है। कवि का जनम 'फागी' नामक ग्राम में हुआ था। यहाँ आपके पिता 'मोतीरामजी' पटवारी का काम करते थे। जयचन्द जी का स्वभाव सरल और उदार था। उनका रहन-सहन और वेश-भूषा सीधी-सादी थी। वे बड़े अच्दे विद्याव्यसनी थे। इनके पुत्र का नाम 'नन्दलाल' था, जो बहुत ही सुयोग्य विद्वान् था।

पण्डित जयचन्द जी का समय वि. सं. की 19वीं शती है। इन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थों की भाषा-वचनिकायें लिखी हैं — 1. सर्वार्थसिद्धि वचनिका, 2. तत्त्वार्थसूत्र-भाषा, 3. प्रमेयरत्नमाला टीका, 4. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, 6. द्रव्यसंग्रह-टीका, 7. देवागमस्तोत्र-टीका, 8. अष्टपाहुड-भाषा, 9. ज्ञानार्णव-भाषा, 10. भक्तामर-स्तोत्र, 11. पद-संग्रह, 12. चन्द्रप्रभचरित्र, एवं 13. धन्यकुमारचरित्र।

कवि दीपचन्दशाह

दीपचन्दशाह वि. के 18वीं शताब्दी के प्रतिभावान विद्वान् और कवि हैं। ये सांगानेर के रहनेवाले थे। कवि दीपचन्द का गोत्र कासलीवाल था। इनकी भाषा ढूढ़ारी और व्रजमिश्रित है। इनके द्वारा रचित कृतियाँ हैं — चिद्विलास, अनुभवप्रकाश, गुणस्थानभेद, आत्मावलोकन, भावदीपिका, परमार्थपुराण; तथा ये रचनायें गद्य में लिखी गयी हैं — अध्यात्म-पच्चीसी, द्वादशानुप्रेक्षा, ज्ञानदर्पण, स्वरूपानन्द, एवं उपदेशसिद्धान्त।

कवि सदासुख कासलीवाल

वि. की 19वीं शती के विद्वानों में पण्डित सदासुख कासलीवाल का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनका जन्म वि. सं. 1842 में जयपुरनगर में हुआ था। इनके पिता का नाम 'दुलीचन्द' और गोत्र कासलीवाल था। इनका जन्म डेडराजवंशी में हुआ था। इनका समाधिमरण वि. सं. 1923 में हुआ। इनकी रचनायें हैं — भगवती-आराधना वचनिका, सूत्रजी की लघुवचनिका, अर्थ-प्रकाशिका का स्वतन्त्र-ग्रन्थ, अकलंकाष्टक वचनिका, रत्नकरंडश्रावकाचार वचनिका, मृत्युमहोत्सव वचनिका, नित्यनियम पूजा, समयसार नाटक पर भाषा वचनिका, न्यायदीपिका वचनिका, एवं ऋषिमंडलपूजा वचनिका।

कवि पण्डित भागचन्द

19वीं शताब्दी के अन्तिम पाद और 20वीं शब्दी के प्रथम पाद के प्रमुख

विद्वानों में पण्डित भागचन्द जी की गणना है। ये संस्कृत और प्राकृत-भाषा के साथ हिन्दी-भाषा के भी मर्मज्ञ विद्वान् थे। ग्वालियर के अन्तर्गत ईसागढ़ के निवासी थे। इनकी जाति ओसवाल और धर्म दिगम्बर-जैन था। कवि की निम्नलिखित रचनायें उपलब्ध होती हैं — महावीराष्टक (संस्कृत), अमितगतिश्रावकाचार वचनिका, उपदेशसिद्धान्तरत्नमाला वचनिका, प्रमाणपरीक्षा-वचनिका, नेमिनाथपुराण, ज्ञानसूर्योदय नाटक वचनिका, एवं पदसंग्रह।

कवि बुधजन

इनका पूरा नाम 'वृद्धिचन्द' था। ये जयपुर के निवासी और खण्डेवाल जैन थे। इनका समय अनुमानतः 19वीं शताब्दी का मध्यभाग है। अभी तक इनकी निम्नलिखित रचनायें उपलब्ध हैं — तत्त्वार्थबोध, योगसारभाषा, पंचास्तिकाय, बुधजनसतसई, बुधजनविलास, एवं पद-संग्रह।

कवि वृन्दावनदास

कवि वृन्दावन का जन्म शाहाबाद जिले के 'वारा' नामक गाँव में सं. 1842 में हुआ था। ये गोयल-गोत्रीय अग्रवाल थे। कवि के वंशधर 'वारा' छोड़कर काशी में आकर रहने लगे। कवि के पिता नाम 'धर्मचन्द्र' था। कवि वृन्दावन की निम्नलिखित रचनायें प्राप्त हैं — प्रवचनसार, तीस-चौबीसी पाठ, चौबीसी पाठ, छन्द-शतक, अर्हत्पासाकेवली, एवं वृन्दावन-विलास।

इसप्रकार अनेकों आचार्य एवं मनीषी जैनधर्म और दर्शन की परम्परा को सुदीर्घ-काल तक समृद्ध करते रहे, और उन सबके योगदान के कारण जैनधर्म एवं दर्शन सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति और इतिहास में न केवल अपनी मौलिक-पहचान बना सका है; अपितु इनके विकास में उसकी महनीय भूमिका रही है।

❖❖

सन्दर्भ-विवरणिका

1. तिलोयपण्णत्ती, 1/77-81.
2. हरिवंशपुराण, 1/56-57.
3. दंसणपाहुड, गाथा 17.
4. उपासकाध्ययन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, पद्य 100.
5. आ समंतभद्र आप्तमीमांसा, कारिका 105.
6. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 468.
7. द्रष्टव्य, तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा, भाग 2, पृष्ठ 10-20.

8. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग 1, किरण 4, पृष्ठ 71-74.
9. आचार्य यतिवृषभ, तिलोयपण्णती, श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा, कोटा 1986 ई. (टीकाकर्त्री आर्यिका 105 श्री विशुद्धमती माताजी, गाथा संख्या 66-67).
10. वही, गाथा संख्या 57-77.
11. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैनधर्म, पृष्ठ 265.
12. नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास, बम्बई, 1972, पृष्ठ 17.
13. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैनधर्म, पृष्ठ 269.
14. डॉ. कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, आचार्य कुन्दकुन्द : व्यक्तित्व एवं कृतित्त्व, श्री महावीर ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1990, इसी लेखक की एक अन्य कृति खण्डेलवाल जैन समाज का वृहद् इतिहास, पृष्ठ 18-23.
15. परमानन्द शास्त्री, जैन धर्म का प्राचीन इतिहास : द्वितीय खण्ड, मथुरा, 1950, पृष्ठ 87.
16. वही, पृष्ठ 154-55.
17. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैनधर्म, पृष्ठ 270.
18. नाथूराम प्रेमी, पृष्ठ 420.
19. आचार्य जिनसेन, आदिपुराण, पृष्ठ 174.
20. विशेष द्रष्टव्य : तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा, भाग 2 एवं.
21. षट्खण्डागम, धवलाटीका, जीवस्थान, काल अनुयोगद्वार, पृष्ठ 316.
22. तत्वार्थसूत्र की अनेक प्रतियों के अन्त में उपलब्ध पद्य.
23. नमः समन्तभद्राय महते कविवेधमे। यद्वचो-वज्रपाते मर्दन्ते कुमातद्रयः।।
24. योगीन्दु : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व, अद्यावधि अप्रकाशित.
25. द्रष्टव्य, वही.
26. उत्तरपुराणप्रशस्ति, श्लोक 11-13 तक.
27. श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र, वीर सेना मन्दिर सरसावा, सन् 1949 ईस्वी, प्रस्तावना, पृष्ठ 12.
28. कर्मकाण्ड, गाथा 1.
29. जीवकाण्ड, गाथा 1.
30. पुरातन जैनवाक्यसूची, वीर सेना मन्दिर, प्रथम संस्करण, प्रस्तावना, 121.
31. आदिपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ काशी संस्करण, 1/46.
32. गद्यचिन्तामणि, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण, 1/6.
33. प्रमेयरत्नमाला, 1/2.
34. वही, टिप्पण, पृष्ठ 1.
35. आप्तपरीक्षा, प्रस्तावना, पृष्ठ 27-33, वीर सेना मन्दिर संस्करण, 1949.
36. प्रमेयरत्नमाला, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1/3.
37. जस्स य पायपसायेणणंतसंसारजलहिमुत्ति ण्णो। वीररिदणंदिवच्छों णमामि तं अभयणंदिगुरुं।।
38. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग-6, किरण-4, श्रवणबेलगोल एवं यहाँ की गोम्मट मूर्ति, पृष्ठ 205 तथा इसी अंक में गोम्मट मूर्ति की प्रतिष्ठकालीन मूर्ति का फल.
39. श्रीलाट-वर्गटनभस्तलपूर्ण................। जैन साहित्य इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ 411.
40. बृहत् कथाकोश, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, सन् 1943, अंग्रेजी प्रस्तावना, पृष्ठ 117-119.
41. "इति सकलतार्किकचक्रचूडामणिचुम्बितचरणस्य रमणीयपंचपंचाशन्महावादिदिविजयो-

पार्जितकीर्तिमन्दाकिनीपविचित्रत्रिभुवनस्य परतपश्चरणरत्नोदन्वतः श्रीनेमिदेवभगतः प्रियशिष्येण वादीन्द्रकालनलश्रीमन्महेन्द्रदेवभट्टारकानुजैन स्याद्वादाचलसिंहतार्किकचक्रवादी-भपंचाननवाक्कल्लोलपयोनिधिकविकुलराजकुंजरप्रभृतितिप्रशस्ति-प्रस्तावनालंकारेण षण्णवतिप्रकरण-युक्तिचिन्तामणि-त्रिवर्गमहेन्द्रमालिसंजल्प-यशोधरमहाराज-चरित-महाशास्त्रवेधसा श्रीमत्सोमदेव-सूरिणा विरचितं नीतिवाक्यामृतं नाम राजनीतिशास्त्रं समाप्तम्।"

42. श्रीमानस्ति स देवसंघतिलको देवो यशःपूर्वकः
शिष्यस्तस्य बभूवसद्गुणनिधिः श्रीनेमिदेवाह्वयः।।
तस्याश्चर्यतपःस्थितेस्त्रिनयतेर्जेतुर्महावादिनाम्।
शिष्योऽभूदिह सोमदेव इति यस्तस्यैष काव्यक्रमः।।
—यशस्तिलक, खण्ड 2, पृष्ठ 418.

43. ज्ञानार्णव, 42।88.

44. जैन सन्देश, शोधांक 1, पृष्ठ 36.

45. जैन साहित्य और इतिहास, प्रथम संस्करण, पृष्ठ 452.

46. जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ 314.

47. प्रशस्ति-संग्रह, प्रथम भाग, वीरसेवा मन्दिर, प्रस्तावना, पृष्ठ 61.

48. जयउ जए जियमाणो संजमदेवो मुणीसरो इत्थ।
तहबि हु संजमसेणो माहवचन्दो गुरुत्तह्वय।।
रइयं बहुसत्थत्यं उवजीवित्ता हु दुग्गएवेण।
रिट्ठसमुच्चयसत्थं बयणेण संजमदेवस्स।
—रिष्टसमुच्चय, गोधाग्रन्थमाला, इन्दौर संस्करण, गाथा - 254, 255।

49. सिरिकुंभणयरण (य; ए सिरिलच्छिणिवासणिवइरज्जंमि।
सिरिसंतिणाह भवणे मुणि-भविअ-सम्मउमे ल्लने) रम्मे।।
—रिष्टसमुच्चय, गाथा 261।

50. गोविन्दभट्ट इत्यासीद्विद्वान्मिथ्यात्ववर्जितः।
देवागमनसूत्रस्य श्रुत्या सद्दर्शनान्वितः।।10।। —विक्रान्तकौरवप्रशस्ति।
— — —
श्रीकुमारकविः सत्यवाक्यो देरवल्लभः।।12।। —विक्रान्तकौरवप्रशस्ति।
उद्यद्भूषणानामा च हस्तिमल्लाभिधानकः।
वर्धमानकविश्चेति षडभूवन् कवीश्वराः।।13।। —विक्रान्तकौरवप्रशस्ति।

51. सूत्रधार......अस्ति किल सरस्वतीस्वयंवरवल्लभेन भट्टारगोविन्दस्वामिसूनुना हस्तिमल्लनाम्ना कहाकवितल्लजैन विरचिंत विक्रान्तकौरवं नाम रूपकमिति।
—विक्रान्तकौरवप्रशस्ति, पृष्ठ 3, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई 1972।

52. परमार्थप्रकाश, टी. पृष्ठ 7-8.

53. अनेकान्त, वर्ष 8, किरण 12, पृष्ठ 441.

54. "जगत्पवित्रवब्रह्मक्षत्रियवंशभागे", चा. पु., पृष्ठ 5.

55. जैनसिद्धान्तभास्कर, भाग 6, किरण 4, पृष्ठ 261.

56. करकंडुचरिउ, प्रस्तावना, पृष्ठ 11-12.

57. मयणपराजयचरिउ, भारतीयज्ञानपीठ काशी, प्रस्तावना, पृष्ठ 61.

❖❖

खण्ड-तृतीय

भट्टारक-परम्परा एवं उसका योगदान

इनकी परिगणना पिछले खण्ड में 'परम्परापोषकाचार्यों' में की गई है, तथा इन्हें 'भट्टारक' की संज्ञा दी गई है। सामान्यत: जैन-परम्परा में भट्टारक का कोई पद नहीं है, यह मात्र एक पूज्यतावाची विशेषण है। किन्तु परिस्थितियों के कारण गृहस्थ और साधु के बीच की जो एक नई स्थिति सृजित हुई थी, उसे कोई-न-कोई नाम देना था, अत: इन्हें 'भट्टारक' कहा गया।

नयी सम्भावनाओं का विकास इनके द्वारा नहीं हो सका है। पिष्टपेषण का कार्य ही इनके द्वारा हुआ है। वैसे तो संस्कृति-निर्माताओं के रूप में अनेक परम्परापोषक-आचार्य आते हैं, पर वाङ्मय-सृजन की मौलिक-प्रतिभा और अध्ययन-गाम्भीर्य प्राय: इन्हें प्राप्त नहीं था। धनी-मानी शिष्यों से वेष्टित रहकर, मन्त्र-तन्त्र या जादू-टोने की चर्चायें कर ये जनसाधारण को अपनी ओर आकृष्ट करते रहते थे। धर्मप्रचार करना, जनसाधारण को धर्म के प्रति श्रद्धालु बनाये रखना एवं सरस्वती का संरक्षण करना प्राय: परम्परापोषक-आचार्यों का लक्ष्य हुआ करता था। यही कारण है कि इन आचार्यों द्वारा गद्दियों पर समृद्ध ग्रन्थागार स्थापित किये गये। मौलिक-ग्रन्थ-प्रणयन के साथ आर्ष और मान्य कवियों एवं श्रुतधरों द्वारा रचित वाङ्मय, काव्य एवं अध्यात्म-साहित्य की प्रतिलिपियाँ भी इनके तत्त्वावधान में प्रस्तुत की गयी हैं।

परम्परापोषक-आचार्यों ने युगानुसार रचनायें न लिखकर धर्मप्रचारार्थ कथाकाव्य या दर्शनसम्बन्धी ग्रन्थों का प्रणयन किया है। धर्म और संस्कृति के दायित्व का निर्वाह लगभग पाँच-छ: सौ वर्षों तक इन आचार्यों के द्वारा होता रहा है। ये आचार्य आरम्भ में निश्चयत: निस्पृही, त्यागी, ज्ञानी एवं जितेन्द्रिय थे। स्वयं विद्वान् होने के कारण मनीषी विद्वानों का सम्पोषण भी इन्हीं की गद्दियों से होता था। परम्परापोषक-आचार्यों का लक्ष्य ग्रन्थों के संख्याबाहुल्य पर था, मौलिक-रचना की ओर नहीं।

इस श्रेणी के आचार्यों में भास्करनन्दि, सकलकीर्ति, वामदेव, सिंहसूरि, मल्लिषेण, श्रुतसागर, अजितसेन, वर्द्धमान भट्टारक, ज्ञानकीर्ति, ब्रह्म नेमिदत्त, वादिचन्द्र, सोमकीर्ति, विबुध श्रीधर, अमरकीर्ति, देवचन्द्र, यशकीर्ति, हरिचन्द्र, तेजपाल, पूर्णभद्र, दामोदर, त्रिविक्रम, ज्ञानकीर्ति, विद्यानन्दि, ब्रह्मश्रुतसागर, पद्मनन्दि, नेमिचन्द्र, सहस्रकीर्ति, जिनेन्द्रभूषण, धर्मभूषण, गुणचन्द्र, शुभचन्द्र, शुभकीर्ति, देवेन्द्रकीर्ति, चारित्रभूषण, नागदेव, चन्द्रकीर्ति, जयकीर्ति, सुमतिसागर, अरुणमणि,

श्रीनन्दि, श्रीचन्द्र, कमलकीर्ति आदि प्रमुख हैं। इन आचार्यों ने निम्नलिखित रूप में वाङ्मय की सेवा की है—

1. पौराणिक चरित-काव्य, 2. लघुप्रबन्ध-कथाकाव्य, 3. दूत-काव्य, 4. न्याय-दर्शन-विषयक साहित्य, 5. अध्यात्म-साहित्य, 6. प्रबन्धात्मक प्रशस्ति-मूलक ऐतिहासिक काव्य, 7. सन्धान-काव्य, 8. सूक्ति-आचारमूलक काव्य, 9. स्तोत्र और पूजाभक्ति-साहित्य, 10. नाटक, 11. विविध-विषयक समस्यापूर्त्यात्मक काव्य, एवं 12. संहिता-विषयक साहित्य।

भट्टारक-युग

आचार्यों की तरह भट्टारकों को भी धार्मिक मुखिया अथवा स्वामी माना जाता था। भट्टारकों की परम्परा दिगम्बर-जैन-समाज की विशेषता है। दिगम्बर-जैन-सम्प्रदाय भी दो प्रमुख उपसम्प्रदायों क्रमशः 'बीसपंथी' व 'तेरापंथी' में बँटा हुआ है। बीसपंथी भट्टारक-व्यवस्था में विश्वास करते हैं तथा भट्टारकों को अपने धार्मिक मुखिया व उपदेशक के रूप में मानते हैं। 14वीं शताब्दी से ही 'भट्टारक-युग' प्रारम्भ हो गया, जो 19वीं शताब्दी तक चलता रहा।[1] एक आधुनिक विद्वान् लिखते हैं कि भट्टारक-संस्था केवल दिगम्बर जैनों में ही पाई जाती है, जो मध्यकाल में स्थापित हुई। इसकी सर्वप्रथम स्थापना दिल्ली में हुई तथा उसके पश्चात् सम्पूर्ण भारत में अनेक स्थानों पर हुई। कुछ प्रमुख स्थानों में ग्वालियर, जयपुर, डूंगरपुर, ईडर, सोजितरा, नागपुर, कारंजा, लटूरा, नांदनी, कोल्हापुर, मूडविद्री, श्रवणबेलगोला, पेनूगोडा, कांची आदि हैं। अभी भी कुछ क्षेत्रों में भट्टारक काफी प्रभावशाली है; जबकि अन्यत्र भट्टारक-संस्था धीरे-धीरे समाप्त हो रही है।[2]

भट्टारक-संस्था की उत्पत्ति के सम्बन्ध में निश्चित तौर पर कुछ भी पता नहीं है। किन्तु ऐसा कहा जाता है कि जब जैन मुनि-परम्परा ढीली पड़ने लगी, तो भट्टारक-संस्था का जन्म हुआ। मुस्लिम-शासकों को जैन-साधुओं दिगम्बरत्व पसंद नहीं था, इसलिये नग्न-मुनियों के भ्रमण पर रोक-सी लग गई थी। इस समय जैन-समुदाय में विखंडन की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। उस समय जैन-समुदाय में भारी अनिश्चितता व असुरक्षा व्याप्त थी, तो ऐसी विकट स्थिति में जैनधर्म को विध्वंस से बचाने के लिये भट्टारकों का उदय हुआ। ये भट्टारक वस्त्र धारण करते थे, तथा वे सामाजिक व धार्मिक — दोनों प्रकार के कर्त्तव्यों का निर्वहन करने लगे। इनका पद जैन-समाज में सामान्य श्रावक से ऊपर व मुनियों से नीचा माना जाता है। भट्टारकों के अधिकार-क्षेत्र भी निर्धारित थे तथा वे अपने अधिकार-क्षेत्र में जनसमुदाय में आत्मचेतना को बनाये रखने का कार्य करते थे। वह अपने समुदाय की आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। उनकी स्थिति धीरे-धीरे

हिन्दू-धर्म के पुरोहित के समान हो गई थी। वे घरेलू संस्कारों, जन्म, विवाह एवं मृत्यु के समय क्रियाकलापों का संचालन करते थे। इतना ही नहीं वे वैद्य, ज्योतिषी व सलाहकार के रूप में भी अपनी सेवायें देने लगे। आज भी भट्टारक सामाजिक और धार्मिक अनुष्ठान करवाते हैं। इसके अतिरिक्त मन्दिर-निर्माण, मूर्ति-स्थापना आदि का कार्य भी इनकी निगरानी में सम्पन्न होता है। इसप्रकार भट्टारक महत्त्वपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति करते आये हैं। अपने स्वयं के ज्ञान व व्यवहार तथा अपने शिष्यों की मदद से भट्टारकों ने न केवल जैनधर्म के संदेशों को फैलाया, बल्कि उन्होंने बिखरते हुए जैन-समाज को एकता के सूत्र में पिरोया।[3]

यह भी एक सत्य है कि भट्टारकों के न होने की स्थिति में दिगम्बर जैन-सम्प्रदाय शायद ही सम्प्रदाय बच पाता। अत्यधिक नाजुक संकट-काल में भट्टारकों ने दिगम्बर-जैन-सम्प्रदाय को विघटन व पतन से बचाया, किन्तु बाद में भट्टारक-संस्था में अनेक विकृतियाँ आने लगी थीं। ये विकृतियाँ इस सीमा तक पहुँच गई थीं कि संगठन की शक्ति-विध्वंस का रूप धारण करने लगी थी। भट्टारक आध्यात्मिक के स्थान पर सांसारिक होते जा रहे थे। वे उचित और अनुचित दोनों तरीकों से अपनी स्थिति को ऊपर उठाने व धन एकत्रित करने में संलग्न हो गये तथा अपने धार्मिक व सामाजिक कर्त्तव्यों की पूर्ण उपेक्षा करने लगे। इनके कार्यक्षेत्र में भी गिरावट आने लगी थी। वे सम्पूर्ण जैन-समाज के हित-साधन के स्थान पर जैनों की जाति-विशेष तक ही सीमित रह गये थे। इसके परिणामस्वरूप हम पाते हैं कि दक्षिण (महाराष्ट्र व कर्नाटक) में प्रत्येक प्रमुख जैन-जाति का पृथक् भट्टारक होता है, जो उस जाति के सामाजिक व धार्मिक जीवन को नियंत्रित करता है।[4] स्वाभाविक तौर पर इसने विभिन्न जैन-जातियों के मध्य खाई को चौड़ा कर दिया था।

विक्रम संवत् की सत्रहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में स्थिति यहाँ तक पहुँची कि भट्टारकों के बदलते आचार-विचारों से क्षुब्ध होकर अनेक दिगम्बर जैनों ने भट्टारक-संस्था के विरुद्ध विद्रोह कर दिया तथा दिगम्बर जैनों के एक अन्य सम्प्रदाय 'तेरापंथ' की स्थापना की। इसप्रकार भट्टारकों के मुद्दे पर दिगम्बर जैन-समाज क्रमशः 'बीसपंथी' व 'तेरापंथियों' में विभाजित हो गया। तभी से 'बीसपंथी' दिगम्बर जैन भट्टारकों में विश्वास रखते हैं, जबकि 'तेरापंथी' भट्टारकों में कतई आस्था नहीं रखते। आज भी भट्टारकों की स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ है तथा दिगम्बर-जैनों के समक्ष आज भी यह प्रश्न अनिश्चित व अनिर्णीत स्थिति में यथावत् पड़ा हुआ है कि भट्टारक-संस्था को पूर्णतः समाप्त कर दिया जाये, अथवा बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल इसे नया रूप प्रदानकर सुरक्षित रखा जाये। अधिसंख्य 'बीसपंथी' दिगम्बर-जैन इस संस्था को बनाये रखने के पक्ष में हैं; क्योंकि इनकी यह मान्यता है कि जैन-सम्प्रदाय के आध्यात्मिक जीवन की

देखभाल-हेतु इस तरह की संस्था का होना आवश्यक है। ऐसे विचार उभरकर आ रहे हैं कि भट्टारकों को जाति-विशेष का मुखिया मानने के स्थान पर उन्हें सम्पूर्ण दिगम्बर-जैन समाज के संगठनकर्त्ता, प्रचारक व नियमों के पालनकर्त्ता के रूप में सुशिक्षित लोगों को ही भट्टारकों के रूप में नियुक्त किया जाये। इसमें उन लोगों को ही नियुक्त किया जाये, जो सांसारिक जीवन से मुक्ति प्राप्त कर आध्यात्मिक कार्यों में ही रुचि रखते हों। इससे दिगम्बर-जैनों के मध्य व्याप्त 'बीसपंथी' व 'तेरापंथी' का विद्वेष तो समाप्त हो ही जायेगा तथा साथ ही भट्टारकों की विशाल जायदादें विभिन्न सामाजिक व धार्मिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु प्राप्त हो जायेंगी।[5]

संवत् 1351 से 1800 तक भट्टारक ही विशेष रूप में दिगम्बर जैनों द्वारा पूजे जाते रहे। ये भट्टारक अपना आचरण श्रमण-परम्परा के पूर्णतः अनुकूल रखते थे। प्राण-प्रतिष्ठा महोत्सवों एवं विविध व्रत-उपवासों की समाप्ति पर होने वाले आयोजनों के संचालन में इनकी प्रमुख भूमिका होती थी। राजस्थाम के जैन-शास्त्र-भण्डारों में ऐसी हजारों पाण्डुलिपियाँ संगृहीत हैं, जो इन भट्टारकों की प्रेरणा से विभिन्न श्रावक-श्राविकाओं ने व्रत-उद्यापन आदि के शुभ-अवसरों पर लिखवाकर इन शास्त्र-भण्डारों में विराजमान की थीं। इसप्रकार साहित्य-सृजन की दृष्टि से भट्टारकों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

भट्टारकों द्वारा धर्मोत्थान के कार्य

संवत् 1351 से संवत् 1900 तक जितने भी देश में पंचकल्याणक-महोत्सव सम्पन्न हुये, वे प्रायः सभी भट्टारकों के नेतृत्व में ही आयोजित हुये थे। संवत् 1548, 1664, 1783, 1826 एवं 1852 में देश में जो विशाल प्रतिष्ठायें हुई थीं, वे इतिहास में अद्वितीय थीं और उनमें हजारों मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित हुई थीं। उत्तर-भारत के प्रायः सभी मन्दिरों में आज इन संवतों में प्रतिष्ठापित मूर्तियाँ अवश्य मिलती हैं। ये भट्टारक संयमी होते थे। इनका आहार एवं विहार यथासंभव श्रमण-परम्परा के अन्तर्गत होता था। मुगल बादशाहों तक ने उनके चरित्र एवं विद्वत्ता की प्रशंसा की थी। मध्यकाल में तो वे जैनों के 'आध्यात्मिक राजा' कहलाने लगे थे, किन्तु यही उनके पतन का प्रारम्भिक कदम था।

संवत् 1351 से संवत् 2000 तक इन भट्टारकों का कभी उत्थान हुआ, तो कभी वे पतन की ओर अग्रसर हुये, लेकिन फिर भी वे समाज के आवश्यक अंग माने जाते रहे। यद्यपि दिगम्बर-जैन-समाज में 'तेरापंथ' के उदय से इन भट्टारकों पर विद्वानों द्वारा कड़े प्रहार किये गये तथा कुछ विद्वान्-भट्टारकों की लोकप्रियता को समाप्त करने में बड़े भारी साधक भी बने; लेकिन फिर भी समाज में इनकी आवश्यकता बनी रही और व्रत-विधान एवं प्रतिष्ठा-समारोहों में तो इन भट्टारकों

की उपस्थिति आवश्यक मानी जाती रही। 650 वर्षों में से 600 वर्ष तक तो ये भट्टारक जैन-समाज के अनेक विरोधों के बावजूद भी श्रद्धा के पात्र बने रहे और समाज इनकी सेवाओं को आवश्यक समझता रहा। शुभचन्द्र, जिनचन्द्र, सकलकीर्ति, ज्ञानभूषण जैसे भट्टारक किसी भी दृष्टि से साधकों से कम नहीं थे; क्योंकि उनको ज्ञान, त्याग, तपस्या और साधना सभी तो उनके समान थी और वे अपने समय के एकमात्र निर्विवाद दिगम्बर समाज के प्रतिनिधि थे। उन्होंने मुगलों के समय में जैनधर्म की रक्षा ही नहीं की, किन्तु साहित्य एवं संस्कृति की रक्षा में भी अत्यधिक तत्पर रहे। भट्टारक शुभचन्द्र को 'यतियों का राजा' कहा जाता था तथा भट्टारक सोमकीर्ति अपने आपको 'आचार्य' लिखना अधिक पसन्द करते थे। भट्टारक वीरचन्द्र 'महाव्रतियों के नायक' थे। उन्होंने 16 वर्ष तक नीरस आहार का सेवन किया था। तथा भट्टारक सकलकीर्ति को 'निर्ग्रन्थराज' कहा जाता था।[6]

ग्रंथ-भण्डारों की स्थापना, नवीन पाण्डुलिपियों का लेखन एवं उनका संग्रह आदि सभी इनके अद्वितीय कार्य थे। आज भी जितना अधिक पाण्डुलिपियों का संग्रह भट्टारकों के केन्द्रों पर मिलता है, उतना अन्यत्र नहीं। अजमेर, नागौर, आमेर जैसे नगरों के शास्त्र-भण्डार इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। ये भट्टारक ज्ञान की जीवन्त मूर्ति होते थे। इन्होंने प्राकृत एवं अपभ्रंश के साथ-साथ संस्कृत एवं हिन्दी में ग्रंथ-रचना को अधिक प्रोत्साहन दिया और स्वयं ने भी प्रमुखत: इन्हीं भाषाओं में ग्रंथों का निर्माण किया। इसके अतिरिक्त वे साहित्य की किसी भी एक विद्या से चिपके नहीं रहे, किन्तु साहित्य के सभी अंगों को पल्लवित किया। उन्होंने चरित-काव्यों के साथ-साथ पुराण, काव्य-वेली, रास पचासिका, शतक-बावनी, विवाहलो, आख्यान-पद एवं गीतों की रचना में गहरी रुचि ली और संस्कृत एवं हिन्दी में सैकड़ों महत्त्वपूर्ण रचनाओं में उनके प्रचार-प्रसार में पूर्ण योग दिया। इन्हीं के शिष्य 'ब्रह्म जिनदास' जैसा हिन्दी-साहित्य में दूसरा कोई कवि नहीं मिलेगा; जिन्होंने अकेले 35 'रासक' ग्रंथ लिखे हों। ब्रह्म जिनदास का 'राम-सीतारास' तुलसीदास के 'रामचरित मानस' से भी कहीं बड़ा है।[7]

साहित्य-निर्माण के अतिरिक्त श्रमण-संस्कृति के इन उपासकों द्वारा राजस्थान, मध्यप्रदेश, देहली, बागड प्रदेश एवं गुजरात में मन्दिरों के निर्माण में, प्रतिष्ठा-समारोहों के आयोजनों में, मूर्तियों की प्रतिष्ठा में जितना योगदान दिया गया, वह भी आज हमारे लिये इतिहास की वस्तु है। आज सारा बागड प्रदेश, मालवा प्रदेश, कोटा, बूंदी, एवं झालावाड़ का प्रदेश, चम्पावती, टोडारायसिंह एवं रणथम्भौर का क्षेत्र जितना जैन पुरातत्त्व में समृद्ध है, उतना देश का अन्य कोई क्षेत्र नहीं है। मुगल-शासन में एवं उसके बाद भी इन भट्टारकों ने इसप्रकार के कार्य की सम्पन्नता में जितना रस लिया, वह भारतीय पुरातत्त्व के इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटना

है। संवत् 1548 में भट्टारक जिनचन्द्र ने 'मुंडासा' नगर में एक लाख से भी अधिक मूर्तियों की प्रतिष्ठा का कार्य सम्पन्न किया था। यह विशाल आयोजन जीवराज पाड़ीवाल द्वारा कराया गया था। इसी तरह संवत् 1826 में 'सवाई माधोपुर' में भट्टारक सुखेन्द्रकीर्ति के तत्त्वावधान में जो विशाल प्रतिष्ठा-समारोह हुआ था, उसमें भी हजारों मूर्तियों को प्रतिष्ठित किया गया था। राजस्थान में आज कोई ऐसा मन्दिर नहीं होगा, जिसमें संवत् 1826 में प्रतिष्ठापित मूर्ति नहीं मिलती हो। ये भट्टारक बाद में अपने कीर्ति-स्तम्भ बनवाने लगे थे, जिनमें भट्टारक-परम्परा का विस्तृत उल्लेख मिलता है। ऐसा ही कीर्तिस्तम्भ पहले 'चाकसू' में था, जो आजकल राजस्थान पुरातत्त्व-विभाग के अधीन है और यह आमेर के बाग में स्थापित किया हुआ है। आमेर (जयपुर) में एक नशियां 'कीर्तिस्तम्भ की नशियाँ' के नाम से ही प्रसिद्ध है। इस कीर्तिस्तम्भ को संवत् 1883 में भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति ने स्थापित किया था। इसी तरह 'चांदखेड़ी' एवं 'मौजमाबाद' में विशाल प्रतिष्ठाओं का आयोजन हुआ था। संवत् 1664 में प्रतिष्ठापित 200 से अधिक मूर्तियाँ तो स्वयं 'मौजमाबाद' में विराजमान हैं। विशाल एवं कलापूर्ण मूर्तियों के निर्माण में भी इनकी गहरी रुचि होती थी। जयपुर में पार्श्वनाथ की प्रतिमा सागवाड़ा, चांदखेड़ी, झालरापाटन में ऐसी विशालकाय एवं मनोज्ञ मूर्तियाँ मूर्तिकला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।[8]

भट्टारक-संस्था का उदय 13वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ, जब उस युग में भट्टारक बनना गौरव की बात समझी जाने लगी थी। इसलिये भट्टारक-परम्परा सारे देश में विगत् 700 वर्षों में अक्षुण्ण रूप से चलती रही। और एक के पश्चात् एक भट्टारक होते गये और पूरा जैन समाज भी उन्हें अपना अधिकार समर्पित करता रहा।

देश में 100 वर्ष पहले राजस्थान में भी महावीर जी, नागोर एवं अजमेर में भट्टारक-गादियाँ थीं। इनके अतिरिक्त मध्यप्रदेश में सोनागिर, महाराष्ट्र में कारंजा, दक्षिण-भारत में मूडबिद्री, श्रवणबेलगोला, कोल्हापुर, हुमचा आदि में भट्टारक-गादियाँ वर्तमान में भी विद्यमान हैं। ये भट्टारक आगम-ग्रन्थों के वेत्ता होते थे। पूजा-पाठ, अभिषेक, विधि-विधान, पंच-कल्याणक-प्रतिष्ठायें, पाण्डुलिपि-लेखन नवीन साहित्य का निर्माण-कार्य करते थे। अपने जीवन के आरम्भ-परिग्रह से रहितत जिन-मार्ग के उपदेष्टा होते थे। 400-500 वर्षों तक तो भट्टारक समाज के एकमात्र प्रतिनिधि थे। धार्मिक मामलों के प्रवर्तक थे। मन्दिरों के संरक्षक थे, समाज के नियन्ता थे। ये मन्दिरों में रहते थे।

भट्टारक शास्त्रों के रचयिता भी होते थे। भट्टारक सकलकीर्ति, भट्टारक शुभचन्द्र, भट्टारक ज्ञानभूषण, भट्टारक विजयकीर्ति एवं आमेर गादी के भट्टारक जगतकीर्ति, ये सभी उच्च-कोटि के विद्वान् थे। ये कितने ही काव्यों के रचयिता थे। ये संस्कृत में धाराप्रवाह लिखते थे। भट्टारक सकलकीर्ति के शिष्य जिनदास तो

महान् विद्वान् थे। जिनके पचासों ग्रंथ आज भी जैन-शास्त्र-भण्डारों की शोभा बढ़ा रहे हैं। वे महाकवि थे। राम-सीता-रास, हरिवंशपुराण जैसे विशाल ग्रंथ उनके द्वारा रचित हैं। यह कहना सही होगा कि यदि इन भट्टारकों द्वारा शास्त्र-भण्डारों की रक्षा नहीं होती, तो आज जैन-शास्त्र इतने समृद्ध नहीं होते। डॉ. कासलीवाल के अनुसार अकेले राजस्थान में इन ग्रंथ-भण्डारों की संख्या 200 से भी अधिक है, जिनमें तीन लाख से भी अधिक संख्या में पाण्डुलिपियों का संग्रह उपलब्ध होता है।[9]

राजस्थान के जिन प्रमुख भट्टारकीय-गादियों का वर्णन इतिहास में मिलता है, उनमें सबसे प्रमुख गादी 'आमेर' की मानी जाती थी। भट्टारक-सम्प्रदाय में इसे 'देहली-जयपुर-शाखा की गादी' भी कहा है। इस शाखा के भट्टारकों का काल निम्न-प्रकार रहा[10]—

भट्टारकगण — दिल्ली, जयपुर शाखा कालपट

1. पद्मनन्दी, 2. शुभचन्द्र (संवत् 1450-1507), 3. जिनचन्द्र (संवत् 1507-1571), रत्नकीर्ति, सिंहकीर्ति (नागौर शाखा), 4. प्रभाचनछ (संवत् 1571-1580), 5. चन्द्रकीर्ति (संवत् 1654), 6. देवेन्द्रकीर्ति, 7. नरेन्द्रकीर्ति, 8. सुरेन्द्रकीर्ति (संवत् 1722), 9. जगत्कीर्ति (संवत् 1733), 10. देवेन्द्रकीर्ति (संवत् 1770), 11. महेन्द्रकीर्ति (संवत् 1790), 12. सुनेन्द्रकीर्ति (संवत् 1822) 13. सुखेन्द्रकीर्ति (संवत् 1852) 14. नरेन्द्रकीर्ति (संवत् 1880), 15. देवेन्द्रकीर्ति (संवत् 1883) 16. महेन्द्रकीर्ति (संवत् 1939), एवं 17. चन्द्रकीर्ति (संवत् 1975)।

इनमें से कतिपय-प्रमुख प्रभावक भट्टारकों का परिचय एवं उनके योगदान का विवरण निम्नानुसार है—

भट्टारक पद्मनन्दि

संस्कृत-भाषा के उन्नायकों में भट्टारक आचार्य पद्मनन्दि की गणना की जाती है। ये प्रभाचन्द्र के शिष्य थे।[11] कहा जाता है कि दिल्ली में रत्नकीर्ति के पट्ट पर विक्रम-संवत् 1310 की पौष शुक्ल पूर्णिमा को भट्टारक प्रभाचन्द्र का अभिषेक हुआ था। ये मूलसंघ स्थित नन्दिसंघ बलात्कारगण और सरस्वतीगच्छ के थे।

पट्टावलियों और प्रशस्तियों के आधार पर पद्मनन्दि का समय ईस्वी सन् की 14वीं शती है। भट्टारक पद्मनन्दि के नाम से कई स्तोत्र मिलते हैं। उनकी सुनिर्णीत रचनायें हैं — जीरापल्लीपार्श्वनाथस्तवन, भावनापद्धति, श्रावकाचारसारोद्धार, अनन्तव्रतकथा, एवं वर्द्धमानचरित। जबकि संदिग्ध कृतियाँ हैं — वीतरागस्तोत्र, शान्तिजिनस्तोत्र, एवं जीरावणपार्श्वनाथस्तोत्र।

भट्टारक सकलकीर्ति

विपुल साहित्य-निर्माण की दृष्टि से आचार्य सकलकीर्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान

है। इन्होंने संस्कृत एवं प्राकृत-वाङ्मय को संरक्षण ही नहीं दिया, अपितु उसका पर्याप्त प्रचार और प्रसार किया। इनकी प्रसिद्धि महाकवीश्वर के रूप में थी। आचार्य सकलकीर्ति ने प्राप्त आचार्य-परम्परा का सर्वाधिकरूप में पोषण किया है। तीर्थ-यात्रायें कर जनसामान्य में धर्म के प्रति जागरुकता उत्पन्न की और नवमंदिरों का निर्माण कराकर प्रतिष्ठायें करायीं।

निःसन्देह आचार्य सकलकीर्ति का असाधारण व्यक्तित्व था। तत्कालीन संस्कृत, अपभ्रंश, राजस्थानी आदि भाषाओं पर अपूर्व अधिकार था। भट्टारक सकलभूषण ने अपने 'उपदेशरत्नमाला' नामक ग्रन्थ की प्रशस्ति में सकलकीर्ति को अनेक पुराणग्रन्थों का रचयिता लिखा है।

निर्ग्रन्थाचार्य सकलकीर्ति एक बड़े तपस्वी, ज्ञानी, धर्म-प्रचारक और ग्रन्थरचयिता थे। उस युग में ये अद्वितीय प्रतिभाशाली एवं शास्त्रों के पारगामी थे। आचार्य सकलकीर्ति का जन्म विक्रम-संवत् 1443 (ईस्वी सन् 1386) में हुआ था।[12] इनके पिता का नाम कर्मसिंह और माता का नाम शोभा था। ये हूवड़ जाति के थे और अणहिलपुरपट्टन के रहने वाले थे।[13]

बालक का नाम माता-पिता ने पूर्णसिंह या पूनसिंह रखा था। एक पट्टावली में इनका नाम 'पदार्थ' भी पाया जाता है। इनका वर्ण राजहंस के समान शुभ्र और शरीर 32 लक्षणों से युक्त था। माता-पिता ने 14 वर्ष की अवस्था में ही पूर्णसिंह का विवाह कर दिया। कहा जाता है कि माता-पिता के आग्रह से ये चार वर्षों तक घर में रहे और 18वें वर्ष में प्रवेश करते ही विक्रम-संवत् 1463 (ईस्वी सन् 1406) में समस्त सम्पत्ति का त्याग कर भट्टारक पद्मनन्दि के पास 'नेणवां' में चले गये। 34वें वर्ष में आचार्य पदवी धारण कर अपने प्रदेश में वापिस आये और धर्म-प्रचार करने लगे। इस समय वे नग्नावस्था में थे।

आचार्य सकलकीर्ति ने बागड़ और गुजरात में पर्याप्त भ्रमण किया और धर्मोपदेश देकर श्रावकों में धर्म-भावना जागृत की थी। बलात्कारगण की ईडरशाखा का आरम्भ भट्टारक सकलकीर्ति से ही होता है। इनका स्थितिकाल विक्रम-संवत् 1443-1499 तक आता है।

आचार्य सकलकीर्ति संस्कृत-भाषा के प्रौढ़ पंडित थे। इनके द्वारा लिखित निम्नलिखित रचनाओं की जानकारी प्राप्त होती है — शान्तिनाथचरित, वर्द्धमान-चरित, मल्लिनाथचरित, यशोधरचरित, धन्यकुमारचरित, सुकमालचरित, सुदर्शनचरित, जम्बूस्वामीचरित, श्रीपालचरित, मूलाचारप्रदीप, प्रश्नोत्तरोपासकाचार, आदिपुराण— वृषभनाथचरित, उत्तरपुराण, सद्भाषितावली-सूक्तिमुक्तावली, पार्श्व-नाथपुराण, सिद्धान्तसारदीपक, व्रतकथाकोष, पुराणसारसंग्रह, कर्मविपाक, तत्त्वार्थ-सारदीपक, परमात्मराजस्तोत्र, आगमसार, सारचतुर्विंशतिका, पंचपरमेष्ठीपूजा, अष्टाह्निकापूजा,

सोलहकारणपूजा, द्वादशानुप्रेक्षा, गणधरवलयपूजा एवं समाधिमरणोत्साहदीपक। राजस्थानी-भाषा में लिखित रचनायें इस प्रकार हैं — आराधनाप्रतिबोधसार, नेमीश्वर-गीत, मुक्तावली-गीत, णमीकार-गीत, पार्श्वनाथाष्टक, सोलककारणरासो, शिखामणिरास, एवं रत्नत्रयरास।

नि:सन्देह आचार्य सकलकीर्ति अपने युग के प्रतिनिधि लेखक हैं। इन्होंने अपने पुराण-विषयक कृतियों में आचार्य-परम्परा द्वारा प्रवाहित विचारों को ही स्थान दिया है। चरित्रनिर्माण के साथ सिद्धान्त, भक्ति एवं कर्म-विषयक रचनायें परम्परा के पोषण में विशेष सहायक हैं।

भट्टारक भुवनकीर्ति

सकलकीर्ति के प्रधान शिष्यों में भट्टारक भुवनकीर्ति की गणना की गयी है। सकलकीर्ति के 33 वर्षों के पश्चात् भुवनकीर्ति को विक्रम-संवत् 1532 में भट्टारक-पद मिला होगा। आचार्य भुवनकीर्ति विविध भाषाओं और शास्त्रों के ज्ञाता थे। इन्हें विभिन्न कलाओं का परिज्ञान भी था। भुवनकीर्ति के सम्बन्ध में ब्रह्मजिनदास, भट्टारक ज्ञानकीर्ति आदि ने बताया है कि पहले ये मुनि रहे हैं और सकलकीर्ति की मृत्यु के पश्चात् इन्हें भट्टारक-पद प्रदान किया गया है। भुवनकीर्ति ने ग्रन्थ-रचना के साथ-साथ प्रतिष्ठायें भी करायी थीं।

आचार्य भुवनकीर्ति के 'जीवन्धररास', 'जम्बूस्वामीरास' और 'अंजनाचरित' ग्रन्थ उपलब्ध हैं। 'जीवन्धररास' में जीवन्धर के पुण्यचरित का और 'जम्बूस्वामीरास' में जम्बूस्वामी के पावन चरित का रासशैली में वर्णित किया गया है।

आचार्य ब्रह्मजिनदास

ब्रह्मजिनदास संस्कृत के महान् विद्वान् और कवि थे। ये कुन्दकुन्दान्वय, सरस्वतीगच्छ के भट्टारक सकलकीर्ति के कनिष्ठ भ्राता और शिष्य थे। बलात्कारगण की ईडर शाखा के सर्वाधिक प्रभावक भट्टारक सकलकीर्ति के अनुज होने के कारण इनकी प्रतिष्ठा अत्यधिक थी।

इनकी माता का नाम 'शोभा' और पिता का नाम 'कर्णसिंह' था। ये पाटन के रहनेवाले तथा 'हूंवड़' जाति के श्रावक थे। इन्होंने गुरु के रूप में सकलकीर्ति का आदरपूर्वक स्मरण किया है। ब्रह्मजिनदास का समय विक्रम-संवत् 1450-1525 होना चाहिये। ब्रह्मजिनदास ग्रन्थ-रचयिता होने के साथ कुशल उपाध्याय भी थे।

इनकी रचनायें दो भाषाओं में हैं — संस्कृत एवं राजस्थानी। संस्कृत-भाषा की रचनायें इस प्रकार हैं — जम्बूस्वामीचरित, रामचरित, हरिवंशपुराण, पुष्पांजलिव्रतकथा, जम्बूद्वीपपूजा, सार्द्धद्वयद्वीपपूजा, सप्तर्षिपूजा, ज्येष्ठिजिनवरपूजा, सोलहकारणपूजा, गुरुपूजा, अनन्तव्रतपूजा, एवं जलयात्राविधि। राजस्थानी-भाषा में

रचित कृतियाँ इस प्रकार हैं — आदिनाथपुराण, हरिवंशपुराण, राम-सीतारास, यशोधररास, हनुमतरास, नागकुमाररास, परमहंसरास, अजितनाथरास, होलीरास, धर्मपरीक्षारास, ज्येष्ठिजिनवररास, श्रेणिकरास, समकितमिथ्यात्वरास, सुदर्शनरास, अम्बिकारास, नागश्रीरास, श्रीपालरास, जम्बूस्वामीरास, भद्रबाहुरास, कर्मविपाकरास, सुकौशलस्वामीरास, रोहिणीरास, सोलहकारणरास, दशलक्षणरास, अनन्तव्रतरास, धन्नकुमाररास, चारुदत्तप्रबन्धरास, पुष्पांजलिरास, धनपालरास, भविष्यदत्तरास, जीवन्धररास, नेमी-श्वररास, करकण्डुरास, सुभौमचक्रवर्तीरास, अट्ठाबीसमूलगुणरास, मिथ्यादुक्कड़विनती, बारहव्रतगीत, जीवड़ागीत, जिणन्दगीत, आदिनाथस्तवन, आलोचनाजयमाल, गुरुजयमाल, शास्त्रपूजा, सरस्वतीपूजा, गुरुपूजा, जम्बूद्वीपपूजा, निर्दोषसप्तमीव्रतपूजा, रविव्रतकथा, चौरासीजातिजयमाल, भट्टारकविद्याधरकथा, अष्टांगसम्यक्त्वकथा, व्रतकथा, एवं पंचपरमेष्ठीगुणवर्णन।

आचार्य सोमकीर्ति

ये काष्ठासंघ की नन्दितट-शाखा के भट्टारक थे तथा 10वीं शताब्दी के प्रसिद्ध भट्टारक रामसेन की परम्परा में होनेवाले भट्टारक थे। इनके दादागुरु का नाम लक्ष्मीसेन और गुरु का नाम भीमसेन था। इनका जन्म विक्रम-संवत् 1480 के लगभग आता है।

इनके शिष्यों में यशकीर्ति, वीरसेन और यशोधर — ये तीन प्रधान हैं। इनकी मृत्यु के पश्चात् यशकीर्ति ही भट्टारक बने। सोमकीर्ति लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् थे और इनकी वाणी में अमृत-जैसा प्रभाव था।

आचार्य सोमकीर्ति ने संस्कृत एवं हिन्दी इन दोनों ही भाषाओं में ग्रन्थ-प्रणयन किया है। उपलब्ध रचनायें निम्प्रकार हैं — 1. संस्कृत रचनायें — सप्तव्यसनकथा, प्रद्युम्नचरित, एवं यशोधरचरित; 2. राजस्थानी रचनायें — गुर्वावलि, यशोधररास, ऋषभनाथ की धूलि, मल्लिगीत, एवं आदिनाथविनती। इसप्रकार सोमकीर्ति ने अहिंसा, श्रावकाचार, अनेकान्त आदि विषयों का प्रतिपादन किया है।

आचार्य ज्ञानभूषण

ज्ञानभूषण प्रारम्भ में भट्टारक विमलेन्द्रकीर्ति के शिष्य थे; किन्तु उत्तरकाल में इन्होंने भुवनकीर्ति को अपना गुरु स्वीकार किया है। ज्ञानभूषण एवं ज्ञानकीर्ति ये दोनों ही सगे भाई एवं गुरुभाई थे। ये गोलालारे-जाति के श्रावक थे।

नन्दिसंघ की पट्टावलि से ज्ञात होता है कि ज्ञानभूषण गुजरात के रहनेवाले थे। गुजरात में इन्होनें सागारधर्म धारण किया, अहीर (आभीर) देश में में 11 प्रतिमायें धारण कीं और 'वागवट' या 'बागड़देश' में दुर्धर महाव्रत ग्रहण किये। तौलवदेश के यतियों में इनकी बड़ी प्रतिष्ठा हुई।

भट्टारक ज्ञानभूषण का समय विक्रम-संवत् 1500-1562 है। भट्टारक ज्ञानभूषण ने संस्कृत और हिन्दी — दोनों ही भाषाओं में रचनायें लिखी हैं। उनकी संस्कृत-रचनायें हैं — आत्मसम्बोधन काव्य, ऋषिमण्डलपूजा, तत्त्वज्ञानतरंगिणी, पूजाष्टकटीका, पंचकल्याणकोद्यापनपूजा, नेमिनिर्वाणकाव्य की पंजिकाटीका, भक्तामरपूजा, श्रुतपूजा, सरस्वतीपूजा, सरस्वतीस्तुति, एवं शास्त्रमण्डलपूजा; जबकि हिन्दी-रचनायें हैं — आदीश्वरफाग, जलगालनरास, पोसहरास, षट्कर्मरास, एवं नागद्रारास।

भट्टारक अभिनव धर्मभूषण

अभिनव धर्मभूषण इनका उल्लेख विजयनगर के शिलालेख संख्या 2 में वर्द्धमान भट्टारक के शिष्य के रूप में आया है। 'न्यायदीपिका' में तृतीय प्रकाश की पुष्पिकावाक्य में तथा ग्रन्थान्त में आये हुये पद्य में धर्मभूषण ने अपने को वर्द्धमान भट्टारक का शिष्य बतलाया है। इनका अन्तिम समय ईस्वी सन् 1418 आता है।

अभिनव धर्मभूषण राजाओं द्वारा मान्य एवं लब्धप्रतिष्ठ यशस्वी विद्वान् थे। इनके द्वारा रचित 'न्यायदीपिका' नामक एक न्यायग्रन्थ उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थ में तीन प्रकाश या परिच्छेद हैं। इस छोटे से ग्रन्थ में न्यायशास्त्र-सम्बन्धी सिद्धान्तों का अच्छा समावेश किया गया है।

भट्टारक विजयकीर्ति

विजयकीर्ति भट्टारक ज्ञानभूषण के शिष्य थे और सकलकीर्ति द्वारा स्थापित भट्टारक-गद्दी पर आसीन हुये थे। इनके पिता का नाम 'शाहगंग' और माता का नाम 'कुँअरि' था। इनका शरीर कामदेव के समान सुन्दर था। श्रेणिचरित में विजयकीर्ति को यतिराज, पुण्यमूर्ति आदि विशेषणों द्वारा उल्लिखित किया है।

विक्रम-संवत् 1547-1570 तक इनके भट्टारक-पद पर आसीन रहने का उल्लेख मिलता है। अतएव विजयकीर्ति का समय विक्रम की 16वीं शताब्दी माना जाता है।

विजयकीर्ति शास्त्रार्थी विद्वान् थे। इन्होंने अपने विहार और प्रवचन द्वारा जैनधर्म का प्रचार एवं प्रसार किया थ। इनके द्वारा लिखित कोई भी ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है।

आचार्य शुभचन्द्र

भट्टारक शुभचन्द्र विजयकीर्ति के शिष्य थे। भट्टारक शुभचन्द्र का जीवनकाल विक्रम-संवत् 1535-1620 होना चाहिये। 40 वर्षों तक भट्टारक -पद पर आसीन रहकर शुभचन्द्र ने साहित्य और संस्कृति की सेवा की है।

संस्कृत और हिन्दी — दोनों भाषाओं में ही इनकी रचनायें उपलब्ध हैं।

उनकी संस्कृत-रचनायें हैं — चन्द्रप्रभचरित, करकण्डुचरित, कीर्तिकेयानुप्रेक्षाटीका, चन्दनाचरित, जीवन्धरचरित, पाण्डवपुराण, श्रेणिकचरित, सज्जनचित्तवल्लभ, पार्श्व-नाथ काव्यपंजिका, प्राकृतलक्षण, अध्यात्मतरंगिणी, अम्बिकाकल्प, अष्टाह्निकाकथा, कर्मदहनपूजा, चन्दनषष्ठीव्रतपूजा, गणधरवलयपूजा, चारित्रशुद्धिविधान, तीस-चौबीसीपूजा, पंचकल्याणकपूजा, पल्लीव्रतोद्यापन, तेरहद्वीपपूजा, पुष्पांजलिव्रतपूजा, सार्द्धद्वयद्वीपपूजा, एवं सिद्धचक्रपूजा। इनके द्वारा रचित हिन्दी कृतियाँ हैं — महावीरछन्द, विजयकीर्तिछन्द, गुरुछन्द, नेमिनाथछन्द, तत्त्वसारदूजा, एवं अष्टाह्निकागीत।

भट्टारक विद्यानन्दि

विद्यानन्दि बलात्कारगण की सूरत-शाखा के भट्टारक थे। भट्टारक विद्यानन्दि के द्वारा 'सुदर्शनचरित' नामक चरितकाव्य की रचना गन्धारनगर या गन्धारपुरी में की गयी है। सम्भवतः यह सूरत नगर का ही नामान्तर है। इस कृति की रचना विक्रम-संवत् 1355 के लगभग सम्पन्न हुई है।

भट्टारक मल्लिभूषण

विद्यानन्दि के पट्ट शिष्यों में मल्लिभूषण की गणना की जाती है। इन्होंने विक्रम-संवत् 1805 में सूरत एक आदिनाथमूर्ति स्थापित की थी।

आचार्य वीरचन्द्र

भट्टारकीय बलात्कारगण सूरत-शाखा के भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति की परम्परा में लक्ष्मीचन्द्र के शिष्य आचार्य वीरचन्द्र हुये हैं। वीरचन्द्र अत्यन्त प्रतिभा-सम्पन्न विद्वान् थे। व्याकरण एवं न्यायशास्त्र के प्रकाण्डवेत्ता थे। छन्द, अलंकार एवं संगीत-शास्त्र की मर्मज्ञता के साथ वादविद्या में निपुण थे। साधुजीवन का निर्वाह करते हुये वे गृहस्थों को भी संयमित जीवन-यापन करने की शिक्षा देते थे।

लक्ष्मीचन्द्र के शिष्य होने के कारण वीरचन्द्र का समय विक्रम-संवत् 1556-1582 के मध्य है। इनके द्वारा रचित कृतियों में जो समय प्राप्त होता है, उससे भी इनका कार्यकाल विक्रम की 17वीं शताब्दी सिद्ध होता है। आचार्य वीरचन्द्र संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी और गुजराती के निष्णात विद्वान् थे। इनके द्वारा लिखित आठ रचनायें प्राप्त हैं — 1. वीरविलासफाग, 2. जम्बूस्वामीवेलि, 3. जिनान्तर, 4. सीमन्धरस्वामीगीत, 5. सम्बोधसत्ताणु, 6. नेमिनाथरास, 7. चित्तनिरोधकथा, एवं 8. बाहुबलिवेलि।

आचार्य सुमतिकीर्ति

सुमतिकीर्ति का उल्लेख भट्टारक ज्ञानभूषण के शिष्य के रूप में आता है। इन ज्ञानभूषण कर्मकाण्ड की टीका सुमतिकीर्ति की सहायता से लिखी है। ये सुमतिकीर्ति नन्दिसंघ बलात्कारगण एवं सरस्वतीगच्छ के भट्टारक वीरचन्द के शिष्य

थे। इनका समय 16वीं शताब्दी का अन्तिम भाग और 17वीं शताब्दी का मध्यभाग है। इन्होंने संस्कृत और हिन्दी भाषाओं में अपनी रचनायें लिखी हैं। संस्कृत-भाषा की रचनायें हैं — कर्मकाण्डटीका एवं पंचसंग्रहटीका; जबकि हिन्दी-भाषा की कृतियाँ हैं — धर्मपरीक्षारास, वसन्तविद्याविलास, जिह्वादन्तसंवाद, जिनवरस्वामीविनती, शीतलनाथगीत, एवं फुटकर पद्य।

भट्टारक जिनचन्द्र

दिल्ली की भट्टारक-गद्दी के आचार्यों में जिनचन्द्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। विक्रम-संवत् 1407 ज्येष्ठ कृष्ण पंचमी को इनका पट्टाभिषेक बड़ी धूमधाम के साथ हुआ था। 64 वर्ष तक ये भट्टारक-पद पर आसीन रहे। इनकी आयु 91 वर्ष, आठ माह, सत्ताईस दिन थी। ये बघेरवाल-जाति के थे। जिनचन्द्र ने राजस्थान, उत्तरप्रदेश, पंजाब एवं दिल्ली के विभिन्न प्रदेशों में पर्याप्त विहार किया और जनता को धर्मोपदेश दिया।

आचार्य जिनचन्द्र ने मौलिक-ग्रन्थलेखन के साथ प्राचीन-ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ तैयार करायीं। इनकी 'सिद्धान्तसार, एवं 'जिनचतुर्विंशतिस्तोत्र' रचनायें उपलब्ध हैं।

भट्टारक प्रभाचन्द्र

जिनचन्द्र के शिष्य प्रभाचन्द्र के सम्बन्ध में पट्टावली में बतलाया है — "संवत् 1471 फाल्गुनवदी द्वितीया को भ. प्रभाचंद्र जी गृहस्थवर्ष 15 दीक्षावर्ष 35 पट्टवर्ष 9 मास, 4 दिवस, 25 अंतरदिवस, 8 सर्ववर्ष, 59 मास, 5 दिवस, 2 एकै बार गच्छ दोय हुआ चीतोड अर नागोर का सं. 1572 का अष्वाल।"[14]

प्रभाचन्द्र खण्डेलवाल-जाति के श्रावक थे। विक्रम-संवत् 1571 की फाल्गुन कृष्ण द्वितीया को दिल्ली में धूमधाम से इनका पट्टाभिषेक हुआ। पट्टावली के अनुसार ये 15 वर्ष तक भट्टारक-पद पर रहे। प्रभाचन्द्र ने साहित्य, पुरातत्त्व, ग्रन्थोद्धार एवं जनसाधारण में धर्म के प्रति अभिरुचि उत्पन्न करने के कार्य सम्पन्न किये।

भट्टारक जिनसेन द्वितीय

द्वितीय जिनसेन भट्टारक यशकीर्ति के शिष्य हैं। इनकी एक कृति 'नेमिनाथरास' उपलब्ध हुई है, जिसकी रचना विक्रम-संवत् 1556 माघ शुक्ल पंचमी, गुरुवार, सिद्धयोग में जवाच्छ नगर में सम्पन्न हुई। यह रास प्रबन्धकाव्य है और जीवन की समस्त प्रमुख घटनायें इसमें चित्रित हैं। समस्त रचना में 93 पद्य हैं। इसकी प्रति जयपुर के दिगम्बर-जैन बड़ा मन्दिर तेरहपंथी शास्त्र-भण्डार में संग्रहीत है। प्रति का लेखनकाल व्रिकम-संवत् 1516 पौष शुक्ल पूर्णिमा है। रास की भाषा राजस्थानी है, जिसपर गुजराती का प्रभाव है। जिनसेन का समय विक्रम-संवत् की 16वीं शताब्दी है।

आचार्य ब्रह्म जीवन्धर

भट्टारक ब्रह्म जीवन्धर भट्टारक सोमकीर्ति के प्रशिष्य एवं यशकीर्ति के शिष्य थे। इन्होंने विक्रम-संवत् 1590 वैशाख शुक्ल त्रयोदशी, सोमवार के दिन, भट्टारक विनयचन्द्र 'स्वोपज्ञचूनड़ीटीका' की प्रतिलिपि अपने ज्ञानावरणीयकर्म के क्षयार्थ की थी। अत: इनका समय विक्रम-संवत् की 16वीं शताब्दी है। इनकी निम्नलिखित रचनायें प्राप्त हैं — गुणस्थानवेलि, खटोलारास, झुबुंकगीत, श्रुतजयमाला, नेमिचरित, सतीगीत, तीनचौबीसीस्तुति, दर्शनस्तोत्र, ज्ञानविरागविनती, आलोचना, बीसतीर्थंकरजयमाला, एवं चौबीसतीर्थंकरजयमाला।

आचार्य श्रुतसागरसूरि

श्रुतसागरसूरि केवल परम्परा-परिपोषक ही नहीं हैं, अपितु मौलिक संस्थापक भी हैं। इनकी 'तत्त्वार्थसूत्र' पर एक 'श्रुतसागरी' नाम की वृत्ति उपलब्ध है, जिससे इनकी मौलिकता का परिचय प्राप्त होता है। ये मूलसंघ सरस्वतीगच्छ और बलात्कारगण के आचार्य हैं। इनके गुरु का नाम विद्यानन्दि था।

श्रुतसागर ने अपने को देशव्रती, ब्रह्मचारी तथा वर्णी लिखा है तथा 'नववनवतिमहावादिविजेता, तर्क-व्याकरण-छंद-अलंकर-सिद्धान्त-साहित्यादि-शास्त्रनिपुण, प्राकृतव्याकरणादिअनेकशास्त्रचंचु, उयभाषाकविचक्रवर्ती, तार्किकशिरोमणि, परमागमप्रवीण आदि विशेषणों से अलंकृत किया है।[15]

श्रुतसागर का व्यक्तित्व एक ज्ञानाराधक तपस्वी का व्यक्तित्व है, जिनका एक-एक क्षण श्रुतदेवता की उपासना में व्यतीत हुआ है। श्रुतसागर निस्सन्देह अत्यन्त प्रतिभाशाली विद्वान् है। ये कलिकासर्वज्ञ कहे जाते हैं। भट्टारक श्रुतसागरसूरि का समय विक्रम की 16वीं शताब्दी है।

श्रुतसागर की अब तक 38 रचनायें प्राप्त हैं। इनमें आठ टीकाग्रन्थ हैं, और चौबीस कथाग्रन्थ हैं, शेष छ: व्याकरण और काव्य-ग्रन्थ हैं। ये कृतियाँ इसप्रकार हैं— 1. यशस्तिलकचन्द्रिका, 2. तत्त्वार्थवृत्ति, 3. तत्त्वत्रयप्रकाशिका, 4. जिनसहस्रनामटीका, 5. महाभिषेकटीका, 6. षट्पाहुडटीका, 7. सिद्धभक्तिटीका, 8. सिद्धचक्राष्टकटीका, 9. ज्येष्ठजिनवरकथा, 10. रविव्रतकथा, 11. सप्तपरमस्थानकथा, 12. मुक्ति-सप्तमीकथा, 13. अक्षयनिधिकथा, 15, षोडसकारणकथा, 15, मेघमालाव्रतकथा, 16, चन्दनषष्ठीकथा, 17. लब्धि-विधानकथा, 18. पुरन्दरविधानकथा, 19. दश-लक्षणीव्रतकथा, 20. पुष्पां-जलिव्रतकथा, 21. आकाशपंचमीव्रतकथा, 22. मुक्ता-वलीव्रतकथा, 23. निर्दु:ख- सप्तमीकथा, 24. सुगन्धदशमीकथा, 25. श्रावण-क्षदशमीकथा, 26. रत्नत्रयव्रतकथा, 27. अनन्तव्रतकथा, 28. अशोकरोहिणीकथा, 29. तपो- लक्षणपंक्तिकथा, 30. पंक्तिकथा, 31. विमानपंक्तिकथा, 32. पल्लि-

विधानकथा, 33. श्रीपालचरित, 24. यशोधरचरित, 35. औदार्यचिन्तामणि (प्राकृत-व्याकरण), 36. श्रुतस्कन्धपूजा, 37. पार्श्वनाथस्तवन, एवं 38. शान्तिनाथस्तवन।

भट्टारक ब्रह्मनेमिदत्त

ब्रह्मनेमिदत्त मूलसंघ सरस्वती गच्छ बलात्कारगण के विद्वान् भट्टारक मल्लिभूषण के शिष्य थे। इनके दीक्षागुरु भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य विद्यानन्दि थे। ब्रह्मनेमिदत्त संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी और गुजराती भाषा के विद्वान् थे। इन्होंने संस्कृत में चरित, पुराण, कथा आदि ग्रन्थों की रचना की है। ब्रह्मनेमिदत्त का समय विक्रम की 16वीं शताब्दी है। इनकी 12-13 रचनायें प्राप्त हैं, जो इसप्रकार हैं — 1. आराधनाकथाकोश, 2. नेमिनाथपुराण, 3. श्रीपालचरित, 4. रात्रि-भोजनत्यागकथा, 6. प्रीतङ्करमहामुनिचरित, 7. धन्यकुमारचरित, 8. नेमिनिर्वाणकाव्य—इसकी प्रति ईडर में प्राप्त है, 9. नागकुमारकथा, 10. धर्मोपदेशपीयूषवर्षश्रावकाचार, 11. मालरोहिणी, एवं 12. आदित्यवारव्रतरास।

भट्टारक यशकीर्ति

काष्ठासंघ के माथुरान्वय पुष्करगण के भट्टारकों में भट्टारक यशकीर्ति का नाम आया है। गुणकीर्ति के पट्टशिष्य—यशकीर्ति हुये तथा इनके पट्टशिष्य मलयकीर्ति हुये। यशकीर्ति अपने समय के अत्यन्त प्रसिद्ध और यशस्वी व्यक्ति थे। 'भविष्यदत्तचरित' के प्रतिलिपि की पुष्पिका से स्पष्ट है कि विक्रम-संवत् 1486 में डूँगरसिंह के राज्यकाल में भट्टारक यशकीर्ति यशस्वी हो चुके थे। इनका समय विक्रम-संवत् की 15वीं शती का अन्तिम भाग तथा 16वीं शती का पूर्वार्द्ध है। इनकी चार रचनायें प्राप्त हैं — 1. पाण्डवपुराण, 2. हरिवंशपुराण, 3. जिणरत्तिकहा, एवं 4. रविवयकहा। ये सभी अपभ्रंश-भाषा में हैं।

भट्टारक महनन्दि मुनि

मुनि महनन्दि भट्टारक वीरचन्द के शिष्य थे। ये अपने युग के अत्यन्त प्रतिष्ठित साहित्यकार थे। इनके द्वारा विरचित 'बारखड़ी दोहा' या 'पाहुड दोहा' ग्रन्थ प्राप्त हैं इसमें 333 दोहे हैं। इन्होंने ग्रन्थ के आदि में अपने गुरु का नाम का उल्लेख किया है। इनका समय विक्रम-संवत् की 16वीं शताब्दी है।

महनन्दि की एक ही रचना प्राप्त है — पाहुडदोहा। यह रचना बारहखड़ी के क्रम से लिखी गयी है। इसमें 333 दोहे हैं, जिसकी संख्या की अभिव्यंजना कवि ने विभिन्न रूपों में की है।

भट्टारक गुणचन्द्र

भट्टारक गुणचन्द्र मूलसंघ सरस्वतीगच्छ बलात्कारगण के भट्टारक रत्नकीर्ति के प्रशिष्य और भट्टारक यशकीर्ति के शिष्य थे। यशकीर्ति अपने समय के अच्छे

विद्वान् थे। भट्टारक गुणचन्द्र का समय विक्रम-संवत् 1613-1653 है। भट्टारक गुणचन्द्र की संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं में रचनायें पायी जाती हैं। संस्कृत रचनायें इस प्रकार हैं — अनन्तनाथ पूजा एवं मौनव्रतकथा, जबकि हिन्दी रचनायें हैं — दयारसरास[16], राजमतिरास, आदित्यव्रतकथा, बारहमास, बारहव्रत, विनती, स्तुति नेमिजिनेन्द्र, ज्ञानचेतनानुप्रेक्षा, एवं फुटकर-पद।

आचार्य नरेन्द्रसेन

नरेन्द्रसेन सेनगण पुष्करगच्छ की गुरु-परम्परा में छत्रसेन के पट्टाधिकारी हुये हैं। नरेन्द्रसेन तर्कशास्त्री विद्वान् थे। 'प्रमाणप्रमेयकलिका' इन्हीं छत्रसेन के शिष्य नरेन्द्रसेन की है। इनका समय विक्रम-संवत् 1787-1790 (ईस्वी सन् 1730-1733 ईस्वी) है।[17]

नरेन्द्रसेन की 'प्रमाणप्रमेयकलिका' न्यायविषयक रचना है। इसमें प्रमाणतत्त्व-परीक्षा और प्रमेयतत्त्वपरीक्षा निबद्ध की गयी है। यह लघुकाय ग्रन्थ प्रमाण और प्रमेय-सम्बन्धी विषयों की दृष्टि से विशेष उपादेय है।

आचार्य धर्मकीर्ति

ये मूलसंघ सरस्वतीगच्छ और बलात्कारगण के आचार्य थे। इनकी दो रचनायें उपलब्ध हैं — पद्मपुराण और हरिवंशपुराण। धर्मकीर्ति का समय विक्रम की 17वीं शताब्दी है।

भट्टारक-परम्परा के क्षीण होने के कारण

राजस्थान में जहाँ भट्टारकों का अत्यधिक प्रभाव था, वहाँ उनका अस्तित्व ही समाप्त हो गया। भट्टारकों के पतन के कारण निम्नलिखित कहे जा सकते हैं —

1. 19वीं शताब्दी से ही भट्टारकों में उच्चकोटि की विद्वत्ता समाप्त हो गई। आगम एवं सिद्धांत-ग्रंथों की व्याख्या, पठन-पाठन कराने में वे असफल रहे। प्रवचन करने एवं श्रावकों को आकर्षित करने में भी वे अक्षम सिद्ध रहे।
2. भट्टारकों के पतन का एक कारण मुनिधर्म का वापिस जागृत होना भी है। निर्ग्रन्थ-मुनियों के विहार से सर्वत्र भट्टारकों के प्रति वैसे ही समाज की श्रद्धा कम हो गई। मुनियों के सामने उनकी प्रतिष्ठा भी कम होती गई।
3. समाज में जागृति आयी, पंचायतों में मन्दिरों के प्रबंध का उत्तरदायित्व स्वयं ने ले लिया। पद की अभिलाषा, समाज पर प्रभाव जैसे कार्य भी भट्टारक-परम्परा की समाप्ति में सहायक बने।
4. एक भट्टारक की समाप्ति हो जाने के पश्चात् उनकी गादियाँ बहुत वर्षो तक खाली पड़ रहीं और किसी ने उस पर योग्य व्यक्ति को नहीं बिठाया; इसलिये जब खाली गादी से भी समाज का कार्य चलने लगा, तो फिर समाज

भट्टारकों के प्रति उपेक्षित हो गया।

5. भट्टारक बनने के लिये किसी विद्वान् श्रावक का आगे नहीं आना भी एक प्रमुख कारण रहा।

6. पड़ितों का सद्भाव एवं उनके द्वारा पंचकल्याणक प्रतिष्ठायें, विधान आदि स्वयं करवाना है। भट्टारकों के अस्तित्व को भुलाने में पंडित-वर्ग का भी विशेष हाथ रहा है।

दक्षिण-भारत में भट्टारक-गादियाँ

उत्तर-भारत से दक्षिण-भारत की स्थिति एकदम भिन्न है। उत्तर-भारत में भट्टारकों का नाम लेना भी नहीं रहा; वहीं दक्षिण-भारत में वर्तमान में आठ भट्टारक-पीठ हैं, जहाँ भट्टारकगण पदासीन हैं और धार्मिक क्रियाओं को कराते रहते हैं। वे समाज में आते-जाते हैं, सम्मान प्राप्त करते हैं। बड़े-बड़े मठ हैं, जहाँ कितने ही व्यक्ति मठ की सेवा में लगे रहते हैं। गाड़ी-घोड़े हैं। दक्षिण के भट्टारक जब उत्तर-भारत में आते हैं, तब समाज उनकी सेवा में लग जाता है। दक्षिण-भारत में वर्तमान में मूडबिद्री, श्रवणबेलगोला, हुमचा, कोल्हापुर, नांदनी जैसे कुछ भट्टारक-मठ हैं, जहाँ भट्टारकों की सारी धार्मिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक विधियाँ चलती हैं। इन भट्टारक-पीठों का इतिहास निम्नप्रकार है —

श्रवणबेलगोल भट्टारक-पीठ

श्रवणबेलागोल 'श्रवण' अर्थात् 'श्रमण' और 'बेलगोल' (बेल+गोल) शब्दों की संधि से बना हैं 'श्रवण' अथवा 'श्रमण' का अर्थ है 'जैन-साधु' अथवा यह गोम्मटेश्वर जैन मूर्ति बेलगोल दो कन्नड शब्दों 'बेल' अर्थात् 'श्वेत' तथा 'गोल' अर्थात् सरोवर से बना है। दोनों पहाड़ियों अर्थात् 'विंध्यगिरि' तथा 'चन्द्रगिरि' के मध्य में यह सुन्दर 'कल्याणी सरोवर' निर्मित है। इस मूर्ति एवं 'कल्याण सरोवर' में सम्बन्ध जोड़कर इसप्रकार इस स्थान का नाम 'श्रवणबेलगोल' प्रसिद्ध हुआ है। वृद्धा द्वारा गुल्लकेय फल के खोल से भरे दूध द्वारा गोम्मटेश्वर मूर्ति का अभिषेक किये जाने के कारण भी इसका नाम 'श्रवणबेलगोल' पड़ा है। उत्तर-भारत के जैन इसे 'जैनबिद्री' भी कहते हैं। कर्नाटक के 'हासन' जिले में स्थित यह छोटा-सा सुन्दर नगर कर्नाटक की राजधानी 'बंगलौर' से लगभग 50 किलोमीटर दूर तथा बन्दरगाह मंगलौर से लगभग 250 किलोमीटर दूर है। सुन्दर पक्की सड़क द्वारा बसों अथवा कारों से यहाँ सुगमता से पहुँचा जा सकता है।

जैन-मठ

यह एक सुन्दर मन्दिर एवं श्रवणबेलगोल के मठाधीश पंडिताचार्य स्वस्ति श्री चारुकीर्ति भट्टारक स्वामी का पूर्व निवास-स्थान है। मठ के बीच में खुला हुआ प्रांगण

तथा उससे आगे जिनमन्दिर है। तीन गर्भ-गृहों में धातु, पाषाण आदि की अनेक कलापूर्ण मूतियाँ हैं, जिसमें से कुछ मूर्तियाँ संस्कृत व तुव्वु भाषाओं के लेख सहित, जो ग्रन्थ-लिपि में हैं, बहुत प्राचीन हैं। मन्दिर में ज्वालामालिनी, शारदा एवं कुष्मांडिनी आदि शासन-देवियों की मूर्तियाँ बनी हैं। मठ की दीवारों पर तीर्थंकरों तथा जैन-नरेशों की जीवन-घटनाओं के रंगीन चित्र अंकित किये हुये हैं। मठ के प्रवेशमण्डप के स्तम्भों पर खुदाई का सुन्दर कार्य किया हुआ है। ऊपर की मंजिल में, जो बाद में निर्मित हुई, तीर्थंकर पार्श्वनाथ की मूर्ति स्थापित है। प्रतिष्ठित मूर्तियों में से अनेक तमिलनाडु के जैन-बन्धुओं द्वारा भेंट की गई हैं। इन मूर्तियों पर संस्कृत एवं तमिल भाषा में जो लेख अंकित हैं, उनका काल सन् 1850 से लेकर 1858 तक पड़ा है। मठ में नव-देवता की मूर्ति विशेष उल्लेखनीय है। इस मूर्ति में पंच-परमेष्ठी के अतिरिक्त जिनधर्म, जिनागम, चैत्य एवं चैत्यालय भी प्रतीक रूप में बने हैं। इसी कारण इसे 'नवदेवता मूर्ति' कहा जाता है। मठ चन्द्रगुप्त-ग्रन्थमाला नामक शास्त्र-भण्डार, अनेक प्राचीन हस्तलिखित भोजपत्रीय और ताडपत्रीय ग्रन्थों के संग्रह के कारण यथेष्ठ प्रसिद्ध है। मठ में अमूल्य नवरत्नमय मूर्तियों का दर्शन भी कराया जाता है।

गोम्मटेश्वर मूर्ति की प्रतिष्ठा के पश्चात् चामुण्डराय ने अपने गुरु नेमिचन्द सिद्धांतचक्रर्ती को अपना आध्यात्मिक परामर्शक निर्धारित किया था। यहाँ के चारुकीर्ति पंडिताचार्य मठाधीश एवं राजगुरु माने जाते थे और अनेक राजवंश उनकी अलौकिक प्रतिभा से उपकृत हुये थे। यहाँ के मठाधीशों की विद्वत्ता तथा आध्यात्मिक-शक्ति प्रदर्शन के अनेक उल्लेख मिलते हैं। 'सिद्धर बसदि' के दायें और बायें स्तम्भों पर उत्कीर्ण विस्तृत लेखों (क्रम संख्या 360 से 364) के अनुसार यहाँ पर आसीन गुरु चारुकीर्ति पंडित को होयसल-नरेश बल्लाल प्रथम (राज्यकाल 1100-1106) को व्याधि-मुक्त कर देने के कारण 'बल्लाल-जीवनरक्षक' की उपाधि से विभूषित किया गया था। पूर्वकाल से ही यहाँ के भट्टारक जप, स्वाध्याय, ध्यान, समाधि एवं मौन अनुष्ठान में रत रहते हुये श्रावकों को धर्मोपदेश देकर आत्मकल्याण के लिये प्रेरित करते रहे हैं।

जैसाकि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है कि दिगम्बर जैनों ने मध्यकाल में अपने निरन्तर धार्मिक एवं सामाजिक विघटन के विरुद्ध भट्टारक-संस्था आरम्भ की थी। व्यवहार में जब दिगम्बर-जैन-श्रमण-परम्परा कमजोर पड़ने लगी, तो भट्टारक दिगम्बर-जैन-सम्प्रदाय के धार्मिक व सामाजिक नेतृत्व के रूप में उभरे थे। भट्टारकों ने दिगम्बर-जैन-समाज की दो धार्मिक श्रेणियों क्रमशः संघ, गण अथवा गच्छ में विभाजित किया। भट्टारक मोटे तौर पर दिगम्बर-जैन-समाज से जुड़े थे; किन्तु इसके साथ एक और दोषपूर्ण व्यवस्था आरम्भ हुई, वह थी दिगम्बर-जैन-विशेष के भट्टारकों की परम्परा। ऐसा दिखाई देता है कि दिगम्बर-जैन-जातियों में

यह आवश्यक नहीं है कि उनके अपने भट्टारक हों। अर्थात् प्रत्येक जैन-जाति के भट्टारक होना अनिवार्य नहीं था। 20वीं सदी में मुख्य तौर पर हुम्मड़ मेवाड़ा, नरसिंहपुरा, खण्डेलवाल, सैतवाल, चतुर्थ, पंचम, बोगरा, उपाध्याय, वैश्य एवं क्षत्रिय जातियों के अपने पृथक्-पृथक् भट्टारक होते थे। जबकि कथानेरा, बूढेला, अग्रवाल, गोलापूर्व, जायसवाल, नैवी एवं हुम्मड़ (महाराष्ट्र के) इत्यादि जातियों में जाति-आधारित भट्टारक व्यवस्था विद्यमान नहीं है।[18] इसके अतिरिक्त परवार, बन्नौर, उकाड़ा एवं बघेरवाली में भट्टारक-व्यवस्था प्रचलित थी; किन्तु अब इसका लोप हो चुका है।

उपरोक्त जातियों में जिनमें भट्टारक-व्यवस्था अब भी प्रचलित है, उनके भट्टारकों की गद्दियाँ निम्नानुसार हैं[19]—

	जाति का नाम	जाति-विशेष के भट्टारकों की गद्दी स्थान
1.	हुम्मड़ मेवाड़ा	सूरत, सोजितरा, कलौल, नरसिंहपुर एवं डूंगरपुर
2.	नरसिंहपुरा	सूरत, सोजितरा एवं केसरिया
3.	खण्डेलवाल	ग्वालियर, सोनागिर, नागौर, अजमेर एवं श्री महावीर जी
4.	सेतवाल	लातूर एवं नागपुर
5.	चतुर्थ	नांदनी, कोल्हापुर, होसुर एवं टेरादाला
6.	पंचम	कोल्हापुर, रायबाग, कोसर एवं हुम्चा
7.	बोगारा	हुम्चा, मैसूर, श्रवणबेलगोला, नरसिंहराजपुरा
8.	उपाध्याय	मूड़बिद्री एवं कारकल
9.	वैश्य एवं	सीतामूड़ा, श्रवणबेलगोला, जिनकांची
10.	क्षत्रिय	नरसिंहराजपुरा।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि भट्टारकों की गद्दियाँ उन स्थानों पर स्थित हैं, जहाँ उनसे सम्बन्धित जाति-विशेष का निवास अधिक है। भट्टारकों का मुख्यकार्य धर्म-रक्षा था। वे यह कार्य अन्य धर्मानुयायियों में जैनधर्म को अधिक व्यावहारिक व प्रभावी बताकर करते थे। अर्थात् वे जैनों के आध्यात्मिक कल्याण से सम्बन्धित रहे। इनके सामाजिक कर्त्तव्यों में जाति-विशेष के हितों की रक्षा सम्मिलित था। वह उनकी सामाजिक मामलों में सलाह देकर अथवा उनके आपसी-विवादों को सुलझाकर अथवा सामाजिक-सम्बन्धों को नियमित कर जैन-ग्रन्थों में निर्धारित व्यवहार व आचरण के नियमों के अनुसार संस्थाओं, रीति-रिवाजों व तरीकों का नियमन भी करते रहे।

भट्टारकों की नियुक्ति का कोई निर्धारित नियम नहीं है। सामान्यत: गुरु-शिष्य-परम्परा द्वारा ही भट्टारकों की नियुक्ति होती है। तथा भट्टारक अपने

जीते-जी अपने शिष्यों में से किसी एक को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर देते हैं। जब पूर्ववर्ती भट्टारक द्वारा अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया जाता है, तो उनके अनुयायी जाति-विशेष के लोग उसे पद सौंप देते हैं। यह प्रथा हुम्मड़, मेवाड़ा, नरसिंहपुरा एवं खण्डेलवाल जातियों में प्रचलित है। भट्टारक की नियुक्ति की एक अन्य व्यवस्था भी है। इस पद्धति के द्वारा उत्तराधिकारी का चयन पूर्ववर्ती भट्टारक के शिष्यों में से अनुयायी जाति के लोगों के द्वारा उत्तराधिकार का चयन किया जाता है। यह कार्य जाति-विशेष के प्रतिनिधियों के द्वारा किया जाता है, जिन्हें 'पंच' कहते हैं। सेतवाल, चतुर्थ, पंचम, उपाध्याय, बोगरा, वैश्य एवं क्षत्रिय जातियों में यह प्रथा आमतौर पर प्रचलित है। 'कर्नाटक' में भट्टारकों की नियुक्ति में सरकार की सहमति आवश्यक होती है, वहाँ जनता के स्थान पर सरकार को भट्टारक-नियुक्ति के मामले में अधिक अधिकार प्राप्त हैं।[20] एक बार भट्टारक के नियुक्त हो जाने के पश्चात् उसे उसके पद से नहीं हटाया जा सकता, चाहे वह अपने कर्त्तव्यों के पालन में असफल हो जाये अथवा अपने पद का दुरुपयोग करे। भट्टारक को पदच्युत करने का मामला कभी सुना नहीं गया। वर्तमान में केवल हुम्मड़, मेवाड़ा जाति यह दावा करती है कि 'वे भट्टारक को हटा भी सकते हैं'; जबकि अन्य जातियाँ इस बात का स्पष्ट उल्लेख करती हैं कि 'वे भट्टारक को नहीं हटा सकते'। इसका सीधा आशय यह हुआ कि भट्टारक को उसके अनुयायी हमेशा सहन करते हैं। भट्टारक को एक मुनि की तरह जीने की आवश्यकता नहीं होती। वैसे वह जीवनभर अनुष्ठान करता है तथा धार्मिक-सिद्धांतों के अनुसार जीवनयापन करता है; किन्तु उसे सम्पत्ति रखने का अधिकार है। सामान्यतः भट्टारक चल और अचल-सम्पत्ति रखते हैं तथा वे उसका उपयोग अपनी इच्छानुसार करते हैं। इनकी सम्पत्ति में अपने अनुयायियों द्वारा दी जाने वाली भेंट व राज्य द्वारा दिये जाने वाले अनुदान सम्मिलित होते हैं।

भट्टारक अपने लोगों के धार्मिक व सामाजिक-कल्याण के कार्य में संलग्न रहते हैं, तो उन्हें अपने सदस्यों के ऊपर अनेक नियंत्रण लगाने के अधिकार भी दिये गये हैं। किन्तु आजकल भट्टारकों की स्थिति में काफी अन्तर आ रहा है। सेतवाल, चतुर्थ, पंचम, बोगरा, वैश्य एवं क्षत्रिय भट्टारक अभी भी अपने अनुयायियों पर निश्चित नियंत्रण रखते हैं। जबकि नरसिंहपुरा जाति के भट्टारकों का कोई नियंत्रण नहीं है, तथा हुम्मड़ मेवाड़ा, खण्डेलवाल एवं उपाध्याय भट्टारक अपना नियंत्रण स्वयं समाप्त कर रहे हैं। इसप्रकार अधिकतर वर्तमान भट्टारक अपनी नियंत्रक-शक्तियों का उपयोग नहीं कर रहे हैं, तथा वे अपने अनुयायियों से अनुदान लेते हैं और उनके दैनिक जीवन में कोई हस्तक्षेप नहीं करते हैं। अब भट्टारकों की सत्ता अत्यधिक क्षीण हो चुकी है, किन्तु अभी भी वे धार्मिक व सामाजिक उत्सवों का संचालन अवश्य करते हैं। ❖❖

सन्दर्भ-विवरणिका

1. डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, राजस्थान के जैन संत : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, श्री महावीर ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1990, पृष्ठ 5.
2. बिलास ए संगवे, पृष्ठ 269.
3. वी. जोहरापुरकर, भट्टारक सम्प्रदाय, सोलापुर, 1958, पृष्ठ 7-17.
4. विलास ए. सांगवे, पृष्ठ 270.
5. नाथूराम प्रेमी, भट्टारक, जैन हितैषी, जिन्दी 7, नं. 7-8, पृष्ठ 59-69, नं. 9, पृष्ठ 13-24, नं. 10-11, पृष्ठ 1-9 एवं जिन्दी 8 नं. 2, पृष्ठ 57-70.
6. डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, राजस्थान के जैन संत : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृष्ठ 7.
7. वही.
8. वही.
9. वही.
10. वी. जोहरापुरकर, भट्टारक सम्प्रदाय, पृष्ठ 112-113.
11. श्रीमत्प्रभाचन्द्रमुनीन्द्रपट्टे शश्चतप्रतिष्ठः प्रतिभागरिष्ठः।
विशुद्धसिद्धान्तरहस्यरत्न-रत्नाकरी नन्दतु पद्मनन्दी।।28।।
गुर्वावली, जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग 1, किरण 4, पृष्ठ 53.
12. चोऊद त्रिताली प्रमाणि पूरइ दिन पुत्र जनमीउ.
13. न्याति माँहि गुहुतवंत हूंवड हरषि वखणिइए। करमसिंह वितपन्न उदयवंत इस जाणीइए।
शोभित तरस अरधांगि, मूलि सरीस्य सुंदरीय। सील स्वयगारित अंगि पेखु प्रत्यक्षे पुरंदरीय।
—सकलकीर्तिरास, जैन सन्देश, शोधांक 16 में उद्धृत.
14. भट्टारक सम्प्रदाय, सोलापुर, लेखांक 265.
15. "इत्यनवद्यगद्यपद्यविद्याविनोदितप्रमोदपीयूषर सपानपविनमतिसभाजरत्नराजमहतिसागरयतिराजजितार्थनसमर्थेन तर्कव्याकरणछन्दोऽलंकारसाहित्यादिशास्त्रनिशितमतिना श्रीमद्देवेन्द्र कीर्तिभट्टारकप्रशिष्येण शिष्येण सकलविद्वज्जनविहितचरणसेवस्य श्री विद्यानन्दिदेवस्य संछदितमिथ्यामतदुर्गरेण श्रुतसागरेण सूरिणा विरचितायां श्लोकवार्तिक-राजवार्तिक-सर्वार्थसिद्धि-न्यायकुमुचन्दोदय-प्रमेयकमलमार्तण्ड-प्रचण्डाष्टसहस्त्रीप्रमुखग्रन्थसन्दर्भविलोकनबुद्धिविराजितायां" —श्रुतसागरीतत्त्वार्थवृत्ति, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण, पृष्ठ 326 पर उद्धृत। तथा —
"तर्क-व्याकरणार्हत-प्रविलसत्सिद्वांतसारामलछंदोलंकृतिपूर्वनव्यकृतधीर्सश्रव्यकाव्योच्चये"
—जैनग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, प्रथम भाग, यशोधर चरितप्रेशस्ति, पृष्ठ 31।
16. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग 13, किरण 2, पृष्ठ 114.
17. प्रमाण-प्रमेयकलिका, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रस्तावना, पृष्ठ 59.
18. विलास ए सांगवे, पु. 318.
19. वही.
20. वही, पृष्ठ 319.

❖❖

खण्ड-चतुर्थ

समसामयिक सन्दर्भों में महावीर-परम्परा

चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर के अनुयायियों की परम्परा आजतक अनवरत-रूप से चली आ रही है। इसकी निरन्तरता में अनेकों महापुरुषों, धर्माचार्यों, मनीषियों एवं समाजसेवियों का अनन्य योगदान रहा है। इसके बहुआयामी-स्वरूप के निर्माण में जैनों की अवान्तर-जातियों ने भी महनीय भूमिका निभायी है। साथ ही विपरीत से विपरीतकाल में भी जैनों ने किसी न किसी की छत्रछाया में जैनत्व की रक्षा और महावीर की परम्परा का संरक्षण जिसप्रकार से किया है, वह अपने आप में एक अनुकरणीय आदर्श है। विगत पच्चीस सौ वर्षों का लेखाजोखा सन् 1974 ईस्वी में भगवान् महावीर के पच्चीस सौवें निर्वाण-महोत्सव का विश्वव्यापी आयोजन कर जैनों ने भली-भाँति ज्ञापित किया था। बीसवीं और इक्कीसवीं शताब्दी में भगवान् महावीर की जैन-परम्परा किन-किन रूपों में चली है और इसने क्या नये क्षितिज आविष्कृत किये हैं — इन सब बातों के लिये हमें व्यापकरूप से विचार करना होगा। चूँकि मूलत: भगवान् महावीर की परम्परा निर्ग्रन्थत्व की थी और सम्पूर्ण भारतीय-वाङ्मय के आलोक में विद्वानों ने यह सिद्ध किया है कि इस 'निर्ग्रन्थ' शब्द का मूल-अर्थ पूर्णत: अपरिग्रही-दिगम्बर-श्रमण ही होते हैं।[1] इसी कारण से यहाँ पर दिगम्बरत्व को ही भगवान् महावीर की मूल-परम्परा मानते हुये उसी का समसामयिक-संदर्भों में विशेष-विवरण दिया जा रहा है।

दिगम्बर जैनों का सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन

जैनधर्म की भांति जैन-समाज भी अनेक उतार-चढ़ावों से गुजरा है; अनेक बार जैनेतरों को यह भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि जैन कोई जातिमात्र है। जबकि वास्तविकता यह है कि जैन मूलत: एक धर्म है। प्रारम्भ में विस्तारपूर्वक बताया गया है कि जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने जैनधर्म के अनुयायियों को तीन वर्णों में विभाजित किया था एवं तत्पश्चात् चक्रवर्ती भरत ने चार वर्णों की अवधारणा को स्वीकृति प्रदान कर दी थी। वैदिक वर्ण-व्यवस्था ने ही कालान्तर में जाति-प्रथा का रूप धारण कर लिया था। चूँकि जैनधर्म ने प्रारम्भ से ही वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार किया था, तो स्वाभाविक है कि जैनधर्म के अनुयायी अनेक जातियों में बँटे हुये हैं। जैन-धर्मानुयायियों के आचार-विचार में शुद्धता बनाये रखने के ध्येय से समाज का चार वर्गों में वर्गीकरण किया गया था। जैनधर्म के अतिरिक्त सिक्ख, मुस्लिम एवं ईसाइयों तक में जाति-प्रथा पाई जाती है।

जैनधर्म में भी जाति-प्रथा का प्रचलन कई रूपों में है। जैन-जातियों में आपसी खानपान व वैवाहिक-सम्बन्धों का निर्धारण जैन-समाज में मौजूद जातीय-आधारों पर होता है। जातीय-आधारों पर दिगम्बर-जैनों में भारी बिखराव है. किन्तु धार्मिक-सूत्र ने उन्हें एकताबद्ध रखा है। जाति और सम्प्रदाय केवल सामाजिक मुद्दे ही नहीं हैं, बल्कि ये सांस्कृतिक व दार्शनिक मुद्दे भी हैं। जैसा कि कहा जा चुका है कि जैन-सम्प्रदाय दो प्रमुख समुदायों, क्रमशः 'दिगम्बर' व 'श्वेताम्बर' में विभाजित है। किन्तु दिगम्बर-जैन-समाज पुनः दो प्रमुख सम्प्रदायों क्रमशः 'बीसपंथी' व 'तेरापंथी' में बँटा हुआ है। जैन-सम्प्रदाय के अनुयायियों में संघभेद भी व्याप्त है। संघभेद से अधिक व्यापक जाति-प्रथा जैन-समुदाय में अधिक महत्त्व रखती है; किन्तु जाति-प्रथा के बारे में यह माना जाता है कि साधु-सन्यासियों के संघ, गण एवं गच्छों में विभाजन से समस्त जैन-समाज भी जातियों एवं उपजातियों में विभाजित हो गया।

दिगम्बर-जैन-जातियाँ

दिगम्बर जैन-समाज में जाति-प्रथा की उत्पत्ति के दो प्रमुख कारण उभरकर सामने आते हैं। प्रथम एवं प्रमुख कारण वैदिक-परम्परा में प्रचलित वर्ण एवं जाति-प्रथा को ही माना जायेगा। दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण जैन-समाज का अनेक संघों, उपसंघों, सम्प्रदायों, उपसम्प्रदायों इत्यादि में विभाजित होना है। दिगम्बर जैन-जातियों के नामों से यह भी आभास होता है कि इनकी अनेक जातियाँ व्यवसाय, प्रदेश, स्थान इत्यादि के नाम पर भी उत्पन्न हुई हैं। यद्यपि भगवान् महावीर के समय जाति-प्रथा ने अधिक जोर नहीं पकड़ा था; लेकिन उनके निर्वाण के कुछ वर्षों पश्चात् ही सैकड़ों जैन-जातियों की उत्पत्ति दिखाई देती है। इसलिये सम्यग्दर्शन के परिपालन में 'जातिमद' को भी अवरोधक माना गया है। 'आदिपुराण' के रचयिता आचार्य जिनसेन ने **"मनुष्यजाति एकैव"** कहकर जातियों के महत्त्व को कम करना चाहा और समस्त मानव-जाति को एक ही समान माना है।

महावीर स्वामी के पश्चात् होने वाले गणधरों, केवलियों, आचार्यों एवं भट्टारकों की अनेक पट्टावलियाँ मिलती हैं, जिनमें आचार्यों एवं भट्टारकों के नाम के साथ उनकी जातियों का उल्लेख मिलता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जैन-सम्प्रदाय में जाति-प्रथा का प्रचलन महावीर स्वामी के निर्वाण के पश्चात् ही आरम्भ हो गया था। जैसाकि पूर्व में उल्लेख किया गया है कि जैन-जातियों के उद्गम के तीन प्रमुख कारण रहे हैं — 1. वैदिक-प्रभाव, 2. विभिन्न जैन-समूहों व सम्प्रदायों का उदय, 3. स्थान-विशेष व व्यवसाय-आधारित-जाति आदि प्रमुख

रहे हैं। जैन-समुदाय में जाति-प्रथा अब पूर्णत: जन्म-आधारित है; किन्तु इसका उदय विभिन्न कारणों से हुआ।

जैन-जातियाँ नाम-भर की ही जातियाँ नहीं है, बल्कि इनका आज भी भारी सामाजिक व सांस्कृतिक महत्त्व है। अनेक सामाजिक मसले इनकी जातीय-पंचायतों द्वारा निर्धारित होते हैं। किसी भी सामाजिक अपराधी को दण्डित करने का कार्य जैनों की जातीय-पंचायतें करती हैं। दिगम्बर जैन-समुदाय भारी संख्या में जातियों में बँटा हुआ है तथा इसकी प्रत्येक जाति की अपनी अलग पंचायत है, जो अपनी जाति के लोगों के जीवन को नियमित करती है।[2] विभिन्न जातियों के नैतिक स्तरों में भी भारी भिन्नता व्याप्त है। उदाहरण के लिये उत्तर-भारत की अधिकांश जैन-जातियाँ विधवा-विवाह की आज्ञा नहीं देतीं, जबकि दक्षिण की जातियों में विधवा-विवाह आमतौर पर प्रचलित है। इतना ही नहीं, बल्कि प्रत्येक जाति में जन्म, विवाह एवं मृत्यु-सम्बन्धी आयोजनों में भी जातीय-आधारित भिन्नता है। श्रीमाली, अग्रवाल, परवार, सेतवाल एवं अन्य जातियाँ रीति-रिवाजों में भारी भिन्नता लिये हुये हैं। इनमें अपनी-अपनी जाति को सर्वोच्च मानने का मिथ्या अभिमान भी दिखाई देता है। अनेक जैन-जातियाँ जाति तक ही सीमित नहीं हैं, बल्कि उस जाति के अन्दर भी बीसा, दस्सा आदि भेद भी व्याप्त हैं। दिगम्बर जैनों के 'तेरापंथ-समुदाय' की 6 जातियों में 'चारणगारे जाति' को अत्यधिक सम्मानजनक माना जाता है; क्योंकि इस जाति में अनेक धार्मिक विभूतियाँ व विद्वान् हस्तियाँ पैदा हुई हैं।[3] इसीप्रकार हैदराबाद स्टेट के पूर्व निजाम के राज्य-क्षेत्र में 'पोरवाड़ों' की तुलना में 'सरावगियों' का अधिक सम्मान होता था तथा उन्हें सबसे ऊँचा माना जाता था।[4] कर्नाटक के 'उत्तरी कनारा' जिले में जैनों के तीन विभाजन हैं, जिनमें क्रमश: चतुर्थ, तगारा-बोगरा एवं पुजारी शामिल हैं।[5] यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि अधिकांश जैन अपने आपको वैश्य-समुदाय (वणिक् या व्यापारी) का मानते हैं।

शूद्रों को वैदिक-परम्परा में अत्यधिक निम्न-स्थान प्राप्त था; जिन्हें धार्मिक ग्रन्थ पढ़ने का अधिकार नहीं था। मन्दिर-प्रवेश पर भी रोक थी, इसलिये हर वर्ग के लोग जैनधर्म की ओर आकर्षित हुये। जैन-सम्प्रदाय में ब्राह्मणों का भी महत्त्व नहीं है। जैनों में ब्राह्मणों के स्थान पर क्षत्रियों को प्रमुख स्थान प्राप्त है। ऐसा देखने को मिलता है कि जैनों की अनेक जातियों के नाम उनके उद्गम-स्थान के नाम पर है। उदाहरणार्थ श्रीमाल (वर्तमान भीनमाल) से श्रीमाली, ओसियाँ से ओसवाल, अग्रोहा से अग्रवाल, बघेरा से बघेरवाल, चित्तौड़ से चित्तौड़ा, खण्डेला से खण्डेलवाल इत्यादि।

दिगम्बर जैन-समाज भी विभिन्न जातियों में विभाजित है। मात्र जैन कोई नहीं है। इनकी पहचान किसी न किसी जाति में समाहित हुये बिना नहीं है। दिगम्बर जैन-जातियों की संख्या निश्चित नहीं है। वैसे अधिकांश जैन-विद्वान् 84 जातियों के नाम गिनाते हैं। 84 की संख्या उत्तरी भारत में बहुत प्रचलित है; इसलिये 84 जातियों का उल्लेख आता है।

विभिन्न शताब्दियों में होने वाले विद्वानों ने भी जो जातियों का विवरण लिखा है, उसमें समानता नहीं है। 15 वीं शताब्दी के विद्वान् ब्रह्म जिनदास ने सर्वप्रथम 84 जातियों के नाम गिनाये हैं, लेकिन उसके पश्चात् होने वाले कवियों द्वारा प्रतिपादित जातियों का विवरण ब्रह्म जिनदास से नहीं मिलता है। आठवीं शताब्दी के कवि बख्तराम साह ने लिखा है कि "उन्होंने 5-7 पोथियों को देखकर इन जातियों के बारे में लिखा है।" उनके युग में कितनी जातियाँ मिलती थीं — इस बारे में वह मौन हैं। सन् 1941 में जातियों की जनगणना की गई थी, तब 84 के स्थान पर केवल 70 जातियों की जानकारी दी गई। उस समय देश में 70 जैन-जातियों की जनसंख्या निम्नप्रकार थी[6]—

क्र.सं.	जाति-नाम	जनसंख्या	क्र.सं.	जाति-नाम	जनसंख्या
1.	खण्डेलवाल	64729	2.	जैसवाल	11089
3.	अग्रवाल	67121	4.	परवार	54873
5.	पल्लीवाल	4272	6.	गोलालारे	5582
7.	विनैक्या	3685	8.	ओसवाल (दि.)	747
9.	बरैया	1584	10.	गंगेरवाल	772
11.	दिगम्बर जैन	1167	12.	पोलवा	115
13.	बुढेले	566	14.	लोहिया	602
15.	गोलसिघारे	529	16.	खरौवा	1750
17.	लमेचू	1977	18.	गोलापूर्व	10834
19.	चरनागरे	1987	20.	धाकेड़	1272
21.	कठनेरा	699	22.	पोरवाड़	2581
23.	कासार	9987	24.	बघेरवाल	4324
25.	अयोध्यावासी	592	26.	काम्भोज	705
27.	समैया	1107	28.	असाटी	467
29.	हूंबड (दस्साबीसा)	20634	30.	पंचम	32556
31.	चतुर्थ	69285	32.	बदनेरे	501

क्र.सं.	जाति-नाम	जनसंख्या	क्र.सं.	जाति-नाम	जनसंख्या
33.	नेमा	263	34.	भवसागर	80
35.	नरसिंहपुरा (दस्साबीसा)	7065	36.	सेतवाल	20869
37.	मेवाडा	2160	38.	नागदा	3551
39.	चित्तौड़ा (दस्साबीसा)	857	40.	श्रीमाल	780
41.	सेलवार	433	42.	श्रावक	8467
43.	सादर (जैन)	11241	44.	बोगार	2431
45.	जैन दिगम्बर	9772	46.	हरदर	236
47.	उपाध्याय	1218	48.	ब्राह्मण जैन	704
49.	खुरसाले	240			

20 अन्य जातियों की जनसंख्या 100 से कम है और सब मिलाकर 726 हैं।

इनमें से कुछ प्रमुख जैन जातियों का परिचय निम्नप्रकार है —

1. खण्डेलवाल

खण्डेलवाल जैन-समाज राजस्थान, मालवा, आसाम, बिहार, बंगाल, नागालैण्ड, मणिपुर, उत्तरप्रदेश के कुछ जिलों में एवं महाराष्ट्र में बहुसंख्यक-समाज रहा है और आज भी मुम्बई, कोलकाता, जयपुर, इन्दौर, अजमेर जैसे नगर ऐसे केन्द्र माने जाते हैं, जहाँ खण्डेलवाल जैन-समाज बहुसंख्यक समाज है। इस समाज में अनेक आचार्य, मुनि, भट्टारक, क्षुल्लक, ब्रह्मचारी हुये, जिन्होंने देश एवं समाज को प्रभावशाली मार्गदर्शन दिया। सैकड़ों-हजारों मन्दिरों के निर्माणकर्त्ता, प्रतिष्ठा-कारक, मूर्ति-प्रतिष्ठा करानेवालों को उत्पन्न करने का श्रेय इसी समाज को है। इस समाज में पचासों दीवान अथवा प्रमुख राज्य-संचालक उच्च-पदस्थ-राज्याधिकारी हुये, जिन्होंने सैकड़ों वर्षों तक जयपुर-राज्य की अभूतपूर्व सेवा की एवं युद्धभूमि में विजय प्राप्त की। राजस्थान के सैकड़ों मन्दिर इसी समाज के द्वारा निर्मित हैं। अकेले जयपुर नगर में 200 से अधिक मन्दिरों का निर्माण इस समाज की धार्मिक निष्ठा का प्रतीक है। सांगानेर, मोजमाबाद, टोडारायसिंह, लाडनूं, सुजानगढ़, सीकर में इस समाज के लोगों द्वारा निर्मित मन्दिरों के उन्नत शिखरों की शोभा देखते ही बनती है।

इस समाज की धार्मिक-आस्था तथा व्रत-उपवास, पूजा एवं भक्ति आदि कार्यों में रुचि से सारा दिगम्बर जैन-समाज अनुप्राणित है। उसके प्रत्येक रीति-रिवाजों में श्रमण-संस्कृति की झलक दिखाई देती है, तथा उसका प्रत्येक सदस्य जैनधर्म के प्रतिनिधि के रूप में अपने आपको प्रस्तुत करता है। सारे देश में फैले हुये खण्डेलवाल-जैन संख्या की दृष्टि से भी उल्लेखनीय है, जो दस लाख के करीब है, अर्थात् पूरे दिगम्बर जैन-समाज का लगभग पांचवाँ हिस्सा है।

'खण्डेलवाल' जाति का नामकरण 'खण्डेला' नगर के कारण हुआ। 'खण्डेला' नगर राजस्थान के 'सीकर' जिले में स्थित है, जो सीकर से 45 कि.मी. दूर है। खण्डेला के इतिहास की अभी पूरी खोज नहीं हो सकी है, लेकिन श्रीहर्ष की पहाड़ी पर जो जैन-अवशेष मिलते हैं, उससे पता चलता है कि शैव-पाशुपतों का केन्द्र बनने के पहले यह 'खण्डेला' नगर जैनों का प्रमुखकेन्द्र था। इसका पुराना नाम 'खंडिल्लकपत्तन' अथवा 'खण्डेलगिरि' था। भगवान् महावीर के 10वें गणधर 'मेदार्य' ने 'खण्डिल्लकपत्तन' में आकर कठोर तपस्या की थी — ऐसा उल्लेख आचार्य जयसेन ने अपने ग्रन्थ 'धर्मरत्नाकर' की प्रशस्ति में किया है। आचार्य जयसेन 11वीं शताब्दी के महान् सन्त अमृतचन्द्र एवं सोमदेव के बाद के आचार्य थे।

श्री वर्धमाननाथस्य मेदार्यो दशमोऽजनि।
गणभृद्दशधा धर्मो यो मूर्तो वा व्यवस्थितः॥
मेदार्येण महर्षिभिर्विहरता तेपे तपो दुश्चरं।
श्री खडिल्लकपत्तनान्ते करणाभ्यद्धिप्रभावात्तदा॥

खण्डेला का इतिहास

'खण्डेला' का राजनैतिक इतिहास अधिकांशरूप में तो अन्धकारपूर्ण है। प्रारम्भ में यहाँ चौहान-राजाओं का राज्य रहा। 'हम्मीर' महाकाव्य में भी 'खण्डेला' का नामोल्लेख हुआ है। महाराणा कुम्भा ने भी 'खण्डेला' पर अपनी विशाल सेना को लेकर आक्रमण किया था तथा नगर की खूब लूट-खसोट की थी। सन् 1467 में यहाँ उदयकरण का शासन था, ऐसा 'वर्धमान-चरित' की प्रशस्ति में उल्लेख मिलता है।

रायसल 'खण्डेला' के प्रसिद्ध शासक रहे तथा जो अपने मन्त्री देवीदास के परामर्श से मुगल-सेना में भर्ती हुये और अपनी वीरता एवं स्वामिभक्ति के सहारे मुगल बादशाह अकबर के कृपा-पात्र बन गये और 'खण्डेला' एवं अन्य नगरों की जागीरी प्राप्त की। वे बराबर आगे बढ़ते रहे। रायसल जी के समय में ही 'खण्डेला' चौहानों के हाथों में से निकलकर शेखावतों के हाथों में आया।

भादवा सुदी 13 रविवार, विक्रम-संवत् 101 के शुभदिन खण्डेला में विशेष दरबार लगाया गया। सभी सामन्तों एवं दरबारियों को आमन्त्रित किया गया। आचार्यश्री जिनसेन अपने संघ के कुछ साधुओं के साथ दरबार-हाल में गये। सारा दरबार-हाल 'भगवान् महावीर की जय, आचार्य जिनसेन की जय' के नारों से गूँजने लगा। महाराजा खण्डेलगिरि को उनके परिवार के साथ जैनधर्म में दीक्षित किया गया तथा अहिंसाधर्म का कट्टरता से पालन करने का नियम दिलाया गया। महाराजा खण्डेलगिरि के साथ 13 अन्य चौहान परिवारवाले सामन्तगणों को भी जैनधर्म में दीक्षित किया गया। (1) महाराजा खण्डेलगिरि, (2) राजा श्री भावस्यंध जी,

(3) राजा श्री पूरणचन्द जी, (4) राजा श्री योमसिंह जी, (5) राजा श्री अजबसिंह जी, (6) राजा श्री अभैराम जी, (7) राजा श्री नरोत्तम जी, (8) राजा श्री झांझाराम जी, (9) राजा श्री जसोरामजी, (10) राजा दमतारि जी, (11) राजा श्री भूधरमल जी, (12) राजा श्री रामसिंह जी, (13) राजा श्री दुरजन सिंह जी, (14) राजा श्री साहिमल जी। ये सब महाराज खण्डेलगिरि के परिवार के होने के कारण इन्हें भी 'राजा' की उपाधि प्राप्त थी। इन सबको जैनधर्म में एकसाथ दीक्षित किया गया।

2. अग्रवाल[7]

उत्तर भारत में 'अग्रवाल' जैन-जाति अत्यधिक प्रसिद्ध, समृद्ध एवं विशाल संख्यावाली जाति मानी जाती है। हरियाणा, राजस्थान, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, देहली जैसे प्रदेश अग्रवाल-दिगम्बर-जैनों के प्रमुख केन्द्र है।। जैनधर्म, साहित्य एवं संस्कृति के विकास में अग्रवाल-जैनों का प्रमुख योगदान रहा है। अग्रवाल-जाति जैन एवं — वैष्णव दोनों में बंटी हुई है, तथा उन दोनों में सामाजिक सम्बन्ध भी प्रगाढ़ बने हुये हैं। लेकिन अग्रवाल जैन-समाज धर्म और संस्कृति के परिपालन में अन्य किसी जैन-जाति से पीछे नहीं हैं। मन्दिर-निर्माण करवाने, साहित्य को संरक्षण देने, साधु-जीवन अपनाने अथवा उनकी सेवा-सुश्रूषा में, तीर्थों की रक्षा जैसे कार्यों में वे सदैव आगे रहे हैं।

अग्रवाल-जाति की उत्पत्ति 'अग्रोहा' से मानी जाती है। 14वीं शताब्दी में होने वाले 'सधारू कवि' ने उक्त मन्तव्य का ही समर्थन किया है। अग्रोहा 'हरियाणा' प्रदेश के 'हिसार' प्रान्त में स्थित है। प्राचीनकाल में यह एक ऐतिहासिक नगर था। सन् 1939-40 में जब यहाँ के एक टीले की खुदाई हुई, तो उसमें तांबे के सिक्कों पर अंकित कर्ण, गज, वृषभ, मीन, सिंह, चैत्यवृक्ष आदि के जो चिह्न प्राप्त हुये हैं, उनको जैन-मान्यता की ओर स्पष्ट संकेत माना जाता है। सिक्कों के पीछे ब्राह्मी-लिपि अक्षरों में **'अगोदके अगद-जनपदस'** अंकित है, जिसका अर्थ 'अग्रोदक' में 'अग्रद' जनपद का सिक्का होता है। अग्रोहे का नाम 'अग्रोदक' भी रहा है। 'एपिग्राफिका इंडिया, जिल्द 2, पृष्ठ 244' और 'इंडियन एन्टीक्वेरी, भाग 15, पृष्ट 343' पर अग्रोहक-वैश्यों का वर्णन किया हुआ है। जनश्रुति के अनुसार 'अग्रोहा' में 'अग्रसेन राजा' राज्य करता था। इसी से 'अग्रवाल' जाति का उद्भव हुआ, लेकिन इसके अभी तक कोई पोषक प्रमाण नहीं मिल सके हैं। कविवर बुलाखीचन्द ने अग्रवाल-जाति की उत्पत्ति ऋषि द्वारा मानी है[8], तथा लोहाचार्य द्वारा अग्रवालों को जैनधर्म में दीक्षित करना माना है। अग्रवालों के 18 गोत्र रहे हैं, जिनके नाम इसप्रकार हैं — गर्ग, गोयल, सिंघल, मुंगिल, तायल, तरल, कंसल, बछिल, एन, ढालण, चिन्तल, मित्तल, जिंदल, किंघल, हरहरा, कछिल, पुखन्या एवं बंसल।

भट्टारक-पट्टावली के अनुसार वि.सं. 565 में मुनि रत्नकीर्ति हुये, जो अग्रवाल-जाति के थे। देहली के तोमरवंशीय शासक अनंगपाल के शासनकाल में रचित 'पासणाहचरिउ' के अनुसार कवि श्रीधर स्वयं अग्रवाल-जैन थे तथा अपने लिये 'अयरवाल-कुलसंभवेन' लिखा है। 'पासणाहचरिउ' को लिखानेवाले नट्टलसाहु भी जैन-अग्रवाल थे। अलीगढ़ के निवासी साहू पारस के पुत्र टोडर अग्रवाल ने मथुरा में 514 स्तूपों का निर्माण करवाकर प्रतिष्ठा करवाई थी। साहू पांडे राजमल्ल ने विक्रम-संवत् 1642 में 'जम्बूस्वामी चरित्र' निर्माण किया था। अपभ्रंश के महान् कवि रइधू के आश्रयदाता एवं ग्रंथ-रचनानिमित्त अधिकांश अग्रवाल-श्रावक थे। 'आदित्यवार-कथा' के रचयिता भाउ कवि भी अग्रवाल जैन थे। राजस्थान के जैन-ग्रंथ-भण्डरों में अग्रवाल-श्रावकों द्वारा लिखवाई हुई हजारों पाण्डुलिपियाँ संग्रहित हैं।

मन्दिरों एवं मूर्तियों के निर्माण में भी अग्रवाल जैन-समाज का महत्त्वपूर्ण योगदान है। ग्वालियर किले की अनेक सुन्दर मूर्तियों का निर्माण अग्रवाल-जैनों ने कराया था। दिल्ली के राजा हरसुखराय सुगनचन्द ने दिल्ली में अनेक जिन-मन्दिरों का निर्माण कराया था। इसप्रकार अग्रवाल ज़ैन-समाज दिगम्बर जैन-समाज का प्रमुख अंग है, जो वर्तमान में देश के प्रत्येक भाग में बसा हुआ है। देश में अग्रवाल-जैन-समाज की 10 लाख से अधिक संख्या मानी जाती है।[9]

3. परवार

दिगम्बर-जैन-परवार-समाज का प्रमुख केन्द्र बुन्देलखण्ड क्षेत्र के सागर, जबलपुर, ललितपुर आदि जिले माने जाते हैं। इस समाज के श्रावक एवं श्राविकायें धर्मनिष्ठ, आचार-व्यवहार में दृढ़ देखी जाती हैं, तथा ये प्राचीन परम्पराओं के अनुयायी हैं। परवार-जाति का उल्लेख 'पौरपट्टान्वय' के रूप में मूर्तिलेखों एवं प्रशस्तियों में मिलता है। लेकिन इस जाति के उत्पत्ति-स्थान के सम्बन्ध में अभी तक कोई निश्चित ग्राम, नगर का नाम नहीं मिला। पट्टावलियों में परवार-जाति का उल्लेख विक्रम-संवत् 26 से मिलता है; और मुनि गुप्तिगुप्त इस जाति में उत्पन्न हुये थे, ऐसा भी उल्लेख उक्त पट्टावली में मिलता है। इसके पश्चात् सं. 765 में होने वाले पट्टाधीश एवं सं. 1256, 1264 में होने वाले आचार्य भी परवार-जाति में उत्पन्न हुये — ऐसा उल्लेख मिलता है।[10]

पं. फूलचन्द शास्त्री के मतानुसार परवार-जाति को प्राचीनकाल में 'प्रग्वाट' नाम से अभिहित किया जाता रहा है। लेकिन ब्रह्म जिनदास ने चौरासी जाति जयमाल में 'पोरवाड़' शब्द से 'परवार' जाति का उल्लेख किया है। अपभ्रंश-ग्रंथों में 'परवार' को 'परवाड़ा' शब्द से अभिहित किया गया है। महाकवि धनपाल का 'बाहुबलि-

चरिउ', रइधू कवि का 'श्रीपाल-सिद्धचक्र-चरिउ', आचार्य श्रुतकीर्ति का 'हरिवंशपुराण' एवं पं. श्रीधर का 'सुकुमालचरिउ' की ग्रंथ-प्रशस्तियों में 'पुरवाड' शब्द का ही प्रयोग किया गया है। लेकिन श्रावकों की 72 जातियों वाली एक पाण्डुलिपि में इष्टसखा पोरवाड, दुसखा पोरवाड, चोसखा पोरवाड, जागडा पोरवाड, पद्मावती परवार, सोरठिया पोरवाड नामों के साथ 'परवार' नाम को भी गिनाया है। ऐसा लगता है कि परवार-जाति, भेद एवं प्रभेदों में इतनी बँट गई थी, कि इनमें परस्पर में रोटी-व्यवहार एवं बेटी-व्यहार भी बन्द हो गया था। चौसखा-समाज वर्तमान में 'तारणपंथी समाज' के नाम से जाना जाता है। कविवर बख्तराम साह ने अपने 'बुद्धि-विलास' में परवार-जाति के सात खापों का उल्लेख किया है।

'पौरपट्ट अन्वय' में जो 12 गोत्र सुप्रसिद्ध हैं, उनके नाम निम्नप्रकार हैं — गोइल्ल, वाछल्ल, इयाडिम्म, बाझल्ल, कासिल्ल, कोइल्ल, लोइच्छ, कोछल्ल, भारिल्ल, माडिल्ल, गोहिल्ल और फागुल्ल। प्रत्येक गोत्र के अन्तर्गत 12-12 मूल गिनाये गये हैं, जो सम्भवतः ग्रामों के नाम पर बने हुये हैं।

परवार-जाति में अनेक विद्वान् एवं भट्टारक हुये हैं। संवत् 1371 में कवि देल्ह ने 'चौबीसी गीत' लिखा था। कवि का जन्म परवार-जाति में हुआ था। 13वीं शताब्दी में पोरपट्टान्वयी महिचन्द साधु की प्रेरणा से महान् पं. आशाधर ने 'सागर धर्मामृत' ग्रंथ एवं उसकी टीका लिखी थी।

इस जाति के बारे में विस्तृत-लेखन की आवश्यकता है। देश में परवार-जाति मुख्यतः बुन्देलखण्ड क्षेत्र में मिलती है। जबलपुर, सागर, ललितपुर, कटनी, सिवनी आदि नगरों में बहुसंख्या में मिलते हैं। सारे देश में परवार-जाति की संख्या 5-6 लाख से अधिक होगी।

3. बघेरवाल[11]

'बघेरवाल-जाति' राजस्थान की एक प्रमुख दिगम्बर-जैन-जाति है। प्रदेश के कोटा, बूंदी एवं टोंक जिले बघेरवाल-समाज के प्रमुख केन्द्र हैं। राजस्थान के अतिरिक्त महाराष्ट्र में भी बघेरवाल-जाति अच्छी संख्या में मिलती है। बघेरवाल-जाति की उत्पत्ति विक्रम-संवत् 101 में टोंक जिले के 'बघेरा' गाँव से मानी जाती है। कृष्णदत्त के विक्रम-संवत् 1746 में रचित 'बघेरवालरास' में उक्त मत की पुष्टि की गई है—

"आदि बघेरे अपनों निश्चल उत्पत्ति नाम।
बडकुल जस तिण वर्णाये, बघेरवाल वरियाम॥"

'बघेरा' राजस्थान में 'केकड़ी' से लगभग 16 कि.मी. दूरी पर स्थित है। वर्तमान में वहाँ बघेरवालों का एक भी परिवार नहीं रहता, लेकिन बघेरवाल बन्धु

अपनी पैतृक-भूमि के दर्शन करने जब कभी अवश्य आते रहते हैं। यहाँ दो दिगम्बर जैन-मन्दिर हैं, जिनमें शांतिनाथ स्वामी के मन्दिर में 11वीं से 13वीं शताब्दी की अनेक जिन-प्रतिमायें हैं, जिनमें शांतिनाथ भगवान् की मूर्ति अत्यधिक मनोहर, प्राचीन एवं कलापूर्ण है। यहाँ खुदाई में अनेक मूर्तियाँ प्राप्त होती रहती हैं, जिससे पता चलता है कि 'बघेरा' कभी वैभवशाली विशाल नगर था; तब दिगम्बर-जैन-समाज यहाँ अच्छी संख्या में रहता था। शांतिनाथ स्वामी का मन्दिर अतिशयक्षेत्र के रूप में विख्यात है, जिसके दर्शनार्थ जैन, अजैन सभी आते हैं। शांतिनाथ स्वामी की प्रतिमा लगभग 9 फीट ऊँची है, जो भूगर्भ से प्राप्त हुई थी। इसके लेख से पता चलता है कि संवत् 1254 में इसकी प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई थी। इस मन्दिर के निर्माण का 'बिजौलिया' के शिलालेख में उल्लेख आता है कि 'प्राग्वाट वंश' के 'वैश्रवण श्रेष्ठि' ने 'व्याधरेक' आदि स्थानों में मन्दिरों का निर्माण करवाया था। यह शिलालेख विक्रम-संवत् 1226 का है। शिलालेख के अनुसार वैश्रवण श्रेष्ठि कोणार्क से 8 पीढ़ी पूर्व हुआ था। यदि 35 वर्ष की एक पीढ़ी मानी जाये, तो वैश्रवण श्रेष्ठ 10वीं शताब्दी में होना चाहिये और उसी समय 'बघेरा' में मन्दिर का निर्माण होना चाहिये। 'बघेरा' ग्राम में जितनी भी मूर्तियाँ निकली हैं, वे सभी 12वीं शताब्दी की हैं।

बघेरवाल जाति के 52 गोत्र माने गये हैं, जिनका वर्णन भी उक्त रास में किया गया है—

बावन गोत उद्योतवर, अवनि हुआ अवतार।
विवधि तास जस बिस्तरो, ए करणी अधिकारी।।

इन गोत्रों के नाम इसप्रकार हैं — खंडवड, लांबाबांस, खासूव्या, धानोत्या समधरा, बाईं, सीघडतोड, कागट्या, हरसोरा, साहुला, कोरिया, भंडर्या, कटारया, बनावड़या, ठोल्या, पगास्या, बोरखंड्या, दीवाड्या, बंडमूडी, तातहडसया, मंडाया, बदलचढ़, पोतल्या, दरोग्या, भूरया, दहलोद्द, निठरगीवाल, मथुरया, गुहीवाल, साखूण्या, सरवाड्या, पापल्या, डूंगरवाल, ठग, वहसि, सेडिया, चमारया, सांभरया, सुरलक्या, घोटापा, सोलौरया, गद्द, वेतग्या, खरड्या।

बघेरवालों के ठोल्या, साखूण्या, पीतल्या, निगोत्या, पापल्या, कटार्या जैसे गोत्र खण्डेलवाल-जैनों के गोत्रों से मिलते-जुलते हैं।

इन गोत्रों में 25 गोत्र 'काष्ठासंघ' के एवं शेष 27 गोत्र 'मूलसंघी' माने जाते हैं। चित्तौड़-किले पर स्थित जैन-कीर्तिस्तम्भ 'साह जोजा' द्वारा बनवाया गया था। ये 'बघेरवाल' जाति के श्रावक थे। नैनवा, कोटा, बूंदी में बघेरवालों के विशाल मन्दिर बने हुये हैं। चांदखेड़ी क्षेत्र की स्थापना, मन्दिर का निर्माण तथा विक्रम-संवत् 1746 में विशाल पंचकल्याणक-प्रतिष्ठा-महोत्सव किशनदास-बघेरवाल द्वारा कराया गया

था। महापण्डित 'आशाधर' बघेरवाल-जाति के भूषण थे।[12] देश में बघेरवालों की संख्या एक लाख से ऊपर गिनी जाती है।

5. जैसवाल

17वीं शताब्दी के 'कवि बुलाखीचन्द' जैसवाल-जाति के थे। उन्होंने अपने 'वचनकोश' (संवत् 1737) में जैसवाल-जाति की उत्पत्ति 'जैसलमेर नगर' से मानी है।[13] यह जाति भगवान् महावीर के उपदेश से जैनधर्म में दीक्षित हुई। जैसवाल दो उपजातियों में विभक्त है — एक 'तिरोतिया' एवं दूसरा 'उपरोतिया'। 'उपरोतिया' जैसवाल 'काष्ठासंघी' एवं 'तिरोतिया मूलसंघी' जैन-धर्मावलम्बी हैं। 'उपरोतिया' शाखा के 36 गोत्र एवं 'तिरोतिया' शाखा के 46 गोत्र हैं। जैसवाल 'इक्ष्वाकु-कुल' के क्षत्रिय थे, जो वैश्य-कुल में परिवर्तित हो गये थे।

'जैसवाल-जाति' में अनेक राजा, राजश्रेष्ठ, महामात्य और राजमान्य महापुरुष हो गये हैं विक्रम-संवत् 1190 में जैसवाल-वंशी साहू नेमिचन्द्र ने कवि श्रीधर से 'वर्धमान-चरित' की रचना कराई थी। जैसवाल-जाति के कवि माणिक्यराज ने 'अमरसेन-चरित' एवं 'नागकुमार-चरित' की रचना की थी। तोमरवंशी राजा बीरमदेव के महामात्य जैसवाल कुशराज ने 'ग्वालियर' (म.प्र.) में चन्द्रप्रभु भगवान् का मन्दिर बनवाया था तथा संवत् 1475 में एक-यंत्र की प्रतिष्ठा करवाई थी, जो आजकल 'नरवर' के मन्दिर में विराजमान हैं। जैसवाल-कुलोत्पन्न कविवर लक्ष्मणदेव ने विक्रम-संवत् 1275 में 'जिणयत्त-चरिउ' नामक अपभ्रंश-ग्रंथ की रचना की थी। विक्रम-संवत् 1752 में जैसवाल-कुलोत्पन्न देल्ह कवि ने 'जिनदत्त-चरित' की रचना समाप्त की थी।[14]जैसवाल-जैन-समाज के आगरा, ग्वालियर, फिरोजाबाद, झालावाड़ आदि नगर प्रमुख-केन्द्र माने जाते हैं। देश में जैसवाल-जैन-समाज की संख्या एक लाख से अधिक होगी। जैसवाल-जैन-समाज का विस्तृत इतिहास 31 मार्च, 1988 को श्री रणजीत जैन एडवोकेट ने लिखकर प्रकाशित कराया है।[15]

6. पल्लीवाल[16]

'पल्लीवाल' प्रारम्भ में दिगम्बर-जैन-जाति थी, लेकिन विगत 300-400 वर्षों से इस जाति में कुछ परिवार श्वेताम्बर-धर्म माननेवाले भी हो गये। लेकिन वर्तमान में यह जाति मुख्यतः दिगम्बर-धर्मानुयायी ही है। खण्डेला से खण्डेलवाल, अग्रोहा से अग्रवाल-जाति के समान 'पल्लवी-जाति' की उत्पत्ति राजस्थान के 'पाली' नगर से मानी जाती थी, लेकिन डॉ. अनिल कुमार जैन ने नयी खोज के आधार पर यह सिद्ध किया है कि 'पल्लीवाल-जाति' दक्षिण-भारत के 'पल्ली' नगर में उत्पन्न हुई

थी। उनके अनुसार यदि 'पाली-नगर' में 'पल्लीवाल-जाति' का उद्भव हुआ होता, तो यह जाति 'पल्लीवाल' के स्थान पर 'पालीवाल' कहलाती; क्योंकि 'आ' के स्थान पर 'अ' के प्रयोग का कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता। आचार्य कुन्दकुन्द भी 'पल्लीवाल-जाति' में उत्पन्न हुये थे, ऐसा पट्टावलियों में उल्लेख मिलता है।

फिरोजाबाद के निकट 'चन्द्रवाड' नामक नगर था, जिसकी स्थापना विक्रम-संवत् 1052 में 'चन्द्रपाल' नामक जैन-राजा की स्मृति में करवाई गई थी। 'चन्द्रवाड' में 13वीं शताब्दी से लेकर 16वीं शताब्दी तक चौहानवंशी-राजाओं का राज्य रहा। इन राजाओं में अधिकांश मंत्री 'पल्लीवाल-जैन' थे।

पल्लीवाल-जाति में कुछ कवि भी हुये हैं, जिनमें बजरंग लाल, दौलतराम आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

वर्तमान में पल्लीवाल आगरा, फिरोजाबाद, कन्नौज, अलीगढ़ क्षेत्रों एवं ग्वालियर, उज्जैन आदि नगरों में मिलते हैं। आगरा-क्षेत्र के पल्लीवालों के गोत्रों एवं कन्नौज, अलीगढ़-फिरोजाबाद के पल्लीवालों के गोत्रों में थोड़ा अन्तर है। 'मुरैना' तथा 'ग्वालियर-क्षेत्र' के पल्लीवालों के 35 गोत्र हैं, जबकि नागपुर-क्षेत्र के पल्लीवालों के 12 गोत्र ही हैं।

7. नरसिंहपुरा

'नरसिंहपुरा-जाति' के प्रमुख-केन्द्र हैं राजस्थान में 'मेवाड़' एवं 'बागड़ा-प्रदेश'। वेसे इस जाति की उत्पत्ति भी मेवाड़-प्रदेश का 'नरसिंहपुरा-नगर' से मानी जाती है। इसी नगर में 'भाहड' नामक श्रेष्ठि-श्रावक रहते थे, जो श्रावक-धर्म का पालन करते थे। भट्टारक रामसेन ने सभी क्षत्रियों को जैनत्व में दीक्षित किया तथा 'नरसिंहपुरा-जाति' का उद्भव किया।[16] इस जाति की उत्पत्ति विक्रम-संवत् 102 में मानी जाती है तथा यह जाति 27 गोत्रों में विभाजित है।

'प्रतापगढ़' में नरसिंहपुरा-जाति के भट्टारकों की गादी थी। भट्टारक रामसेन के पश्चात् जिनसेन, यशकीर्ति, उदयसेन, त्रिभुवनकीर्ति, रत्नभूषण, जयकीर्ति आदि भट्टारक हुये। ये सभी भट्टारक तपस्वी एवं साहित्य-प्रेमी थे। प्रदेश में विहार करते हुये समाज में धार्मिक-क्रियाओं को सम्पादित कराया करते थे। काष्ठासंघ, नदी-तट-गच्छ, विधागण, नरसिंहपुरा लघु-शाखा-आम्नाय में सूरज आदि के भट्टारकों की संख्या 110 मानी जाती है। अन्तिम भट्टारक यश-कीर्ति थे। यह जाति भी दस्सा, बीसा उपजातियों में विभक्त है।

'सिंहपुरा-जाति' भी एक दिगम्बर-जैन जाति थी, जो संवत् 1404 में 'नरसिंहपुरा-जाति' में विलीन हो गई।[17]

8. ओसवाल

'ओसवाल' भी मूलतः दिगम्बर-समाज की एक जाति रही है। 'ओसवाल-जाति' का उद्‌गम-स्थान 'ओसिया' में माना जाता है। ओसवालों में दिगम्बर एवं श्वेताम्बर — दोनों ही धर्मों को माननेवाले पाये जाते हैं। मुल्तान से आये हुये मुल्तानी-ओसवालों में अधिकांश दिगम्बरधर्म को माननेवाले हैं। मुल्तानी-ओसवाल वर्तमान समय में जयपुर एवं दिल्ली में बसे हुये हैं, जिनके घरों की संख्या करीब 400 होगी। ऐसा लगता है कि 'ओसिया' से जब 'ओसवाल-जाति' देश के विभिन्न भागों में आजीविका के लिये निकली तथा पंजाब की ओर बसने के लिये आगे बढ़ी, तो उसमें दिगम्बर-धर्मानुयायी भी थे। उनमें से अधिकांश मुल्तान डेरा गाजीखान, वैद्या एवं उत्तरी-पंजाब के अन्य नगरों में बस गये और वहीं व्यापार करने लगे। ओसवाल-दिगम्बर-समाज अत्यधिक समृद्ध एवं धर्म के प्रति दृढ़-आस्था वाली जाति है।

दिगंम्बर-जैन-ओसवाल-जाति में वर्धमान नवलखा, अमोलकाबाई, लुहिन्मामल, दौलतराम ओसवाल आदि अनेक जैन विद्वान् एवं श्रेष्ठीगण हुये हैं।[18]

9. लमेचू[19]

यह भी 84 जातियों में एक जाति है, जो मूर्ति-लेखों और ग्रंथ-प्रशस्तियों में 'लम्ब-कंचुकान्वय' नाम से प्रसिद्ध है। मूर्ति-लेखों में 'लम्बकंचुकान्वय' के साथ 'यदुवंशी' लिखा हुआ मिलता है, जिससे यह एक क्षत्रिय-जाति ज्ञात होती है। इस जाति का विकास किसी 'लम्बकांचन' नामक नगर से हुआ जान पड़ता है। इसमें खरिया, रावत, ककोटा और पचोले गोत्रों का भी उल्लेख मिलता है। इस जाति में अनेक प्रतिष्ठित और परोपकारी पुरुष हुये हैं, जिन्होंने जिन-मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण कराया है, अनेक ग्रंथ लिखवाये हैं। इनमें 'बुढेले' और लमेचू' — ये दो भेद पाये जाते हैं, जो प्राचीन नहीं है। बाबू कामताप्रसाद जी ने 'प्रतिमा-लेख-संग्रह' में लिखा है कि "बुढेले-लंबेचू अथवा 'लम्बकंचुक' जाति का एक गोत्र था, किन्तु किसी सामाजिक-अनबन के कारण विक्रम-संवत् 1590 और 1670 के मध्य किसी समय ये दोनों पृथक् जातियाँ बन गईं।" 'बुढेले' जाति के साथ रावत, संघई आदि गोत्रों का उल्लेख मिलता है। इससे प्रकट है कि इस गोत्र के साथ अन्य लोग भी लमेचुओं से अलग होकर एक अन्य जाति बनाकर बैठ गये। इन जातियों के इतिवृत्त के लिये अन्वेषण की आवश्यकता है। 'चन्द्रवाड' के चौहानवंशी राजा आहवमल के राज्यकाल में 'लंबकंचुक-कुल' के मणि साहू सेठ के द्वितीय पुत्र, जो मल्हादेवी की कुक्षि से जन्मे थे, बड़े बुद्धिमान और राजनीति में दक्ष थे। इनका नाम कण्ह या

कृष्णादित्य था। ये आहवमल के प्रधानमंत्री थे, जो बड़े धर्मात्मा थे। उनकी धर्मपत्नी का नाम सुलक्षणा था, जो उदार, धर्मात्मा, पतिभक्त और रूपवती थी। इनके दो पुत्र थे — हरिदेव और द्विजराज। इन्हीं कण्ह की प्रार्थना से कवि लक्ष्मण ने वि.सं. 1313 में 'अणवय-रयम-पईव' नाम का ग्रंथ बनाया था।

कवि धनपाल ने अपने 'बाहुबलि-चरित' की प्रशस्ति में लिखा है कि 'चन्द्रवाड' में चौहानवंशी राजा अभयचन्द्र के, और उनके पुत्र जयचन्द के राज्यकाल में 'लम्बकंचुक-वंश' के साहू सोमदेव मंत्री-पद पर प्रतिष्ठित थे, और उनके द्वितीय पुत्र रामचन्द्र के समय सोमदेव के पुत्र वासाधर राज्य के मंत्री थे, जो सम्यक्त्वी जिन-चरणों के भक्त, जैनधर्म के पालन में तत्पर, दयालु, मिथ्यात्व-रहित, बहुलोक-मित्र और शुद्ध-चित्त के धारक थे। इनके आठ पुत्र थे — जसपाल, रतपाल, चन्द्रपाल, विहराज, पुष्पपाल, बाहड़ु और रूपदेव। ये आठों पुत्र अपने पिता के समान धर्मज्ञ और सुयोग्य थे। भट्टारक प्रभाचन्द्र ने विक्रम-संवत् 1454 में में वासाधर की प्रेरणा से 'बाहुबलि-चरित' की रचना की थी। उन्होंने 'चन्द्रवाड' में एक मन्दिर बनवाया और उसकी प्रतिष्ठा की थी। इन सब उल्लेखों से स्पष्ट है 'लम्बकंचुक-आम्नायी' भी अच्छे सम्पन्न और राजमान्य रहे हैं। वर्तमान में भी वे अच्छे धनी और प्रतिष्ठित हैं।

10. हुंबड या हूमड[20]

यह जाति भी उन चौरासी-जातियों में से एक है। यह जाति विनयसेन आचार्य के शिष्य कुमारसेन द्वारा विक्रम-संवत् 800 के अनुमानतः 'जागड देश' में स्थापित की गई थी। यह जाति सम्पन्न और वैभवशालिनी रही है। इस जाति का निवास-स्थान गुजरात, मुम्बई-प्रान्त और बागड-प्रान्त में रहा है। यह 'दस्सा' और 'बीसा' इन दो भागों में बँटी हुई है। इस जाति में उत्पन्न अनेकों श्रावक राज्यमंत्री और कोषाध्यक्ष आदि सम्माननीय पदों पर प्रतिष्ठित रहे हैं। इनके द्वारा निर्मित अनेक मन्दिर और मूर्तियाँ पाई जाती हैं। ग्रंथ-निर्माण में भी यह प्रेरक रहे हैं। इनके द्वारा लिखाये हुये ग्रंथ अनेक शास्त्र-भण्डारों में उपलब्ध होते हैं। वर्तमान में भी वे समृद्ध देखे जाते हैं। इनमें 18 गोत्र प्रचलित हैं। खैरजू, कमलेश्वर, काकडेश्र, उत्तरेश्वर, मंत्रेश्वर, भमेश्वर, भद्रेश्वर, गणेश्वर, विश्वेश्वर, संकखेश्वर, आम्बेश्वर, बाचनेश्वर, सोमेश्वर, राजियानों, ललितेश्वर, काश्वेश्वर, बुद्धेश्वर और संघेश्वर। इसके अतिरिक्त इस जाति के द्वारा निर्मित मन्दिरों में सबसे प्राचीन मन्दिर 'झालरापाटन' में शांतिनाथ-स्वामी का है, जिसकी प्रतिष्ठा हुंमडवंशी शाह पीपा ने वि.सं. 1103 में करवाई थी। इस जाति में अनेक विद्वान् भट्टारक भी हुये हैं।

भट्टारक सकलकीर्ति और ब्रह्मजिनदास इस जाति के भूषण थे, जिनकी

परम्परा 250-300 वर्षों तक चली। इस जाति में जैन-धर्म-परम्परा का बराबर पालन होता रहा है। वर्तमान में हूमड़-समाज की जनसंख्या 2-3 लाख होगी। मुम्बई, उदयपुर, डूंगरपुर, प्रतापगढ़, सागवाड़ा जैसे नगर इस समाज के प्रमुख-केन्द्र हैं।

11. गोलापूर्व[21]

जैन-समाज की 84 जातियों में 'गोलापूर्व' भी एक सम्पन्न-जाति रही है। इस जाति का वर्तमान में अधिकतर निवास 'बुन्देलखण्ड' में सागर जिला, दमोह, छत्तरपुर, पन्ना, सतना, रीवा, आहार, जबलपुर, शिवपुरी और ग्वालियर के आस-पास के स्थानों में निवास रहा है। 12वीं और 13वीं शताब्दी के मूर्ति-लेखों से इसकी समृद्धि का अनुमान किया जा सकता है। इस जाति का निवास 'गोल्लागढ़' (गोलाकोट) की पूर्व दिशा से हुआ है। इसकी पूर्व-दिशा में रहनेवाले 'गोलापूर्व' कहलाते हैं। यह जाति किसी समय इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रिय थी, किन्तु व्यापार आदि करने के कारण वणिक्-समाज में इसकी गणना होने लगी। मूर्ति-लेखों और मन्दिरों की विशालता से 'गोलापूर्वान्वय' गौरवान्वित है। वर्तमान में भी इस जाति द्वारा निर्मित अनेक शिखरबन्द मन्दिर शोभा बढ़ा रहे हैं।

12. गोलालारे[22]

'गोलागढ़' ग्वालियर या गोपाचल का ही दूसरा नाम है। इसके समीप रहनेवाले 'गोलालारे' कहलाते हैं। यह उपजाति यद्यपि संख्या में अल्प रही है, परन्तु फिर भी धार्मिक दृष्टि से बड़ी कट्टर रही है। इस जाति के द्वारा प्रतिष्ठित अनेकों मूर्तियाँ देखने में आती हैं। अनेक विद्वान् तथा लक्ष्मीपुत्र भी इसमें होते रहे हैं, और आज भी उनकी अच्छी संख्या है। इसके उद्भव का स्थान 'गोलागढ़' है।

इनके गोत्रों की संख्या कितनी और उनके क्या-क्या नाम हैं, इसके बारे में व्यवस्थित जानकारी नहीं मिलती।

13. गोलसिंघारे (गोलश्रृंगार)[23]

'गोलागढ़' में सामूहिकरूप से निवास करनेवाले श्रावकगण 'गोलसिंघारे' कहे जाते हैं। 'श्रृंगार' का अर्थ यहाँ 'भूषण' है, जिसका अर्थ हुआ गोलागढ़ के भूषण। इस जाति का कोई विशेष इतिहास नहीं मिलता। 17वीं शताब्दी के कितनी ही ग्रंथ-प्रशस्तियों में इस जाति के श्रावकों का उल्लेख मिलता है, पर 'सिंघारे' का अर्थ सहज अभिप्राय को व्यक्त करता है। इसके उदय, अभ्युदय और ह्रास आदि का विशेष इतिवृत्त ज्ञात नहीं होता और न इसके ग्रंथकर्त्ता विद्वान् कवियों का ही परिचय ज्ञात हो सका। कुछ मूर्ति-लेख हमारे देखने में अवश्य आते हैं। एक यंत्र-लेख

अवश्य मिलता है, जो संवत् 1754 का है, उसमें उसके 'जयसवाल' गोत्र का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है, जिससे स्पष्ट जाना जाता है कि इस 'उपजाति' में भी गोत्रों की मान्यता है। सम्भवतः लम्बकंचुक, गोलाराडान्वय और गोलसिंघरान्वय ये तीनों गोलकारीय जाति के अभिसूचक हैं।

14. पद्मावती-पोरवाल[24]

इस जाति को 'परवार-जाति' का ही एक अंग माना जाता है, जिसका समर्थन बख्तराम साह के 'बुद्धि-विलास' से होता है। इस उपजाति का निकास 'पोमाबाई' (पद्मावती) नाम के नगर से हुआ है। यह नगरी पूर्वकाल में अत्यन्त समृद्ध थी। इसकी समृद्धि का उल्लेख खजुराहो के संवत् 1052 के शिलालेख में पाया जाता है। इस नगर में गगनचुम्बी अनेक विशाल भवन बने हुये हैं। यह नाग-राजाओं की राजधानी थी। इसकी खुदाई में अनेक नाग-राजाओं के सिक्के आदि प्राप्त हुये हैं। इस जाति में अनेक विद्वान्, त्यागी, ब्रह्मचारी और साधु-पुरुष हुये हैं और वर्तमान में भी उनके धार्मिक, श्रद्धावान एवं व्रतों के परिपालन में दृढ़ता देखी जाती है। महाकवि रइधू इस जाति में उत्पन्न हुये थे। कविवर छत्रपति एवं ब्रह्मगुलाल भी इस जाति के अंग थे। इनके द्वारा अनेक मन्दिर और मूर्तियों का निर्माण भी हुआ है।

15. चित्तौड़ा[25]

दिगम्बर-जैन-चित्तौड़ा-समाज राजस्थान के मेवाड़-प्रदेश में अधिक संख्या में निवास करता है। अकेले उदयपुर में इस समाज के 100 से भी अधिक घर हैं। यद्यपि चित्तौड़ा-जाति का उद्‌गम स्वयं चित्तौड़-नगर है; लेकिन वर्तमान में वहाँ इस समाज का एक भी घर नहीं है। चित्तौड़ा-समाज भी 'दस्सा' एवं 'बीसा' में बंटी हुई है। समाज में गोत्रों का अस्तित्व है। विवाह के अवसर पर केवल स्वयं का गोत्र ही टाला जाता है। सारे देश में चित्तौड़ा-समाज की जनसंख्या 50 हजार के करीब होगी।

16. नागदा[26]

डूंगरपुर में 'ऊंडा-मन्दिर' नागदों एवं हूंबड़ों दोनों का कहलाता है। नागदा-समाज का मुख्य-केन्द्र राजस्थान का 'बागड़' एवं 'मेवाड़-प्रदेश' है। यह समाज भी 'दस्सा' एवं 'बीसा' में बंटी हुई है। 'उदयपुर' में सम्भवनाथ-दिगम्बर-जैन-मन्दिर नागदा-समाज द्वारा निर्मित है। नागदा-समाज के 'उदयपुर' में ही 150-200 परिवार रहते हैं। 'सलुम्बर' में भी इस समाज के 150 से अधिक घर हैं। यह पूरा समाज अपनी प्राचीन परम्पराओं से बंधा हुआ है। यहाँ पर भी एक मन्दिर इसी जाति का है, जिसमें 15वीं तथा 16वीं शताब्दी में प्रतिष्ठित प्राचीन मूर्तियाँ विराजमान हैं।

17. बरैया[27]

बरैया जाति भी 84 जातियों में एक उल्लेखनीय जाति है। इस जाति के मुख्य-केन्द्र ग्वालियर, इन्दौर जैसे नगर हैं। ग्वालियर में 250 से अधिक परिवार रहते हैं। पं. गोपालदास जी बरैया इस जाति में उत्पन्न हुये थे। वे अपने समय के सबसे सम्मानित पण्डित थे। ग्वालियर में इस समाज के कई मन्दिर हैं। प्राचीन 84 जातियों की नामावली में इस जाति का उल्लेख नहीं मिलता। ब्र. जिनदास, बख्तराम एवं विनोदीलाल ने भी 84 जातियों में इस जाति का उल्लेख नहीं किया है। ऐसा लगता है कि पहले यह जाति किसी दूसरी जाति का ही एक अंग थी, लेकिन कालान्तर में इसने अपना स्वतंत्र अस्तित्व कायम कर लिया। बरैया-समाज का इतिहास श्री रणजीत जैन एडवोकेट, लश्कर ने लिखा है।

18-19. खरौआ-मिठौआ[28]

'खरौआ' जाति पहले 'गोलालारे' जाति का ही एक अंग थी, लेकिन कालान्तर में 'खरौआ-जाति' एक अलग जाति बन गई। 'मिठौआ' भी इसी जाति में से निकली हुई एक जाति है। यह कहा जाता है कि नगर में कुयें का मीठा पानी होने से यह 'मिठौआ-जाति' कहलाने लगी।

20. रायकवाल[29]

'रायकवाल' जाति का उल्लेख 15वीं शताब्दी के विद्वान् ब्रह्म जिनदास ने किया है, लेकिन सन् 1914 में प्रकाशित डाइरेक्ट्री में इस जाति की संख्या का कोई उल्लेख नहीं किया। लेकिन यह जाति पहले गुजरात-प्रान्त के 'सूरत' जिले में पाई जाती थी। 'सूरत' से 15 मील 'बारडोली' में 200 वर्ष पहले इस जाति के 200 घर थे। अब यह जाति और भी कम संख्या में सिमट गई है। वर्तमान में 'कारा' तथा 'महुआ' में इसके कुछ परिवार मिलते हैं।

21. मेवाड़ा[30]

मेवाड़-प्रदेश से विकसित होने के कारण यह जाति 'मेवाड़ा' कहलाने लगी। मेवाड़ा-जाति का सभी इतिहासकारों ने उल्लेख किया है। यह जाति भी दस्सा-बीसा में बंटी हुई है। मेवाड़ा-समाज सबसे अधिक महाराष्ट्र में मिलती है। यह जाति 'काष्ठसंघी' रही है। सूरत के मंदिर में शीतलनाथ स्वामी की संवत् 1892 में प्रतिष्ठित प्रतिमा है, जो मेवाड़ा-जाति की लघु-शाखा के सनाथ-बिशनदास आदि श्रावकों भट्टारक विजयकीर्ति के सान्निध्य में प्रतिष्ठित कराई गई थी। सन् 1914 में की गई जनगणना में इस जाति की संख्या करीब 2160 थी।

22. चरनागरे[31]

यह भी 84 जातियों में से एक जाति है। मध्यप्रदेश में चरनागरे-समाज प्रमुख रूप से निवास करता है। सन् 1914 की जनगणना में इस समाज की संख्या 1987 थी।

23. कठनेरा[32]

यह भी 84 जातियों में एक छोटी जाति है। कठनेरा-समाज की जनसंख्या सन् 1914 में केवल 711 थी, जो अब कितनी रह गई होगी, इसका अनुमान लगाना कठिन है। फिर भी यह जीवित जाति है।

24. श्रीमाल[33]

यह जाति भी दिगम्बर-समाज की जीवित जाति मानी जाती है। 'श्रीमाल' यद्यपि दिगम्बर एवं श्वेताम्बर — दोनों ही सम्प्रदायों में मिलते हैं; लेकिन अधिकांश जाति दिगम्बर-धर्म को माननेवाली है। राजस्थान में दिगम्बर-धर्मानुयायी श्रीमालों की अच्छी संख्या में परिवार हैं। जयपुर के बधीचन्द जी के मन्दिर के बहरे में संवत् 1394 की पार्श्वनाथे की प्रतिमा है, जो श्रीमाल-जातीय-श्रावकों द्वारा प्रतिष्ठित की गई है। 18वीं शताब्दी में अखयराज-श्रीमाल हिन्दी-गद्य के अच्छे विद्वान् हो गये हैं, जिन्होंने 'चौदह-गुणस्थान-चर्चा' लिखी थी —

चौदह गुणस्थानक कथन भाषा सुनि सुख होई।
अखेराज श्रीमाल ने करी जथा मति जोई।।

25. विनैक्या[34]

यह जाति भी दिगम्बर-जैन-समाज का एक अंग रही है; लेकिन यह बिखरी हुई समाज है। जैनधर्म एवं संस्कृति के रख-रखाव में इस जाति का विशेष योगदान नहीं मिलता है।

26. समैया[35]

किसी भी इतिहासकार ने इस जाति का उल्लेख नहीं किया, क्योंकि यह परवार-जाति का ही एक अंग थी; लेकिन जब से तारण-समाज की स्थापना हुई, तथा मूर्ति-पूजा के स्थान पर शास्त्र-पूजा की जाने लगी, तब से इस जाति का 'समैया' नामकरण हो गया। यह जाति भी सागर-जिले में मुख्यरूप से मिलती है। सन् 1914 की जनगणना में में समैया-जाति की संख्या 1107 थी; लेकिन आज तारण-पंथियों की अच्छी संख्या है। सागर के पूर्व-सांसद श्री डालचन्द्र जी जैन समैया-जाति के सदस्य हैं। प्रारम्भ में तारण-पंथ का अवश्य विरोध हुआ था; लेकिन वर्तमान में तारणपंथी भी दिगम्बर-जैन-समाज के ही अंग हैं।

27. गंगेरवाल[36]

गंगेरवाल भी 84 जातियों में से एक है। इसका गंगेडा, गंगेरवाल, गंगरीक, गोगराज एवं गंगेरवाल आदि विभिन्न नामों से उल्लेख मिलता है। पं. ऋषभराय ने संवत् 1833 में 'रविव्रत-कथा' की रचना की थी। वे स्वयं गंगेरवाल-श्रावक थे।

दक्षिण-भारत की दिगम्बर-जैन-जातियाँ

दक्षिण-भारत के महाराष्ट्र, आन्ध्रप्रदेश, तमिलनाडु एवं कर्नाटक आदि प्रान्तों में दिगम्बर-जैनों की केवल चार जातियाँ थीं। पंचम, चतुर्थ, कासार, बोगार और सेतवाल। पहले ये चारों जातियाँ एक थीं और 'पंचम' कहलाती थी। 'पंचम' नाम वर्णाश्रयी ब्राह्मणों का दिया हुआ जान पड़ता है। जैनधर्म वर्ण-व्यवस्था का विरोधी था, इसलिये उसके अनुयायियों को 'चातुर्वर्ण' से बाहर पाँचवें वर्ण का अर्थात् 'पंचम' कहते थे। जब जैनधर्म का प्रभाव कम हुआ, तो यह नाम रूढ़ हो गया और अन्ततः जैनों ने भी इसे स्वीकार कर लिया। दक्षिण में जब वीर, शैव या लिंगायत-सम्प्रदाय का उदय हुआ, तो उसने इस पंचम-जैनों को अपने धर्म में दीक्षित करना शुरू कर दिया और वे 'पंचम-लिंगायत' कहलाने लगे। 12वीं शताब्दी तक सारे दक्षिणात्य-जैन 'पंचम' ही कहलाने लगे। पहले दक्षिण के तमाम जैनों में रोटी-बेटी व्यवहार होता था।[37]

16वीं शताब्दी के लगभग सभी भट्टारकों ने अपने प्रान्तीय अथवा प्रादेशिक संघ तोड़कर जातिगत संघ बनाये और उस समय मठों के अनुयायियों को चतुर्थ, शेतवाल, बोगार तथा कासार नाम प्राप्त हुये। साधारणतौर से खेती ओर जमींदारी करनेवालों को चतुर्थ; कांसे-पीतल के बर्तन बनानेवालों को 'कासार' या 'बोगार' और केवल खेती तथा कपड़े का व्यापार करनेवालों को 'सेतवाल' कहा जाता है। हिन्दी में जिन्हें 'कसेरे' या 'तमेरे' कहते हैं, वे ही दक्षिण में 'कासार' कहलाते हैं। 'पंचम' में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य — इन तीनों वर्णों के धन्धा करनेवालों के नाम समानरूप से मिलते हैं। जिनसेन मठ (कोल्हापुर) के अनुयायियों को छोड़कर और किसी मठ के अनुयायी 'चतुर्थ' नहीं कहलाते। पंचम, चतुर्थ, सेतवाल और बोगार या कासारों में परस्पर रोटी-व्यवहार होता है।

सन् 1914 में प्रकाशित दिगम्बर-जैन-डाइरेक्ट्री के अनुसार दिगम्बर-जैन-जातियों में सबसे अधिक संख्या 'चतुर्थ' जाति की थी, जो उस समय 69285 थी; जिसके आधार पर वर्तमान में इस जाति की संख्या 10 लाख से कम नहीं होनी चाहिये। इसी तरह 'पंचम' जाति के श्रावकों की संख्या 32559, सेतवालों की संख्या 20889, बोगारों की संख्या 2439 तथा कासारों की संख्या 9987 थी। यदि हम दक्षिण-भारत की दिगम्बर-जैन-जातियों के श्रावकों की ओर ध्यान दें, तो हमें मालूम

होगा इन जातियों की संख्या लाखों में होगी; किन्तु भाषा, रीति-रिवाज की भिन्नता के कारण उनमें सामंजस्य स्थापित नहीं होता।

बीसवीं शताब्दी निर्ग्रन्थ-साधुओं की शताब्दी

भट्टारक-संस्था का पतन 19वीं शताब्दी से ही प्रारम्भ हो गया, तथा 20वीं शताब्दी में तो इस संस्था का प्रायश: अस्तित्व समाप्त हो गया; लेकिन दक्षिण-भारत में अभी उनका अस्तित्व है। मूडबिद्री (कर्नाटक), श्रवणबेलगोल (कर्नाटक), कोल्हापुर (महाराष्ट्र), हुमचा (कर्नाटक) जैसे स्थानों में अभी तक उनके केन्द्र हैं, जिन्हें 'गादी' कहा जाता है। यहाँ के भट्टारकगण भी प्रशिक्षित एवं प्रभावक हैं। इससे दक्षिण-भारत के जैन-समाज में उनके प्रति आकर्षण बना हुआ है।

20वीं शताब्दी के पूर्व उत्तर-भारत में भट्टारक-संस्था के कारण निर्ग्रन्थ-परम्परा में व्यवधान पड़ गया था और नग्न-दिगम्बर-मुनि प्राय: नहीं दिखाई देते थे। लेकिन दक्षिण-भारत में 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में निर्ग्रन्थ-परम्परा पुन: जीवित हो उठी ओर चार श्रावकों ने मुनि-दीक्षा धारण की और चारों को ही 'आदिसागर' नाम दिया गया। वे जन्म-स्थानों के नाम से जाने जाने लगे। इससे 1. आदिसागर बोरगांव, 2. आदिसागर अंकलीकर, 3. आदिसागर भोसेकर, और 4. आदिसागर भोज — ये चार नाम दिये गये।

1. आदिसागर बोरगांव

'बोरगांव' के आदिसागर मुनिराज 'बोरगांव' के पर्वत पर रहते थे। वे सोमवार के सोमवार अर्थात् आठ दिन में एक बार आहार लेते थे। आहार में गन्ने का रस लेते थे, तो मात्र गन्ने का रस ही लेते थे। इसी तरह यदि आम का रस लेते, तो आम का ही रस लेते थे। आठ दिन में आपको एक बार आहार देकर श्रावकगण अपने को धन्य मानते थे। आपका गृहस्थ-जीवन का नाम 'जिनप्पा' था।[39]

2. आदिसागर अंकलीकर[40]

आदिसागर अंकलीकर का जन्म फाल्गुन कृष्ण 13, गुरुवार, संवत् 1886 में 'अंकली' ग्राम में हुआ, जो महाराष्ट्र प्रान्त में है। 'अंकली' ग्राम में जन्म लेने के कारण आप 'अंकलीकर' नाम से प्रसिद्ध हुये। आप बचपन से ही बड़े विलक्षण, बुद्धिमान और शक्तिशाली थे। मित्रों और साथियों में आपकी बड़ी धाक थी। आपका साहस जबरदस्त था। युवावस्था में आपका विवाह 'आऊ' नाम की कन्या से हुआ। गृहस्थाश्रम में रहकर भी आप आत्म-चिन्तन, व्रत, उपवास, संयम आदि का दृढ़तापूर्वक पालन करते थे। "जे कम्मे सूरा, ते धम्मे सूरा" की सूक्ति आप पर अक्षरश: चरितार्थ होती थी।

लगभग 15 वर्ष की अवस्था में मातृ-वियोग, 27 वर्ष की अवस्था में पितृ-वियोग और लगभग 40 वर्ष की अवस्था में पत्नी-वियोग हो गया। संसार, शरीर और भोगों से विरक्ति हो गई। बाल-बच्चों को अपनी बहन को सौंपकर गृह-विरत हो गये। पहले आपने 1906 में 'क्षुल्लक-दीक्षा' ली और केवल तीन माह बाद 'ऐलक-दीक्षा' ग्रहण कर ली और निरन्तर ध्यान-स्वाध्याय में लीन रहने लगे। जब मुनिव्रत पालन का अच्छा पूर्वाभ्यास हो गया, तब विक्रम-संवत् 1914 मार्गशीर्ष शुक्ला 2, मंगलवार, को प्रातः 10 बजे मूल-नक्षत्र में कुन्थलगिरि-क्षेत्र में श्री जिनेन्द्रदेव की साक्षीपूर्वक मुनिदीक्षा अंगीकार कर ली।

उस समय निर्ग्रन्थ-जैन-मुनियों एवं आचार्यों का अभाव-सा पाया जाता था। ऐसे समय में आपने सर्वप्रथम जैनेश्वरी दीक्षा लेकर सारे देश में तहलका मचा दिया। भव्य बन्धुवृन्द अब तक केवल दिगम्बर-जैन-मुनियों की चर्चा सुनते थे; परन्तु अब साक्षात् मुनिवर के दर्शन पाकर अपने आपको धन्य अनुभव करने लगे। दीक्षा के बाद दक्षिण-भारत के अनेक ग्रामों में आपने मंगलविहार किया और धर्मामृत की वर्षा की। धर्म-बन्धुओं में धर्मभावना की जागृति हुई। आप 'कोन्नूर' की गुफा में उग्र तप करते थे। जन्मजात बैर रखने वाले जीवों ने आपकी प्रशान्त-मुद्रा से प्रभावित होकर वैर का वमन कर दिया और भी बहुत-से अतिशय हुये।

आपकी अन्तिम 'दिव्य-देशना' पर पूज्य आर्यिका विजयमती जी ने अच्छी पुस्तक लिखी है। 20वीं शताब्दी के कतिपय वर्षों पहले जो दिगम्बर-मुनि-परम्परा समाप्त हो चुकी थी, उसको आपकी मुनि-दीक्षा द्वारा नव-जीवन मिला; क्योंकि आपने मुनि-दीक्षा लेने के पश्चात् दक्षिण-भारत में विहार किया और धर्मामृत की वर्षा द्वारा जैनधर्म की महान् प्रभावना में वृद्धि की।

3. आदिसागर भोसेकर

आदिसागर भोसेकर जिनका नम्बर तीन था, वे 'जोभोसंगी स्वामी' के नाम से प्रसिद्ध थे।

4. आदिसागर भोज

चौथे आदिसागर 'भोजग्राम' के थे। आप पहिले 'रत्नप्पा स्वामी' के नाम से जाने जाते थे।

आचार्य शांतिसागर जी (दक्षिण)

आचार्य शांतिसागर जी महाराज 20वीं शताब्दी के महान् आचार्य थे। वे निर्ग्रन्थ-परम्परा के समर्थ प्रचारक थे। आचार्यश्री यद्यपि दाक्षिणात्य थे, लेकिन आचार्य-अवस्था में उत्तर-भारत में जाकर निर्ग्रन्थ-जीवन का भरपूर प्रचार किया और

एक बहुत बड़े संघ को लेकर सारे उत्तर-भारत में विहार किया।

आचार्यश्री का जन्म आषाढ़-कृष्णा विक्रम-संवत् 1872 में 'येळगूड' गाँव में अपने ननिहाल में हुआ था। आपके पिताश्री का नाम श्री गौड़ा एवं माता का नाम 'सत्यवती' था। इनका नाम 'सातगौडा' रखा गया। इनके दो बड़े भाई थे, जिनके नाम क्रमश: 'आदिगौडा' और 'देवगौडा' थे। छोटे भाई का नाम 'कुगौडा' और बहिन का नाम 'कृष्णा बाई' था। आचार्यश्री के जीवन पर उनके माता-पिता का गहरा प्रभाव पड़ा। उनका पूरा परिवार धर्मनिष्ठ था।[41]

सातगौडा का बचपन से ही निवृत्ति-मार्ग की ओर झुकाव था। आमोद-प्रमोद से बहुत दूर रहा करते थे। आप वीतरागी प्रवृत्तिवाले युवक थे। बाल्यकाल से ही वे शांति के सागर थे। मुनियों पर उनकी बड़ी आसक्ति थी, वे अपने कन्धे पर मुनिराज को बैठाकर 'वेदगंगा' और 'दूधगंगा' नदियों को पार करा देते थे। वे कपड़े की दुकान पर बैठते थे और ग्राहक से अपने मनपसंद का कपड़ा छाँटने, और बही में लिख देने को कह देते थे।

माता-पिता के स्वर्गवास के पश्चात् 41 वर्ष की अवस्था में दिगम्बर साधु 'देवप्पा' के पास मुनिदीक्षा के लिये निवेदन किया, लेकिन मुनिश्री ने मुनिजीवन के असाधारण कष्टों को देखते हुये पहले इन्हें संवत् 1972 में क्षुल्लक-दीक्षा प्रदान की और 'शांतिसागर' नाम रख दिया।

आप तप:साधना में विशेष संलग्न रहते थे। एक बार 'कोगनोली' के जैन मन्दिर में ध्यानस्थ थे कि एक छ: हाथ लम्बा सर्प वहाँ आया और इनको ध्यानस्थ देखकर शरीर पर चढ़ गया और शरीर से लिपट गया। जब मन्दिर के पंडितजी दीप जलाने अन्दर आये, तो सर्प को देखकर वह भाग खड़े हुये। वहाँ बहुत-से लोग एकत्रित हो गये। वहाँ एकत्रित जनसमूह सर्प की क्रीड़ा को देखता रहा। थोड़ी देर बाद वह सर्प स्वयं उतर गया और अन्यत्र चला गया। आचार्यश्री के जीवन में अनेक उपसर्ग आये, लेकिन आपने सबको शांतिपूर्वक सहन कर लिया। 'राजाखेड़ा' (राजस्थान) में एक बार छिद्दी ब्राह्मण गुण्डों के साथ नंगी तलवार लेकर आ गया था। सर्पराज तो कितनी ही बार आये और चले गये। एक बार असंख्य चींटियाँ आप के ऊपर चढ़ गईं, एक बड़ी चींटी तो आपके मुख्य लिंग पर काटने लगी, लेकिन आप साधना में लीन रहे और ध्यान से जरा भी विचलित नहीं हुये।

इसप्रकार गाँव-गाँव विहार करते हुये आप 'गिरनार क्षेत्र' में पहुँचे और वहाँ 'ऐलक' दीक्षा ग्रहण कर ली और जीवन-भर के लिये घी, नमक, दही, तेल और शक्कर — इन पाँच रसों का त्याग कर दिया। इसके पश्चात् 'करनाल' में पंचकल्याणक-महोत्सव के अवसर पर दीक्षा-दिवस के दिन सन् 1920 शक-संवत्

1841 फाल्गुन शुक्ला चतुर्दशी के शुभदिन आपको मुनि-दीक्षा दी गई। दीक्षा देने वाले गुरु थे देवेन्द्रकीर्ति, जिन्होंने आपको क्षुल्लक-दीक्षा दी थी। इसके पश्चात् 'समडोली' में नेमीसागर जी की ऐलक-दीक्षा तथा वीरसागर जी की मुनि-दीक्षा के दिन समाज ने आपको 'आचार्य'-पद से अलंकृत कर दिया।

आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित होने के पश्चात् आचार्यश्री मार्ग में अपूर्व धर्मप्रभावना करते हुये 'सम्मेद शिखर जी' सन् 1928 फाल्गुन की अष्टाह्निका-पर्व पर पहुँचे। इसके पश्चात् आचार्यश्री ने अपने संघ के साथ उत्तर-भारत के प्रमुख क्षेत्रों में विहार किया और परस्पर भाईचारा एवं धार्मिक सद्भाव पैदा किया। आपने अपने शिष्य या शिष्यों की एक बड़ी पंक्ति खड़ी कर दी।

जीवन-पर्यन्त उत्कृष्ट मुनिचर्या का पालन करते हुये और अन्त में 35 दिन तक उत्कृष्ट योगसाधना एवं सल्लेखना-व्रत के साथ कुंथलगिरि पर 18 सितम्बर भाद्रपद शुक्ल द्वितीया को आचार्यश्री ने स्वर्ग-प्रयाण किया।

आचार्यश्री शांतिसागर जी निर्ग्रन्थ-परम्परा के पुनरुद्धारक माने जाते हैं और वर्तमान में सभी जैनाचार्य उनसे अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं।[42]

आचार्य वीरसागर जी

आचार्य शांतिसागर जी महाराज का पट्ट शिष्य होने का सौभाग्य आचार्य वीरसागर जी को मिला। जब आचार्य श्री ने यम-समाधि ले ली थी, उसी समय 26 अगस्त, 1995 शुक्रवार को इन्हें 'आचार्य'-पद प्रदान किया गया। यद्यपि उस समय वीरसागर जी वहाँ नहीं थे, लेकिन उन्हें 'आचार्य'-पद देते हुये उन्होंने कहा था कि "हम स्वयं के सन्तोष से अपने प्रथम निर्ग्रन्थ शिष्य वीरसागर को 'आचार्य' पद देते हैं।" उन्होंने उस समय अपना महत्त्वपूर्ण उपदेश निम्न शब्दों में भेजा था, "आगम के अनुसार प्रवृत्ति करना, हमारी ही तरह समाधि धारण करना और सुयोग्य शिष्य को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करना, जिससे परम्परा बराबर चले।"[43]

आचार्य वीरसागर जी अधिक दिनों तक आचार्य-पद पर नहीं रह सके और सन् 1957 में ही जयपुर-खानियाँ में उन्होंने समाधिमरण ले लिया। उनका आत्मबल बड़ा तेज था और उसी के सहारे वे अपना मार्ग-निर्धारण करते थे।

आचार्य वीरसागर जी दक्षिण-भारत में गृहस्थ-जीवन में भी अवैतनिकरूप से धर्म-शिक्षा-कार्य करते थे।[44]

आचार्य शिवसागर जी[45]

आचार्य वीरसागर जी के पश्चात् शांतिसागर जी परम्परा को बनाये रखने के लिये मुनि शिवसागर जी महाराज विक्रम-संवत् 2014 में 'आचार्य' पद पर प्रतिष्ठित किये गये। आचार्य बनने के पश्चात् 'ब्यावर' में आपका प्रथम चातुर्मास हुआ। इसके

पश्चात् अजमेर, सुजानगढ़, सीकर, लाडनूं, खानियाँ (जयपुर), पपौरा, श्री महावीर जी, कोटा, उदयपुर एवं प्रतापगढ़ में आपके चातुर्मास सम्पन्न हुये और फाल्गुन कृष्ण अमावस्या विक्रम-संवत् 2025 को छः-सात दिन के साधारण ज्वर के पश्चात् 'श्री महावीर जी' में आपका स्वर्गवास हो गया।

शिवसागर जी का जन्म विक्रम-संवत् 1958 में हुआ था। ये 'खण्डेलवाल' जाति एवं 'रांवका' गोत्रीय श्री नेमीचन्द जी के सुपुत्र थे। आपकी जन्मभूमि 'औरंगाबाद' जिले के अन्तर्गत 'अडगाँव' थी। आपका जन्म नाम हीरालाल था। आपके दो भाई एवं दो बहनें थीं। पिता की आर्थिक-स्थिति विशेष-अच्छी नहीं होने के कारण आप एवं आपके भाई-बहन उच्चाध्ययन से वंचित रहे। 13 वर्ष की आयु में ही आपके माता-पिता एवं बड़े भाई की मृत्यु हो जाने से सारी गृहस्थी का भार आप पर आ गया। जब आप 28 वर्ष के थे, तब आचार्य शांतिसागर जी के दर्शन करने का सौभाग्य मिला और प्रथम भेंट में ही आचार्यश्री से आपने व्रत-प्रतिमा ग्रहण की। 41 वर्ष की आयु में आपने 'मुक्तागिरी' सिद्धक्षेत्र पर सप्तम-प्रतिमा धारण कर ली और ब्रह्मचारी के रूप में संघ के साथ रहने लगे। इसके पश्चात् इन्होंने 'क्षुल्लक-दीक्षा' ली और संवत् 2006 में 'नागौर' (राजस्थान) में आपने 'मुनि-दीक्षा' धारण कर ली। इसके पश्चात् 14 वर्ष तक आप आचार्यश्री वीरसागर जी के संघ में मुनि-अवस्था में रहे और चारों अनुयोगों का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया और अन्त में संवत् 2014 में आचार्य वीरसागर जी के स्वर्गवास के पश्चात् आप संघ के आचार्य बनाये गये। आपने अपने जीवन में 48 साधुओं को दीक्षा दी।

विक्रम-संवत् 2020 में जब खानियाँ (जयपुर) में आपका चातुर्मास हुआ, तो वहाँ निश्चय और व्यवहार को लेकर विद्वानों की एक वृहद् गोष्ठी का आयोजन हुआ। यह एक ऐतिहासिक गोष्ठी थी, जिसमें समाज के कितने ही मूर्धन्य विद्वानों ने भाग लिया। टोडरमल स्मारक भवन के द्वारा प्रकाशित 'खानियाँ तत्त्वचर्चा' के दो भागों में इसकी विवेचना प्रकाशित हो चुकी है। श्री महावीर जी में निर्मित 'शांतिवीर नगर' आपकी ही प्रेरणाओं का सुखद फल है।

आचार्य धर्मसागर जी[46]

आचार्य शिवसागर जी के पश्चात् आचार्य धर्मसागर जी संघ के आचार्य बने। ये बड़े स्पष्टवादी आचार्य थे। आप मारवाड़ी भाषा में प्रभावक प्रवचन देते थे। कठोर तप:साधना करनेवाले थे। आपका जन्म पौष पूर्णिमा विक्रम-संवत् 1870 के शुभदिन हुआ। 'गम्भीरा' गाँव के श्रेष्ठी बख्तावरमल जी एवं माता उमराव बाई के पुत्र रूप में आपने जन्म लिया। वि.सं. 2008 में आपने 'फुलेरा' में 'ऐलक-दीक्षा' ग्रहण की और कार्तिक शुक्ल चतुर्दशी विक्रम-संवत् 2008 में आपने 'मुनि-दीक्षा' ग्रहण की।

इसके पश्चात् आप बराबर बढ़ते ही गये। वि. संवत् 2025 फाल्गुन शुक्ल अष्टमी को 'श्री महावीर जी' क्षेत्र में आपको पूरे संघ ने मिलकर 'आचार्य-पद' प्रदान किया। आप विशाल संघ के साथ रहे। आचार्य बनने के पश्चात् आपने सारे देश में विहार किया और अपनी अमृतमय वाणी से सबको अपना बना लिया।

आपने मुनिधर्म को प्रभावक बनाया और आपने 28 मुनि-दीक्षायें, कई ऐलक-दीक्षायें, 7 क्षुल्लक-दीक्षायें एवं 21 आर्यिका-दीक्षायें एवं 3 क्षुल्लिका-दीक्षायें कराके मुनि-धर्म का खूब प्रचार-प्रसार किया। आप स्नेह एवं सौजन्य की मूर्ति थे, लेकिन सिद्धांत-विरोधी-प्रवृत्ति का पक्ष कदापि नहीं लेते थे। आचार्य धर्मसागर जी का करनी और कथनी में किञ्चित् भी अन्तर नहीं था। वे धनाढ्य तथा गरीब से समान व्यवहार करते थे।

आचार्य शांतिसागर जी छाणी[47]

आचार्य शांतिसागर जी नाम के आप दूसरे आचार्य थे। एक ही नाम होने के कारण वे अपने ग्राम के नाम के कारण 'छाणी महाराज' कहलाने लगे। आपका जन्म सन् 1888 में 'उदयपुर' रियासत के 'छाणी' ग्राम में हुआ था। आपने 35 वर्ष की आयु में सन् 1923 में 'मुनि-दीक्षा' धारण की। सन् 1926 में आपको 'आचार्य-पद' दिया गया तथा लगातार 20 वर्ष तक निरन्तर विहार करने के पश्चात् सन् 1944 में आपने समाधिमरण-पूर्वक शरीर त्याग दिया।

इसीप्रकार एक आचार्य शांतिसागर जी दक्षिण में हुये। इन दोनों आचार्यों की जीवन-गाथा निम्नप्रकार है—

	जन्म सन्	क्षुल्लक दीक्षा	मुनिदीक्षा	आचार्य पद	समाधि प्राप्त
आचार्य शांतिसागर जी दक्षिण	1872	1915	1920	1924	1955
आचार्य शांतिसागर जी छाणी	1888	1922	1923	1926	1944

'छाणी महाराज' का उत्तर-भारत के गाँवों में विहार हुआ और चातुर्मास स्थापित किये। एक बार 'ब्यावर' में सन् 1933 में दोनों आचार्यों के एक-साथ चातुर्मास सम्पन्न हुये। इससे जनसाधारण में अपूर्व धार्मिक जागृति उत्पन्न हुई। यद्यपि 'छाणी महाराज' की 'तेरहपंथ-परम्परा' थी और शांतिसागर जी दक्षिणवालों की 'बीसपंथ' की परम्परा थी; लेकिन दोनों में परस्पर खूब मेल रहा तथा दोनों ने परम्पराओं को आपसी विरोध का कारण नहीं बनने दिया।

आचार्य शांतिसागर जी छाणी ने मुनि बनने के पश्चात् राजस्थान एवं मालवा के विभिन्न नगरों में 20 चातुर्मास स्थापित किये, जिनकी तालिका निम्नप्रकार है[48]—

क्र.सं.	विक्रम-संवत्	ईस्वी सन्	चातुर्मास का स्थान
1.	1981	1924	इन्दौर
2.	1982	1925	ललितपुर
3.	1983	1926	गिरीडीह (आचार्य पद प्राप्त)
4.	1984	1927	परतापुर (बांसवाड़)
5.	1985	1928	ईडर
6.	1986	1929	सागवाड़ा
7.	1987	1930	इन्दौर
8.	1988	1931	ईडर
9.	1989	1932	नसीराबाद
10.	1990	1933	ब्यावर
11.	1991	1934	सागवाड़ा
12.	1992	1935	उदयपुर
13.	1993	1936	ईडर
14.	1994	1937	गलियाकोट
15.	1995	1938	पारसौला
16.	1996	1939	भिण्डर
17.	1997	1940	तलोद
18.	1998	1941	ऋषभदेव
19.	1999	1942	ऋषभदेव
20.	2000	1943	सलूम्बर

आचार्यश्री ज्ञानसागर जी

आचार्यश्री ज्ञानसागर जी का जन्म राजस्थान के 'सीकर' जिलान्तर्गत 'राणोली' ग्राम में संवत् 1948 में एक सम्पन्न परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम 'चतुर्भुज' एवं माता का नाम 'घेवरी' देवी था। जन्म के समय उनका नाम 'भूरामल' रखा गया। गाँव की प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् उनको संस्कृत-भाषा के उच्च-अध्ययन की इच्छा जागृत हुई और माता-पिता की अनुमति लेकर 'शास्त्री' की परीक्षा पास की। राजस्थान के प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान पं. चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ आपके सहपाठियों में से थे। काशी के स्नातक बनने के पश्चात् ये वापिस अपने ग्राम आ गये ओर ग्रन्थों के अध्ययन के साथ-साथ स्वतंत्र

व्यवसाय भी करने लगे। लेकिन काव्य-निर्माण में विशेष रुचि लेने के कारण उनको व्यवसाय में मन नहीं लगा। विवाह की चर्चा आने पर उन्होंने आजन्म अविवाहित रहने की अपनी हार्दिक इच्छा व्यक्त की और अपने आपको माँ जिनवाणी की सेवा में समर्पित कर दिया।[49]

उन्होंने सन् 1955 में 'क्षुल्लक-दीक्षा' धारण की। सन् 1959 में आचार्य शिवसागर से 'मुनि-दीक्षा' प्राप्त की। सन् 1969 में 'आचार्य-पद' प्राप्त किया। जून 1973 को समाधिमरण प्राप्त किया। आपने संस्कृत एवं हिन्दी में अनेक महाकाव्य, काव्य एवं हिन्दी में भी कितने ही काव्यों की रचना की। आप वर्तमान के आचार्य विद्यासागर के दीक्षा-गुरु हैं।

आचार्य महावीरकीर्ति जी

आचार्यश्री का जन्म बैशाख शुक्ल 9 संवत् 1967 में उ.प्र. के 'फिरोजाबाद' नगर के पठानान मोहल्ले में हुआ था। आपका बचपन का नाम 'महेन्द्रकुमार' था। आपकी माता 'बूंदादेवी' बड़ी धर्मात्मा थीं उन्हीं के विचारों और संस्कारों का प्रभाव बालक महेन्द्र पर पड़ा।

मुनिराज ने 20 वर्ष की अवस्था में विक्रम-संवत् 1987 में परमपूज्य मुनि चन्द्रसागर जी मुनिराज से सप्तम-प्रतिमा ग्रहण की और संवत् 1995 अर्थात् 28 वर्ष की अवस्था में गुजरात प्रान्त के 'टाकाटोंका' ग्राम में परमपूज्य आचार्यकल्प वीरसागर जी से क्षुल्लक-दीक्षा ली तथा 32 वर्ष की अवस्था 1999 में परमपूज्य आचार्य आदिसागर जी महाराज से 'मुनि-दीक्षा' धारण की।

आचार्य महाराज ने अपने संघ-सहित भारत के नगरों और तीर्थक्षेत्रों पर विहार किया और अपनी अमृतमय वाणी से जनता का उपकार किया। सैकड़ों नगर और गाँव आपके पदार्पण से पवित्र हुये। आपके विहार में कई स्थानों पर उपसर्ग हुये और उन्हें आपने शांति से सहन किया।

परमपूज्य आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी भी अब हमारे बीच नहीं रहे। ऐसे लोकोपकारी आचार्यश्री का 6 जनवरी 1972 ई. को रात्रि के 9.18 बजे मेहसाणा (गुजरात) में समाधिमरण हो गया।[50]

आचार्य सूर्यसागर[51]

आचार्य शांतिसागर जी के पश्चात् जिन जैनाचार्यों का समाज एवं सांस्कृतिक विकास में सबसे अधिक योगदान रहा, उनमें आचार्य सूर्यसागर जी महाराज का नाम सबसे उल्लेखनीय है। आचार्यश्री 20वीं शताब्दी के महान् सन्त थे। आपका महान् व्यक्तित्व एवं तप:साधना देखते ही बनती थी। देश के विभिन्न भागों में विहार करके आपने समस्त जैन-समाज को एक-सूत्र में बाँधने का प्रयास किया था।

आचार्यश्री का जन्म संवत् 1940 के कार्तिक शुक्ला नवमी के शुभदिन हुआ

था। आपका जन्म-स्थान ग्वालियर राज्य के 'शिवपुरी' जिला अन्तर्गत 'पेपसर' ग्राम में हुआ था। आपका बचपन का नाम 'हजारीमल' था। पिता के सहोदर भाई बलदेव जी झालरापाटनवालों के यहाँ लालन-पालन हुआ था। बचपन से ही आप चिन्तनशील रहते थे तथा धार्मिक क्रियाओं में आपकी विशेष रुचि रहती थी, जो विवाह होने के उपरान्त भी उसी रूप में बनी रही। जब आप 41 वर्ष के थे, तो एक स्वप्न के फलस्वरूप आपको जगत् से विरक्ति हो गई और आश्विन शुक्ल षष्ठी, विक्रम-संवत् 1981 को आपने इन्दौर में आचार्यश्री शाँतिसागर जी महाराज के पास ऐलक-पद की दीक्षा ले ली। उसी समय आपको 'सूर्यसागर' नाम रखा गया। कुछ समय पश्चात् आप मुनि और फिर आचार्य पद को प्राप्त हो गये।

आचार्य सूर्यसागर जी विद्वान् सन्त थे। उनकी वाणी में मिठास थी। इसलिये उनकी सभाओं में पर्याप्त-संख्या में श्रोतागण आते थे। उनका महान् ग्रन्थ 'सूर्यसागर ग्रन्थावली' जयपुर से प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रन्थ में जैनधर्म एवं उसके सिद्धांतों का अत्यधिक सुन्दर ढंग से प्रतिपादन किया गया है। आचार्यश्री का स्वर्गवास 'डालमिया नगर' में समाधिपूर्वक हुआ था। वहीं पर उनकी भव्य समाधि बनी हुई है।

आचार्य देशभूषण जी[52]

आचार्य देशभूषण जी 20वीं शताब्दी के प्रभावक आचार्य थे। आप निरन्तर ध्यान-स्वाध्याय में लगे रहते थे। संस्कृत, अंग्रेजी भाषा के अतिरिक्त कन्नड़ एवं मराठी भाषा के भी अच्छे विद्वान् थे। आपका जन्म 'बेलगाँव' जिले के 'कोथलपुर' (कोथली) गाँव में हुआ था। पिता का नाम 'सातगोडा' एवं माता का नाम 'अक्काताई' था। संवत् 1995 में आपका जन्म हुआ। आपका जन्म-नाम 'बालगौडा' था। आप जब तीन माह के थे, तभी माता जी स्वर्गवासी हो गईं और सात वर्ष की अवस्था में आप पितृहीन हो गये। आपके पालन-पोषण का पूरा भार नानी पर आ गया।

15 वर्ष की अवस्था में आपने कन्नड़ और मराठी भाषाओं में अच्छी शिक्षा प्राप्त की। प्रारम्भ में मन्दिर जाने के पक्ष में नहीं थे, लेकिन आचार्य जयकीर्ति के उपदेशों का गहरा प्रभाव पड़ा और 20 वर्ष की अवस्था में 'रामटेक' में आपने 'ऐलक-दीक्षा' ले ली और 20 वर्ष की अवस्था में कुंथलगिरि क्षेत्र पर आपको आचार्यश्री जयकीर्ति मुनिराज ने 'मुनि-दीक्षा' दे दी। आपको 'सूरत' (गुजरात) में 'आचार्य-पद' से विभूषित किया गया। मुनि-अवस्था में आपने खूब विद्याभ्यास किया। आपकी प्रेरणा से अयोध्या-तीर्थ पर 31 फुट ऊँची आदिनाथ स्वामी की खड्गासन-प्रतिमा विराजमान की गई तथा वहाँ गुरुकुल की स्थापना करवाई गई।

आपने बंगाल, बिहार, उड़ीसा, हैदराबाद, महाराष्ट्र, गुजरात, हरियाणा, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश एवं राजस्थान में खूब विहार किया। आपने कोथली, जयपुर आदि नगरों में भव्य जिनालयों की प्रतिष्ठा करवाई। अनेकों पंचकल्याणक-प्रतिष्ठायें

आपके सान्निध्य में सम्पन्न हुईं। आचार्यश्री की विद्वत्तापूर्ण प्रवचन-शैली बहुत आकर्षक थी। आचार्य विद्यानन्द जी मुनिराज आपके शिष्य हैं। आपने भरतेश-वैभव, रत्नाकर-शतक, परमात्म-प्रकाश, धर्मामृत, निर्वाण-लक्ष्मीपति-स्तुति, निरन्जन-स्तुति आदि कन्नड़ भाषा के महान् ग्रन्थों का हिन्दी, गुजराती, मराठी भाषा में अनुवाद किया था।

अपने समय के प्रभावक आचार्य रहते हुये आपने समाधिमरण सन् 1989 में 'कोथली' (महाराष्ट्र) में प्राप्त किया था।

आचार्य पायसागर जी महाराज[53]

आपका जन्म ऐनापुर में फाल्गुन शुक्ला पंचमी वीर नि.सं. 2415 को हुआ था। आपने गोकाक के जैन-मन्दिर में श्रीमद् श्री शांतिसागर जी महाराज से कार्तिक सुदी 4 वीर सं. 2450 सन् 1923 में 'ऐलक-दीक्षा' ली। 'सोनागिरि' सिद्धक्षेत्र पर आचार्यश्री से ही वि.सं. 2456 में 'मुनि-दीक्षा' ग्रहण की। 12-10-56 में आपने अपना 'आचार्य-पद' मुनि अनन्तकीर्ति जी को सौंप दिया तथा 'स्तवनिधि तीर्थक्षेत्र' पर समाधिपूर्वक शरीर को छोड़ा। आप कुशल वक्ता, दीर्घ तपस्वी और प्रभावी आचार्य थे। आपने अनेकों श्रावकों को दीक्षा देकर सत्पथ में लगाया।

आचार्य श्रीसन्मतिसागर जी[54]

आपका जन्म विक्रम-संवत् 1995 में माघ शुक्ल सप्तमी को उत्तरप्रदेश में 'एटा' जिले के अन्तर्गत 'फफूता' नामक ग्राम में हुआ। सेठ प्यारेलाल जी आपके पूज्य पिता थे और आपकी माता का नाम जयमाता था। बड़ा ही धर्मात्मा परिवार था। अत: बचपन से ही आपका जीवन धर्म के संस्कारों से ओतप्रोत था। ज्योतिषी ने भी भविष्यवाणी करते हुये बतलाया कि "बच्चा होनहार है, विद्वान् तो होगा ही; परन्तु उच्च पद प्राप्त करेगा।" केवल 9 वर्ष की अवस्था में ही धार्मिक और लौकिक शिक्षा दोनों में दक्षता प्राप्त कर ली। हिन्दी, गणित, इतिहास, भूगोल, व्याकरण, नागरिकशास्त्र आदि अनेक विषयों के ज्ञाता हो गये। बी.ए. तक लौकिक-शिक्षा प्राप्त की और 'पुरुषार्थसिध्युपाय' तक धार्मिक शिक्षा अर्जित की।

आपको आचार्यश्री विमलसागर द्वारा 'सम्मेद शिखर जी' में मुनिदीक्षा दी गयी और 'मुनि सन्मतिसागर' नाम रखा। 'आचार्य'-पद 'मेहसाणा' में आचार्य महावीरकीर्ति से प्राप्त किया।

आचार्यश्री का विहार जब बनारस से अयोध्या की तरफ हो रहा था, तब कुछ डाकुओं ने संघ में उपद्रव किया; परन्तु दूसरे दिन वे ही डाकू आचार्यश्री के चरणों में नतमस्तक हुये और अपने दुष्कृत्य की बार-बार क्षमा-याचना की तथा डाकू-जीवन का त्यागकर अनेक प्रकार के व्रत-नियम लिये।

आचार्यश्री कुंथुसागर जी[55]

दक्षिण में कर्नाटक-प्रान्त के 'बेलगाँव' जिले में 'ऐनापुर' में सातप्पा व सरस्वती के पुत्र के रूप में वीर-निर्वाण-संवत् 2420 में आपका जन्म हुआ। माता-पिता ने नाम 'रामचन्द्र' रखा। रामचन्द्र के हृदय में बाल्यकाल से ही विनयशीलता व सदाचार के भाव जागृत हुये थे, जिन्हें देखकर लोग आश्चर्यचकित व सन्तुष्ट होते थे। रामचन्द्र को बाल्यावस्था में ही साधु-संयमियों के दर्शन की उत्कृष्ट इच्छा रहती थी। कोई साधु ऐनापुर में आते, तो यह बालक दौड़कर उनकी वन्दना के लिये पहुँचता था। बाल्यकाल से ही उसके हृदय में धर्म के प्रति अभिरुचि थी। सदा अपने सहधर्मियों के साथ तत्त्वचर्चा करने में ही समय बिताता था। इसप्रकार सोलह वर्ष व्यतीत हुये। अब माता-पिता ने रामचन्द्र का विवाह कराने का विचार प्रगट किया, तो रामचन्द्र ने विवाह के लिये मना किया एवं प्रार्थना की कि "पिताजी! इस लौकिक विवाह से मुझे संतोष नहीं होगा। मैं अलौकिक विवाह अर्थात् मुक्ति-लक्ष्मी के साथ विवाह करना चाहता हूँ।" माता-पिता ने पुनः आग्रह किया। माता-पिता की आज्ञा के उल्लंघन के भय से इच्छा न होते हुये भी रामचन्द्र ने विवाह की स्वीकृति दी।

बाल्यकाल से संस्कारों से सुदृढ़ होने के कारण यौवनावस्था में भी रामचन्द्र को कोई व्यसन नहीं था। व्यसन था तो केवल धर्मचर्चा, सत्संगति व शास्त्र-स्वाध्याय का था। बाकी व्यसन तो उनसे घबराकर दूर भागते थे। इसप्रकार पच्चीस-वर्ष-पर्यन्त रामचन्द्र ने किसी तरह घर में वास किया। परन्तु बीच-बीच में यह भावना जागृत होती थी कि "भगवान्! मैं इस गृहबंधन से कब छूटूँ।? जिन-दीक्षा लेने का सौभाग्य कब मिलेगा? वह दिन कब आयेगा जब कि सर्वसंग-परित्याग कर मैं स्वकल्याण कर सकूँ?"

दैववशात् इस बीच में माता-पिता का स्वर्गवास हुआ। विकराल काल की कृपा से भाई और बहन ने भी विदा ली। तब रामचन्द्रजी का चित्त और भी उदास हुआ। उनका बंधन छूट गया। तब संसार की स्थिति का उन्होंने स्वानुभव से पक्का निश्चय करके और भी धर्ममार्ग पर स्थिर हुये।

रामचन्द्र के श्वसुर भी धनिक थे। उनके पास बहुत सम्पत्ति थी। परन्तु उनको और कोई सन्तान नहीं थी। वे रामचन्द्र से कई बार कहते थे कि "यह सम्पत्ति (घर वगैरह) तुम ही ले लो, मेरे यहाँ के सब कारोबार तुम ही चलाओ।" और रामचन्द्र अपने 'श्वसुर को दुःख न हो', इस विचार से कुछ दिन ससुराल में रहे भी। परन्तु मन में यह विचार किया करते थे कि "मैं अपना भी घर-बार छोड़ना चाहता हूँ। इनकी सम्पत्ति को लेकर मैं क्या करूँगा?" रामचन्द्र की इसप्रकार की वृत्ति से श्वसुर को दुःख होता था, परन्तु रामचन्द्र लाचार था। जब उसने सर्वथा गृहत्याग करने का

निश्चय ही कर लिया, तो उनके श्वसुर को बहुत अधिक दु:ख हुआ।

आपने परमपूज्य आचार्यश्री शांतिसागर जी महाराज के पादमूल को पाकर अपने संकल्प को पूर्ण किया। सन् 1925 में 'श्रवणबेलगोला' के महामस्तकाभिषेक के समय पर आपने 'क्षुल्लक-दीक्षा' ली तथा 'सोनागिरी' क्षेत्र (म.प्र.) पर 'मुनिदीक्षा' ली और 'मुनि कुंथुसागर' के नाम से प्रसिद्ध हुये। जब आप घर छोड़ करके साधु हुये, तब आपकी धर्मपत्नी धर्मध्यान करती हुईं घर में ही रही थीं। साहित्य-निर्माण में आपकी बहुत रुचि थी। आपने चतुर्विंशतिजिनस्तुति, शांतिसागर-चरित्र, बोधामृतसागर, निजात्मशुद्धिभावना, मोक्षमार्गप्रदीप, ज्ञानामृतसागर, स्वरूपदर्शनसूर्य, मनुष्यकृत्सार, शांतिसुधासिन्धु आदि नीतिपूर्ण, तत्त्वगर्भित 40 ग्रन्थरत्नों की रचना करके एक उदाहरण प्रस्तुत किया।

आपके दुर्लभ संस्कृतभाषा-पांडित्य पर बड़े-बड़े विद्वान् पंडित भी मुग्ध हो जाते थे। आपकी ग्रन्थनिर्माण-शैली अपूर्व थी। आपकी भाषण-प्रतिभा, शांत व गंभीर मुद्रा के सामने बड़े-बड़े राजाओं के मस्तक झुकते थे। गुजरात प्रान्त के प्राय: सभी संस्थानाधिपति आपके आज्ञाकारी शिष्य बने हुये हैं। हजारों की संख्या में जैनेतर आपके सदुपदेश से प्रभावित होकर मकारत्रय (मद्य, मांस, मधु) के त्यागी व संयमी बन चुके थे।

गुजरात व बागड़ प्रान्त में आपके द्वारा जो धर्म-प्रभावना हुई वह इतिहास के पृष्ठों पर स्वर्णाक्षरों में चिरकाल तक अंकित रहेगी। गुजरात में कई संस्थाओं ने अपने राज्य में इस तपोधन के जन्मदिन के स्मरणार्थ सार्वजनिक छुट्टी व सार्वत्रिक अहिंसादिवस मनाने के आदेश निकाले हैं। 'सुदसना स्टेट' के प्रजावत्सल नरेश तो इतने भक्त बन गये थे कि मुनि-महाराज का जहाँ-जहाँ विहार होता था, वहाँ प्राय: उनकी उपस्थिति रहती थी। कभी अनिवार्य राज्यकार्य से परवश होकर महाराज से विदा लेने का प्रसंग आने पर 'माता से बिछड़ते हुये पुत्र के समान' नरेश की आँखों में से आँसू बहते थे।

गुजरात में जैन, जैनेतर, हिन्दू एवं मुसलमान उनके चरणों के भक्त थे। अलुवा, माणिकपुर, पेथापुर, डूंगरपुर, बांसवाड़ा, खांदू आदि अनेक स्टेटों के अधिपति आपके सद्गुणों से मुग्ध थे। बड़ौदा राज्य में आपका अपूर्व स्वागत हुआ। राज्य के न्यायमन्दिर में स्टेट के प्रधान सर कृष्णमाचारी की उपस्थिति में आचार्यश्री का सार्वजनिक तत्त्वोपदेश हुआ था।

गुजरात में विहार कर महाराजश्री ने राजस्थान के गड़-प्रान्त को पावन किया। विक्रम-संवत् 2001 में आपका पदार्पण 'धरियावद' हुआ। इसी वर्ष धरियावद में 51 वर्ष की आयु में आषाढ़ कृष्ण 6, रविवार, दिनांक 1-7-1945 ई. को समाधिमरण पूर्वक आपका स्वर्गवास हो गया।

आचार्य विद्यानन्द जी[56]

आचार्य विद्यानन्द जी महाराज वर्तमान में श्रमण-संघ के सबसे प्रमुख आचार्य हैं। आपका जन्म 'बेलगाँव' जिले के 'शेडवाल' ग्राम में हुआ। आपके पिताजी कालप्पा उपाध्ये एवं माताश्री सरस्वती थीं। आपका जन्म 22 अप्रैल, 1925 में हुआ था। बाल्यावस्था का नाम 'सुरेन्द्र' रखा गया। आपकी शिक्षा-दीक्षा 'बेलगाँव' में हुई। आपको ब्रह्मचर्य व्रत, तपोनिधि श्री महावीरकीर्ति जी महाराज से प्राप्त हुये। आचार्य देशभूषण जी महाराज ने आपको दिल्ली में 'मुनि-दीक्षा' प्रदान की। आपने देश के विभिन्न नगरों एवं गाँवों में विहार किया। हिमालय के उत्तुंगशिखर पर जाकर तपस्या की। बद्रीधाम में जाकर आदिनाथ स्वामी के दर्शन किये। आप ओजस्वी वक्ता, मधुर-भाषी एवं आकर्षक व्यक्तित्व के धनी हैं। आचार्य देशभूषण जी की समाधि के पश्चात् दिल्ली जैन-समाज ने आपको 'आचार्य-पद' से अलंकृत किया। आप साहित्य-प्रेमी हैं। प्राकृत-साहित्य में आपकी विशेष रुचि है। नई दिल्ली में 'कुन्दकुन्द भारती' नामक संस्था आपके सान्निध्य में साहित्य-निर्माण व प्रकाशन का कार्य कर रही है। आपकी प्रमुख रचनाओं में विश्वधर्म की रूपरेखा, पिच्छी कमण्डलु, कल्याण-मुनि और सिकन्दर, ईश्वर क्या और कहाँ? — जैसी पुस्तकों के नाम उल्लेखनीय हैं।

आचार्य विद्यानन्द जी का आज सन्त-जगत् में एक विश्वविख्यात नाम है। आपकी वाणी में जादू है और जनता स्वयमेव आपके पास चली आती है। आप मानवता के पोषक हैं और 'मत ठुकराओ, गले लगाओ, धर्म सिखाओ' आपका नारा है।

भगवान् महावीर का 2500वाँ निर्वाणोत्सव, गोम्मटेश्वर सहस्राब्दी महामस्तकाभिषेक गोम्मटगिरि (इंदौर) एवं बावनगजा के महोत्सव, श्रीमहावीर जी का सहस्राब्दी-समारोह आदि अनेकों अभूतपूर्व आयोजन आपके पावन आशीर्वाद एवं मंगलसान्निध्य में अपार गरिमापूर्वक सम्पन्न हुये हैं।

सम्प्रति आप 'नियम-सल्लेखना' का व्रत लेकर आत्मसाधना में निरत हैं।

आचार्य विद्यासागर जी[57]

वर्तमान जैन-आचार्यों में आचार्य विद्यासागर जी का नाम प्रथम पंक्ति में आता है। आप भी दक्षिण भारत से हैं। आपका जन्म कर्नाटक प्रान्त के 'सदलगा' ग्राम में आश्विन शुक्ला पूर्णिमा विक्रम-संवत् 2003 में श्रीमती एवं श्री मलप्पा के यहाँ हुआ। आपका बचपन का नाम 'विद्याधर' था। आपको प्रारम्भ से ही निवृत्ति की ओर भाव था। 22 वर्ष की अवस्था में आपने आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज से 'अजमेर' में 30 जून सन् 1968 को 'मुनि-दीक्षा' ग्रहण की और उन्होंने ही सन् 1972 में आपको 'आचार्य-पद' पर बिठलाकर स्वयं ने 'सल्लेखना-व्रत' धारण कर लिया।

आप त्याग, तपस्या एवं गम्भीर ज्ञान के धारी हैं। आपका विशाल मुनि-संघ

है, जिसमें वर्तमान में 45 उच्च-शिक्षित युवकों को मुनि-दीक्षा एवं ऐलक, क्षुल्लक-दीक्षा देकर उनके जीवन को तपोमय बनाया है। इसी तरह करीब 27 बहनों को आर्यिका-दीक्षा दे चुके हैं। आपका पूरा संघ कठोर तपःसाधना में संलग्न रहता है। आपके दो भाई, पिताजी, माताजी एवं दोनों बहनों ने मुनि एवं आर्यिका-व्रत धारण कर लिये थे।

आचार्यश्री विशाल साहित्य के लेखक एवं निर्माता हैं। आपके स्वरचित-साहित्य, अनूदित-साहित्य, प्रवचन-संग्रह एवं स्फुट रचनायें हैं।

गणधराचार्य कुंथुसागर जी[58]

आपका जन्म 01 जून 1947 तदनुसार ज्येष्ठ शुक्ल 13 वि.सं. 2003 को 'बाठेड़ा' (उदयपुर) राजस्थान में हुआ। आपके पिताश्री पं. देवचन्द जी एवं माताजी का नाम सोहनी देवी था। जन्म नाम 'कन्हैया लाल' रखा गया। आपकी मातृभाषा 'हिन्दी' रही हैं 21 वर्ष की आयु में आपने 9 जुलाई, 1967 को 'मुनि-दीक्षा' धारण की। आपके 'दीक्षा-गुरु' आचार्य महावीरकीर्ति जी थे। सन् 1972 में आपको 'गणधर-पद' एवं 1980 में आपको 'आचार्य-पद' प्रदान किया गया।

तब से देश के विभिन्न नगरों एवं गाँवों में आप निरन्तर विहार कर रहे हैं।

आचार्य वर्धमान सागर जी

वर्तमान में आचार्य शांतिसागर (दक्षिण) की परम्परा में पद पर प्रतिष्ठित पाँचवे आचार्य वर्धमान सागर का जन्म 'सनावद' (मध्यप्रदेश) में हुआ था। आपके पिताजी का नाम कमलचन्द्र जी था। आपने बी.ए. प्रथम वर्ष तक शिक्षा प्राप्त की। आपने 'श्रीमहावीर जी' में फाल्गुन शुक्ल अष्टमी वि. सं. 2025 में आचार्य धर्मसागर जी से 'मुनि-दीक्षा' प्राप्त की थी। आप पर कितने ही उपसर्ग आते रहे। एक बार आपकी आँखों की ज्योति भी चली गई थी; लेकिन आपकी अपूर्व जिनेन्द्र-भक्ति से आँखों की ज्योति पुनः आ गई। यह एक चमत्कार ही था। ग्रंथों का स्वाध्याय, लेखन एवं प्रवचन में आपको विशेष दक्षता प्राप्त हो गई है।

आचार्य अजितसागर जी के समाधिमरण के पश्चात् आपको 'आचार्य-पद' पर प्रतिष्ठित किया गया। आचार्य बनने के पश्चात् आपने दक्षिण-भारत में विहार किया। वर्ष 1993 में आपने भगवान् बाहुबलि गोम्मट्टेश्वर के महामस्तकाभिषेक में लाखों भक्तों को आशीर्वाद दिया। वर्तमान में आचार्य वर्द्धमान सागर जी राजस्थान में विहार कर रहे हैं।

उपाध्याय ज्ञानसागर जी महाराज[59]

उपाध्याय ज्ञानसागर जी का जन्म 'मुरैना' (मध्यप्रदेश) में वैशाख शुक्ला द्वितीया के शुभदिन हुआ। उनके पिता का नाम शांतिलाल एवं माता का नाम अशर्फी

बाई है। बाल्यजीवन से ही निवृत्ति की ओर उनकी अभिरुचि रही। साधुओं की संगति उन्हें अच्छी लगती थी। 'उमेश' इनके घर का नाम था। संगीत में उनकी बहुत रुचि थी। सामान्य-शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् जयपुर (राजस्थान) में संस्कृत का उच्च-अध्ययन किया। 17 मई सन् 1974 को आपने 'क्षुल्लक-दीक्षा' आचार्य कुंथुसागर जी से प्राप्त की और एकाकी विहार करने लगे। आपका क्षुल्लक-जीवन कठोर तपस्या से युक्त रहा। अनेक उपसर्ग आते रहे, लेकिन कभी आपने असन्तोष प्रकट नहीं किया। इसी अवस्था में आचार्य विद्यासागर जी महाराज के सान्निध्य में आये। आचार्यश्री आपके जीवन से बड़े प्रसन्न रहे। क्षुल्लक-अवस्था में उनका नाम 'क्षुल्लक गुणसागर' रखा गया। 13 वर्ष पर्यन्त संघ में रहकर जैन-ग्रंथों का विशिष्ट अध्ययन करने के पश्चात् आपको आचार्यश्री सुमतिसागर जी ने 'मुनि-दीक्षा' एवं 'उपाध्याय-पद' प्रदान किया।

उपाध्याय बनने के पश्चात् आप निरन्तर 10 वर्षों तक उत्तरप्रदेश, राजस्थान, बिहार एवं हरियाणा के विभिन्न गाँवों में विहार करके देश में अहिंसा, जैनधर्म का प्रचार कर रहे हैं।

निष्कर्ष

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि महावीर स्वामी की मृत्यु के पश्चात् जैनधर्म व समाज अनेक उतार-चढ़ावों से गुजरा है। जैनधर्म को धार्मिक-क्षेत्र में निरन्तर आध्यात्मिक-नेतृत्व की आवश्यकता पड़ी। महावीर स्वामी के पश्चात् लगभग 700 वर्ष तक विभिन्न गणधरों व आचार्यों ने जैन समाज को सामाजिक, धार्मिक एवं दार्शनिक नेतृत्व प्रदान किया। मध्यकाल में दिगम्बर मुनियों व आचार्यों के अभाव के कारण जैन-संस्कृति के विघटन की चुनौती उत्पन्न हो गई थी। ऐसी नाजुक स्थिति में भट्टारक-संस्था का जन्म हुआ, जो 19वीं सदी के अन्त तक प्रभावशाली भूमिका निभाती रही। बीच में विक्रम-संवत् का 17वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में भट्टारकों के विरुद्ध विद्रोह ने दिगम्बर जैन-समाज को दो भागों क्रमशः 'बीसपंथी' व 'तेरापंथी' में विभाजित कर दिया। न्यूनाधिक रूप से 20वीं सदी में आज तक भट्टारक-संस्था विद्यमान अवश्य है, किन्तु प्रभावहीन हो चुकी है। 20वीं सदी को साधुओं, मुनियों व आचार्यों की सदी कहा जाये, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। 20वीं सदी दिगम्बर-जैन-समाज के उत्थान की सदी रही है। इस दौरान जैनधर्म, दर्शन व संस्कृति का अद्भुत विकास हुआ है। प्राचीन मन्दिरों का पुनरुद्धार, नये मन्दिरों का निर्माण, मूर्तियों की स्थापना, पंचकल्याणक-महोत्सव आदि की अनवरत धारा प्रवाहित हो रही है। दिगम्बर जैन-समाज के अनेक जागरुक संगठन, साहित्यकार, पत्रकार विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं, साहित्यिक-कृतियों आदि के द्वारा अपने समाज व धर्म के उत्थान में संलग्न हैं।

19-20वीं शताब्दी में दिगम्बर-जैन-समाज की स्थिति का अवलोकन

भारत में स्वतंत्रता-संग्राम का बिगुल 1857 में बज गया था, परन्तु उसको अंग्रेजों ने 'गदर' का नाम देकर दबा दिया। उसके बाद कांग्रेस की स्थापना 1885 में हुई, जिसके द्वारा देश को स्वतंत्र कराने की गतिविधियाँ चलना प्रारम्भ हुईं। इसमें जैन-समाज ने अग्रसर होकर अपना सक्रिय सहयोग दिया। देश के प्रत्येक क्षेत्रों से हजारों कार्यकर्त्ता जेल में गये व अपने जीवन का बलिदान दिया। सन् 1901 में काला-पानी की सजा पाने वाले, जितने लोग अंडमान-निकोबार में थे, उनमें 49 जैन थे।

दिगम्बर जैन महासभा की स्थापना : 1895 में दिगम्बर जैन महासभा की स्थापना हो गई थी, जिसमें उस समय के अग्रणी नेताओं एवं विद्वानों ने अपना सहयोग देना प्रारम्भ किया। प्रथम सभापति मथुरा के सेठ लक्ष्मणदास जी मनोनीत हुये। समाचार-पत्र 'जैन गजट' प्रारम्भ किया गया। 'दिगम्बर जैन महासभा' द्वारा अनेकों महत्त्वपूर्ण कार्य हुये हैं। उन्होंने दिगम्बर जैन समाज की रक्षा के लिये अग्रसर होकर कार्य किये हैं। दिगम्बर जैन तीर्थों की रक्षा, मूर्तियों की सुरक्षा, प्राचीन मन्दिरों के जीर्णोद्धार, आचार्य एवं मुनिराजों के विहार व उनके लिये सभी प्रकार की व्यवस्था कराने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। 'जैन गजट' के सम्पादक बैरिस्टर चम्पतराय जी बहुत समय तक रहे। इसके अध्यक्ष साहू सलेकचन्द्र जी, बैरिस्टर चम्पतराय जी, सेठ हुकुमचन्द्रजी, श्री भागचन्द्र जी सोनी, श्री राजकुमार सिंह कासलीवाल, श्री भँवरलाल बाकलीवाल, श्री चांदमल, पांड्या, श्री लक्ष्मीचन्द छाबड़ा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। सन् 1981 में कोटा-अधिवेशन में श्री निर्मलकुमार सेठी अध्यक्ष मनोनीत हुये, तब से वे निरन्तर अध्यक्ष चले आ रहे हैं।

डॉ. टी.सी. कोठारी के नेतृत्व में दिगम्बर जैन तीर्थ-संरक्षणी महासभा के द्वारा विगत 20 वर्षों में जो मुख्य कार्य किये गये हैं, उनका संक्षिप्त विवरण निम्नानुसार हैं—

(1) सर्वप्रथम 6 साल तक महामंत्री के रूप में एक समय योजना का व्रत लेकर देश के हर प्रान्त में व कई जिला-समितियों का गठन करके संगठन को मजबूत बनाकर हमारे सदस्य बनाये।

(2) हर वर्ष में 2-3 प्रान्तीय व अखिल भारतीय स्तर के सम्मेलन व शिविर लगाये एवं साहित्य-निर्माण कराया।

(3) तीर्थ-क्षेत्रों व प्राचीन मंदिरों के जीर्णोद्धार का सारे भारत में काम किया। काम का विस्तार हाने के बाद तीर्थ-संरक्षणी महासभा का काम किया।

(4) एक करोड़ का ध्रुवकांड-सभा की आर्थिक मजबूती के लिये जमा किया।

(5) कम्बोडिया के अंगकोर स्थित पंचमेरु के जैन-मंदिरों का तथा विदेशों में जैनधर्म के प्रसार का पता लगाने के लिये और युगानुरूप-प्रचार के लिये

विद्वानों को लेकर गये।

(6) U.S.A. व U.K. की यात्राओं व पंच-कल्याणक व विश्वजैन-सम्मलेनों में भाग लिया।

(7) महासभा के शताब्दी-वर्ष में हरेक प्रान्त में सम्मान-समारोह आयोजित करके विद्वानों व प्रतिष्ठित समाजसेवकों व कार्यकर्त्ताओं को सम्मान-पत्र भेंट किये।

(8) आचार्य वर्द्धमान सागरजी को पंचमपट्टाधीश बनाकर सारे भारत में गोम्मटेश्वर कलशाभिषेक के अवसर पर उनका विहार कराने में योगदान किया।

(9) जैनगज़ट, जैन-महिलादर्श एवं जैन-बालादर्श जैसी प्रतिष्ठित पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारम्भ किया एवं इनका सदस्यता-अभियान चलाया।

(10) तीर्थों के जीर्णोद्धार के लिये अध्यक्ष श्री सेठी जी ने 2 वर्ष तक सारे व्यवसाय को छोड़कर पूरा समय लगाकर लाखों रुपये का जीर्णोद्धार के लिये दान दिलाकर निर्माण-कार्य कराया।

उस समय समाज की स्थिति : उस समय दिगम्बर जैन समाज अत्यन्त रूढ़िवादी, कर्मकाण्डों में लिप्त था और शिक्षा से वंचित था। जाति-प्रथा और साम्प्रदायिकता लोगों की नस-नस में व्याप्त थी, लोग प्रेस में छपे ग्रंथों को छूना तक पाप समझते थे। किसी का जाति से बहिष्कृत कर देना मामूली बात थी, समाज में बाल-विवाहों का प्रचलन था, बहुत कम उम्र की जो लड़कियाँ विधवा हो जाती थीं, उनके पुनर्विवाह की समाज में मान्यता नहीं थी। साधारण कारणों से ही जाति से बहिष्कृत कर देने के कारण 'दस्सा समाज' का जन्म हुआ। जिन्हें मन्दिरों में दर्शन, पूजन से वंचित कर दिया ज़ाता था व बिरादरी में सम्मिलित नहीं होने दिया जाता था। जवान या बड़ी उम्र में मरने पर समस्त गाँववालों को भोजन कराना, रिश्तेदारों व परिवारवालों में मिष्ठान व पारितोषिक वितरण करना अनिवार्य था, कर्ज लेकर भी करना पड़ता था। दिगम्बर-जैन-समाज की उपजातियों में विवाहों आदि को 'धर्म-विरुद्ध' कहकर समाज को अनेक उपजातियों में बाँट रखा था। विवाह के अवसर पर नाचनेवालियों आदि को समारोहों में बुलाने जैसे आडम्बरपूर्ण कार्यों पर अनाप-शनाप व्यय हो रहा था।

भारत जैन महामण्डल की स्थापना : सन् 1892 में वर्धा (महा.) में 'जैन-सभा' के नाम से संस्था का गठन हुआ, जिसमें अनेक सुधारवादी कार्यकर्त्ता सम्मिलित हुये। सन् 1899 में 'जैन यंगमैन एसोसियशन' की स्थापना जाति व सम्प्रदाय के भेद को गौंण करके समस्त जैन-समाज के आधार पर गठित हुई, जिसका प्रथम अधिवेशन रायबहादुर सुल्तानसिंह जी की अध्यक्षता में हुआ। धीरे-धीरे देश के सभी क्षेत्रों के महानुभाव इसमें सम्मिलित होने लगे। कुछ समय बाद इसका नाम 'ऑल इण्डिया जैन एसोसियशन' कर दिया गया, आज यह संस्था

'भारत जैन महामण्डल' के नाम से कार्य कर रही है। 'जैन-जगत्' इसका मुख्य समाचार-पत्र है। भगवान् महावीर का 2500वां निर्वाण-महोत्सव को मनाने की प्रेरणा इस संस्था द्वारा ही दी गई। इसमें समाज के अग्रणी आचार्यों का सहयोग प्राप्त हुआ।

बम्बई प्रांतिक सभा की स्थापना : लगभग 90 वर्ष पूर्व हुये सेठ माणकचन्द जी, मुम्बई निवासी ने 'मुम्बई दिगम्बर जैन प्रांतिक सभा' की स्थापना की व समाचार-पत्र 'जैनमित्र' का प्रकाशन आरम्भ किया।

दिगम्बर जैनपरिषद् की स्थापना : जैन बिम्ब-प्रतिष्ठा के अवसर पर दिल्ली में दिनांक 26 जनवरी, 1923 को श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा का अधिवेशन 'श्री खण्डेलवाल सभा' के मंडप में हो रहा था। श्रीमान् साहू जुगमुन्दर दास जी ने 'जैन गजट' के संपादक के लिये स्व. बाबू चम्पतरायजी का नाम पेश किया, इसका समर्थन बाबू निर्मलकुमार जी ने किया; किन्तु कुछ सज्जनों ने माननीय बैरिस्टर जी (जो महासभा के सभापति पद को सुशोभित कर चुके थे, और जिन्होंने अपने सभापतित्व में महासभा की श्लाघनीय सेवायें की थीं) को अयोग्य शब्द कहे जिनसे झलकता था कि वे बैरिस्टर जी को जैन-धर्म का अश्रद्धालु प्रमाणित कर रहे हैं। इस अयोग्य बर्ताव से अनेकों जनों का मन महासभा के अधिवेशन में सम्मिलित होने से उदास हो गया। इसी कारण वे लोग रात को महासभा की सबजैक्ट कमेटी में सम्मिलित न होकर सामाजिक उन्नति तथा धर्म-प्रचार के लिये अन्य संगठन का विचार करने में लग गये। इन सज्जनों की दूसरे दिन, 27 जनवरी, को सभा हुई।

दिल्ली में 27 जनवरी, 1923 को रायसाहब बाबू प्यारेलाल जी वकील के घर में एक साथ बैठकर सभा आमंत्रित कर निश्चित हुआ कि इस सभा के सभापति रायबहादुर ताजिरुलमुल्क सेठ माणिकचन्द जी, झालरापाटन सर्वसम्मति से निर्वाचित किया जाये। सेठ साहब ने सभापति का आसन ग्रहण किया। तत्पश्चात् निम्नलिखित प्रस्ताव सर्वसम्मति से निर्णित हुये —

1. दिगम्बर जैनधर्म के प्रचार और जैन-समाज की उन्नति के उद्देश्य से 'भारतवर्षीय दिगम्बर जैन-परिषद्' के नाम से संस्था स्थापित की जाये।
2. रायबहादुर ताजिरुलमुल्क सेठ माणिकचन्द जी इस परिषद् के सभापति निर्वाचित किये जायें। श्रीयूत बैरिस्टर चम्पतरायजी मंत्री और रतनलाल जी बिजनौर और बाबू बजितप्रसाद जी वकील, लखनऊ सहमंत्री और श्रीयूत लाला देवीदास जी (सभापति स्थानीय जैन सभा लखनऊ) कोषाध्यक्ष नियुक्त किये जायें।
3. इस परिषद् का एक पाक्षिक मुखपत्र 'वीर' हिन्दी में प्रकाशित किया जाये। सौ से अधिक महाशयों ने इस परिषद् का सदस्य होना स्वीकार किया और सूची पर हस्ताक्षर कर दिया, तब से यह संस्थान सुधार विचारधारा को लेकर प्रगति-पथ पर चल रही है।

जबलपुर काण्ड : सन् 1958 में दिगम्बर जैन-समाज को जबलपुर काण्ड ने चेतावनी दी कि 'जागो और अपने अस्तित्व की रक्षा करो, अन्यथा मिट जाओगे।' इस चेतावनी एवं काण्ड के फलस्वरूप अप्रैल 1959 में दिल्ली में सकल दिगम्बर जैन-समाज का अधिवेशन आयोजित किया गया, जिसमें महासभा, परिषद्, विद्वद्-परिषद्, तीर्थक्षेत्र-कमेटी आदि संस्थाओं के सभी अग्रणीय महानुभावों एवं विद्वानों ने भाग लिया। सभी महानुभावों का हृदय जबलपुर-काण्ड से दु:खी था, सभी की भावना थी कि समाज संगठित हो व तीर्थों की रक्षा की जाये एवं जैन एवं सरसेठ भागचन्द्र सोनी जी की अध्यक्षता में हुआ व स्वागताध्यक्ष स्व. लाला राजेन्द्र कुमार जैन जी थे। सभी की तीव्र भावना थी कि समाज की एकता को कायम रखकर ही अप्रिय घटनाओं का मुकाबला करें। महासभा के नियम नं. 9 को निकाल दिया जाये, परिषद् को समाप्त कर उसके सभी सदस्य महासभा में विलीन कर, केवल महासभा ही समस्त समाज का सामाजिक नेतृत्व करे, किन्तु समाज का दुर्भाग्य कि महासभा नियम नं. 9 को पृथक् करने को तैयार नहीं हुई। इसके नियमानुसार जैन उपजातियों में विवाह तथा विधवा के समर्थन करने वाले महासभा के सदस्य नहीं हो सकते थे। 'जबलपुर काण्ड' दिगम्बर-जैन-मन्दिरों की मूर्तियों को खण्डित करने पर हुआ था।

भगवान् महावीर के 2500वें निर्वाण-महोत्सव मनाने का निर्णय : सन् 1969 में आ. भा. दिगम्बर जैन परिषद् ने **आचार्य विद्यानंद जी मुनिराज** के सान्निध्य में दिगम्बर जैन समाज की अखिल भारतीय संस्थाओं के प्रतिनिधियों का सम्मेलन सहारनपुर में बुलाया, जिसकी अध्यक्षता स्व. सेठ भागचन्द जी सोनी ने की। सम्मेलन में सभी संस्थाओं के प्रमुख महानुभावों एवं विद्वानों ने भाग लेकर निर्णय किया कि भगवान् महावीर का 2500वां निर्वाण-महोत्सव समस्त दिगम्बर जैन-समाज मिलकर मनाये। इस निर्णय के आधार पर महोत्सव देश-भर में विशालरूप से मनाये गये, जिससे सम्पूर्ण समाज सुपरिचित ही है। इस महोत्सव से समाज की एकता, संगठन की शक्ति का परिचय भी प्राप्त हुआ।

'दिगम्बर जैन महासमिति' के गठन का विचार : भगवान् महावीर के निर्वाण-महोत्सव पर अर्जित सामाजिक शक्ति, संगठन को बनाये रखने के विचार से दिल्ली में सन् 1975 में एक सम्मेलन बुलाया गया, जिसमें सभी संस्थाओं के प्रतिनिधि शामिल हुये। सभी की एक ही भावना थी कि जो समाज की एकता व संगठन की शक्ति बनी रहे, उसे बनाये रखा जाये। इसे रचनात्मक मोड़ देकर जीवित रखा जाये। यह भी सुझाव आया कि दिगम्बर जैन-समाज की दोनों प्रमुख संस्थाओं — महासभा और परिषद् को मिलाकर 'दिगम्बर जैन महासमिति' का गठन महासभा व परिषद् संस्था के विलीन होने पर ही किया जाये। कुछ समय बाद यह स्पष्ट हुआ कि 'महासभा' अपना पृथक् अस्तित्व चाहती है, जिनके बाद महासमिति के गठन का विचार छोड़ दिया गया।

प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी से दिगम्बर जैन समाज का एक प्रतिनिधिमण्डल सामाजिक समस्याओं के निराकरण-हेतु मई 4, 1976 को मिला, प्रतिनिधिमण्डल में साहू शांतिप्रसाद जी सेठ भागचन्द्र सोनी, सेठ राजकुमार सिंह कासलीवाल, श्री लक्ष्मीचन्द जी छाबड़ा, साहू श्रेयांस प्रसाद जी, श्री मिश्रीलाल गंगवाल एवं श्री अक्षयकुमार जैन आदि प्रमुख थे। प्रधानमंत्री से भेंट करके वापिस आने पर परस्पर सामाजिक चर्चाओं में श्री मिश्रीलाल जी गंगवाल ने साहू शांतिप्रसाद पर जोर डालकर कहा कि "आप महासमिति का गठन करें, हम सब आपके साथ हैं", कुछ आवश्यक विचार-विमर्श के बाद 'दिगम्बर जैन महासमिति' के गठन का निर्णय लिया गया, निर्णय पर उपस्थित महानुभावों ने हस्ताक्षर किये, उसके बाद जयपुर में अक्तूबर, 1976, में भगवान् महावीर के 2500वें निर्वाण-महोत्सव के समापन के आयोजित विशाल कार्यक्रम में जिसमें देश के सभी दिगम्बर जैन संस्थाओं के प्रमुख व्यक्ति सम्मिलित हुये, उन सबसे मिलकर 'दिगम्बर जैन महासमिति' का गठन किया तथा महासमिति के विधान को अंतिम रूप के लिये उपसमिति का गठन किया गया।

4 मई, 1976, की बैठक में हुये निर्णय के बाद समाज को तोड़ने, दूषित वातावरण बनाने वाले तत्त्वों ने अन्ततः सितम्बर माह में ही जिनवाणी का अनादर, जल-प्रवाह, जलाना आदि कार्य शुरू किये गये, जिससे सम्पूर्ण जैन-समाज चिंतित हुआ। तब खुरई (म.प्र.) के श्रीमंत सेठ ऋषभकुमार जी एवं कलकत्ता के सेठ श्री पन्नालाल एवं रतनलाल गंगवाल जी ने अपने सद्प्रयासों से दिगम्बर जैन-समाज की अ.भा. संस्थाओं के पदाधिकारियों तथा अन्य प्रमुख महानुभावों की स्वीकृति प्राप्त कर एक सार्वजनिक अपील प्रकाशित की, जिसमें सभी ने इस कार्य को निदंनीय माना। **आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज** ने भी इस काण्ड का विरोध किया। भगवान् महावीर के 2500 वें निर्वाण-महोत्सव के समापन-समारोह, अक्तूबर, 1976, में जयपुर में साहू शांतिप्रसाद जी के प्रतिनिधियों ने भी भाग लिया। उपस्थिति महानुभावों के हृदय में जिनवाणी के प्रति गहन पीड़ा थी। सभी ने अपने-अपने विचार व्यक्त कर इस कार्य की घोर निंदा की तथा भविष्य में ऐसे निंदनीय कार्य न हों, इसके लिये अपील की गई कि **"जिनवाणी का प्रकाशन किसी संस्थान द्वारा हो, वह समस्त समाज के लिये पूजनीय है।"** समय-समय पर दिगम्बर जैन-समाज पर आपत्तियाँ आती रहीं, जैसे मुनिराजों के विचरण व सुरक्षा पर, दिगम्बर जैन मन्दिरों की सम्पत्ति आदि पर सरकार का अधिकार इत्यादि अपने प्रयासों से निराकरण किया गया व दिगम्बर जैन-तीर्थों पर अनधिकार कब्जा करने के प्रयास का भी समाज ने सामना किया।

साहू शांतिप्रसाद जी का निधन : सामाजिक घटनाक्रम में जैन-समाज का वज्रपात हुआ, कुशल एवं सम्मानीय नेता साहू शांतिप्रसादजी का स्वर्गवास हो गया।

उनके स्वर्गारोहण के पश्चात् महासमिति की एक बैठक 18 दिसम्बर, 1977 को दिल्ली में आयोजित की गई, जिसमें अध्यक्ष का दायित्व साहू श्रेयांस प्रसादजी को सौंपा गया। उन्होंने बड़ी लगन से इसके कार्य की प्रगति की। जिस भावना को लेकर महासमिति का गठन हुआ, वह तो पूर्ण नहीं हुआ। कुछ तत्त्व इसे शक्तिशाली बनाने में बाधा डालते रहे, तथा सामाजिक रीति-रिवाजों में आगम के नाम पर धर्म-विरोधी होने का प्रचार आदि अनेकों कारणों से समाज में वाद-विवाद का वातावरण बना दिया गया। सामाजिक नेतृत्व करने की तीव्र अभिलाषा में कुछ लोगों ने समाज को खण्डित करने में अपना गौरव समझा। साहू श्रेयांसप्रसाद जी ने दिगम्बर जैन महासमिति के अध्यक्ष पद का भार श्री रतनलाल गंगवाल जी को अपने जीवनकाल में ही सौंप दिया, क्योंकि उनका स्वास्थ्य नरम चल रहा था।

अ.भा. दिगम्बर जैन अधिवेशनों, सम्मेलनों, बैठकों में सोनगढ़ ट्रस्ट एवं पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर आदि के प्रतिनिधियों को आमंत्रित किया जाता रहा है, तथा उनके प्रतिनिधि भाग लेते रहे। भगवान् महावीर के 2500वें निर्वाण-महोत्सव समिति में भी उनके प्रतिनिधियों को सम्मिलित किया गया तथा उन्होंने हर कार्य में भरपूर सहयोग दिया व बराबर सहयोग दे रहे हैं।

आध्यात्मिक सत्पुरुष कानजी स्वामीजी दिगम्बरतत्त्व में पूर्ण श्रद्धा रखते थे। उन्होंने जब दिगम्बर-जैनधर्म अपनाया, उस समय विरोधियों ने नानाप्रकार की धमकियाँ दीं, हमले करने की योजना बनाई, हमले भी किये। यह जानकारी प्राप्त होते ही सरसेठ हुकुमचन्द जी, साहू शांतिप्रसाद जी व दिगम्बर जैन-समाज के प्रसिद्ध विद्वानों व समाज के अग्रणी महानुभावों ने उन्हें सहयोग दिया। उन्होंने आध्यात्मिकता का व्यापक प्रचार किया, अनेकों दिगम्बर जैन-मन्दिरों का निर्माण कराया, हजारों परिवारों ने दिगम्बर जैन-धर्म में प्रवेश किया। आज इनकी संस्थाओं द्वारा देश-विदेशों में व्यापक प्रचार हो रहा है। बड़ी संख्या में साहित्य प्रकाशित होकर घर-घर पहुँच रहा है। स्वाध्याय करने का मार्ग व्यापक हुआ, कई समाचार प्रकाशित हो रहे हैं। मुमुक्ष-मण्डल सक्रिय कार्य कर रहे हैं।

समाज की अन्य गतिविधियाँ : आचार्य श्री विद्यानंद जी ने अपने दूरदर्शिता से समय-समय पर समाज को टूटने से बचाया, उनके द्वारा व आचार्य विद्यासागर जी व अन्य मुनि-महाराजों, द्वारा व्यापकरूप से धर्म के प्रचार-प्रसार के कार्य चल रहे हैं। धर्म जोड़ता है, तोड़ता नहीं — इसका संदेश दे रहे हैं।

सामूहिक विवाह : विवाहों में होने वाले अपव्यय के कारण सामूहिक विवाह प्रारंभ हुये, जिसमें सभी समाजों के बन्धुओं का सहयोग प्राप्त हुआ। बैरिस्टर जमुनाप्रसाद जी, सेठ भगवानदास शोभालाल जी आदि के नेतृत्व में सामूहिक विवाहों के आयोजन प्रारम्भ हुये व उन्होंने अपने बच्चों के विवाह भी सम्पन्न कराये, आज अनेकों जातियों व संस्थाओं द्वारा भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में आयोजित हो रहे हैं, जिसका

लाभ प्राप्त हो रहा है।

— गजरथों का प्रारम्भ पंचकल्याणकों महोत्वसों के साथ बुंदेलखण्ड में प्रारम्भ हुआ, इसमें 'सिंघई' की पदवी प्राप्त करने का मुख्य लक्ष्य है, इसमें भगवान् के रथों को हाथियों से चलाया जाता है।

— मालवा-क्षेत्र में लगभग 200 जैन-परिवार जो धर्म से पिछड़ रहे थे, सरसेठ हुकुमचन्द जी, इन्दौर वालों, की दूरदृष्टिता व प्रयास से उन्हें दिगम्बर जैनधर्म में प्रवेश कराकर 'वैद गोत्र' देकर समाज से जोड़ा गया।

— आचार्य समन्तभद्र जी की प्रेरणा से महाराष्ट्र, कर्नाटक आदि प्रदेशों में अनेकों ब्रह्मचर्य आश्रम, गुरुकुल, छात्रावास का निर्माण हुआ, जिनमें बड़ी संख्या में छात्रों को धार्मिक शिक्षा प्राप्त करने के अवसर प्राप्त हुये। उनमें से कई छात्र आज उच्च-पदों पर आसीन हैं। महाराष्ट्र, कर्नाटक, तमिलनाडु के गाँवों में सैकड़ों वर्षों से दिगम्बर-जैन बड़ी संख्या में रहते हैं। जो कृषि-आदि से अपना जीवन व्यतीत करते हैं। उनके बच्चों के लिये यह गुरुकुल आदि अत्यन्त उपयोगी साबित हुई, यहाँ के निवासी धर्म में श्रद्धा, जीवन सादगी के साथ निर्वाह करते हैं।

— कुछ वर्षों तक दिगम्बर जैन मुनि-महाराजों का अभाव रहा है। बाद में आचार्य शांतिसागर जी ने अपने संघ के साथ अधिकाधिक प्रदेशों का भ्रमण कर समाज में धार्मिक चेतना पैदा की। उनके भ्रमण में इतर समाज ने नाना प्रकार की बाधायें खड़ी कीं, जिनका निवारण समाज ने एकजुट होकर किया व सफलता प्राप्त की। आज देश के प्रत्येक क्षेत्र में बड़ी संख्या में मुनिगणों का भ्रमण बिना किसी बाधा के हो रहा है। आचार्य शांतिसागर जी के संघ के अतिरिक्त दूसरा संघ आदिसागर जी का भी है। आज इस संघ के भी मुनिगण विहार कर रहे हैं। जैन-समाज में आचार्य विद्यानन्द जी व आचार्य विद्यासागर का प्रमुख स्थान है।

— भगवान् महावीर के 2500वें निर्वाण-महोत्सव पर आचार्य विद्यानन्द जी की प्रेरणा व आशीर्वाद से समस्त जैन-समाजों की मान्यता प्राप्त 'जैन प्रतीक', पाँच रंग ध्वज एवं समणग्रंथ की जैन की देन एक ऐतिहासिक निर्णय हुये हैं।

— दक्षिण-भारत जैन-सभा सांगली (महा.) की प्रसिद्ध संस्था है, जिसके द्वारा पूना से लेकर कोल्हापुर, बेलगाँव आदि क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण कार्य हुये हैं। इनका समाचार-पत्र 'जैनबोधक' सौ वर्ष से अधिक से प्रकाशित होता है, सम्प्रति इसकी संपादिका सौ. सरयू दफ्तरी जी हैं। यह संस्था अब भी सक्रिय कार्य कर रही है। इस संस्था ने सांगली में 1964 में 'भारत जैन-महामण्डल' का विशाल अधिवेशन कराया, जिसमें भगवान् महावीर का 2500वां निर्वाण-महोत्सव मनाने का निर्णय किया गया।

— ब्र. शीतलप्रसाद जी ने 'सराक-जाति' में दिगम्बर जैन-धर्म में उनकी आस्था बनाने के कार्य करने की प्रेरणा दी, जिसके कारण धर्म से विमुख हुई यह जाति, जो अन्य धर्म को अंगीकार कर सकती थी, उसे बचाकर दिगम्बर जैनधर्म में प्रवेश कराने के कार्य को प्रारम्भ कराया। आज यह प्रचार व्यापक रूप से चल रहा है व सफलता प्राप्त हो रही है। सराक जाति अधिकतर बिहार-प्रदेश में निवास करती है।

— दिगम्बर जैन-तीर्थक्षेत्र कमेटी को शक्तिशाली बनाने के लिये आचार्य समन्तभद्र जी की प्रेरणा महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। तीर्थों पर चले रहे विवादों के केस आज भी अदालतों में चल रहे हैं, जिनमें समाज को सफलता प्राप्त हो रही है। आज समाज अपने तीर्थों व मन्दिरों की रक्षा के लिये जागरुक है। दिगम्बर जैन-तीर्थों को कमेटी द्वारा आर्थिक सहयोग दिया जाता है।

— जैनधर्म का प्रमुख ग्रंथ 'धवला' का प्रकाशन सेठ शिताबराय लक्ष्मीचन्द जी जैन, विदिशा द्वारा प्रथम बार कराया।

— बहुत बड़ी संख्या में हस्तलिखित महत्त्वपूर्ण ग्रंथ अलमारियों में बन्द पड़े हुये हैं, उनके प्रकाशन के लिये प्रयास प्रारम्भ हुये, जिनमें आज सैकड़ों ग्रंथों का प्रकाशन हो चुका है।

— स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी, गणेशप्रसाद वर्णी विद्यालय, सागर, महाविद्यालय कारंजा (महा.) जैन गुरुकुल श्री हस्तिनापुर जी, मुरैना का प्रसिद्ध महाविद्यालय, महाराष्ट्र व कर्नाटक प्रदेशों में कई महत्त्वपूर्ण विद्यालयों, संस्कृत महाविद्यालय, जयपुर, ऐसे महत्त्वपूर्ण विद्यालय हुये, जिनके द्वारा समाज में अनेकों, उच्च-कोटि के विद्वान तैयार किये हैं। आज इस कार्य में टोडरमल स्मारक ट्रस्ट द्वारा भी विद्यालय चल रहा है, जहाँ अनेकों छात्रों को उच्च-कोटि के विद्वान् तैयार करते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य विद्यालयों में भी शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्रों को विद्वान् बनाया जाता है। दिगम्बर जैन-समाज में महिला-परिषदों की स्थापना हुई है। अ.भा. संस्थाओं द्वारा महिला विभाग गठित कर उनके द्वारा व्यापक-रूप से समाज में अग्रसर होकर कार्य कर रही हैं।

— समाज में रात्रि-भोजन का चलन नहीं था, समस्त समाज दिन में भोज करता था, जिसकी छाप इतर-समाजों पर पड़ी हुई थी। दुर्भाग्य से आज वह स्थिति नहीं है। रात्रि-भोजन सामूहिक रूप से हो रहे हैं, जो धर्म-विरुद्ध हैं। समाज को इस पर चिंतन कर दिन में ही सामूहिक भोजन करने की व्यवस्था करनी चाहिये। धनी वर्ग को विशेष ध्यान देना चाहिये। हमारा इस दिशा में साधु-समाज जल्दी सुधार ला सकते हैं।

— समाज के दिगम्बर जैनधर्म की प्रगति व रक्षा के लिये जिस दूरदर्शिता से दिन-रात लगन के साथ पूज्य ब्र. शीतलप्रसाद जी ने जो कार्य किये, उसे समाज हजारों वर्ष याद रखेगा। उन्होंने अनेकों प्रकार की कठिनाइयों को भी सहन किया, हमारे पास शब्द नहीं हैं, जो उनके प्रति श्रद्धा के सुमन अर्पित किया जा सकें।

— भारत के स्वतंत्रता के बाद भारत में भिन्न-भिन्न धर्मों के माननेवालों की जानकारी-हेतु शासकीय जनगणना में जो कॉलम दर्शायी हैं, उनमें जैनधर्म को पृथक् स्थान दिया गया है, जिसमें केवल 'जैन' लिखवाना अनिवार्य है। जैनधर्म को मानने वाले अनेकों उपजातियाँ, गोत्र अपने नाम के साथ उल्लेख करते हैं, इसकारण व्यापकरूप से प्रचार-प्रसार किया गया कि कॉलम में केवल 'जैन' ही लिखवायें। जैन एक करोड़ से अधिक हैं, परन्तु शासकीय जनगणना में केवल लगभग 40 लाख की संख्या आती है। इसका कारण है कि जैनियों को हिन्दू के कॉलम में अंकित कर दिया जाता है। हमारे कार्यकर्त्ता उनके साथ लगकर जैन लिखवाने के लिये सक्रिय होकर कार्य नहीं करते हैं। जैनियों की बड़ी संख्या आये, इसका व्यापक प्रचार-प्रसार होना चाहिये तथा आवश्यक कार्य लगन से हो, यह अतिआवश्यक है।

— शिक्षा-प्राप्ति के लिये जैन-समाज द्वारा अनेकों कॉलिज, हायर सेकेन्डरी स्कूल, मिडिलस्कूल, गर्ल्स हाईस्कूल, पाठशालायें आदि लगभग 400 से अधिक इस देश के प्रत्येक क्षेत्रों में चल रहे हैं, जिनमें बड़ी संख्या में छात्र-छात्रायें शिक्षा प्राप्त करती हैं।

— जैन-समाज की गतिविधियों की जानकारी हेतु एवं जैनधर्म के प्रचार-प्रसार के कार्य को प्रगति देने के लिये लगभग 200 जैन पत्र-पत्रिकायें आज प्रकाशित हो रही हैं, जिनके द्वारा व्यापक प्रचार-प्रसार होता है, इनमें कुछ समाचार-पत्र अखिल भारतीय संस्थाओं से जुड़े हुये हैं।

— भारत के स्वतंत्रता के पश्चात् स्वदेशी वस्तुओं को उपयोग में लाने का व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ। विदेशी वस्त्रों का त्याग एवं स्वदेशी वस्त्रों को ग्रहण किया, पूजा-स्थलों में जो विदेशी वस्त्रों का उपयोग होता था, उसके स्थान पर स्वदेशी वस्त्रों को स्थान दिया गया।

— समस्त दिगम्बर जैन-समाज परिचित है कि दिगम्बर जैन-मुनि-संघ का अभाव मुस्लिम शासन में हुआ। उस समय भट्टारक-पद्धति प्रारम्भ हुई थी। भट्टारक-महाराजों ने अपने गद्दी स्थापित की, जिसके साथ जमींदारी आदि भी उन्हें प्राप्त हुई। उन्होंने बड़ी संख्या में प्राचीन-ग्रंथों व बहुमूल्य मूर्तियों की सुरक्षा की। आज जिन स्थानों पर यह गद्दियाँ शोभायमान है, उनमें

श्रवणबेलगोला, जहाँ भगवान बाहुबलि की विशाल मूर्ति स्थापित है; जिसमें अभिषेक के दो बार विशाल आयोजन हो चुके हैं। वे मूडबिद्री, हुमचा, कोल्हापुर की गद्दियाँ अपना प्रमुख स्थान रखती हैं। सभी भट्टारकों द्वारा समाज के प्रत्येक कार्यक्रमों में पूरा सहयोग प्राप्त होता रहता है। मूडबिद्री में 'सिद्धान्तबसदि' में हीरे-पन्ने आदि की बहुमूल्य मूर्तियाँ सुरक्षित हैं।

महावीर-जयंती मनाने का प्रारम्भ : दिल्ली की प्रसिद्ध संस्था 'जैन-मित्र-मण्डल' द्वारा भगवान् का जन्म-दिवस मनाया जाना प्रारम्भ हुआ, उसके पश्चात् भारत में अनेकों संस्थाओं द्वारा यह दिवस मनाने का कार्य प्रारम्भ हो गया। आज कोई ऐसा क्षेत्र नहीं, जहाँ यह दिवस मनाया नहीं जाता हो। इस दिवस पर विशाल शोभायात्रायें निकाली जाती हैं। समारोह में देश के राजनीतिज्ञ, शासकीय अधिकारी, मंत्रीगण, साधु-साध्वी, विद्वानों के अतिरिक्त हजारों की संख्या में भाई-बहन सम्मिलित होते हैं। केन्द्र सरकार व प्रादेशिक सरकारों द्वारा सार्वजनिक अवकाश रहते हैं।

महावीर-जयंती पर केन्द्र सरकार द्वारा अवकाश घोषित : स्वतंत्रता के बाद सबसे प्रथम बनी लोकसभा एवं राज्यसभा में जैन-समाज के 22 सदस्य थे, उन्होंने मिलकर उसके अतिरिक्त जैन-समाज के अन्य अग्रणीय व्यक्तियों को लेकर 'आल इंडिया महावीर जयंती कमेटी' के नाम से संस्था गठित की, जिसके द्वारा प्रतिवर्ष विशाल आयोजन होने प्रारम्भ हुये, जिनमें राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री व अन्य मंत्रीगणों के अतिरिक्त समाज के प्रमुख आचार्य मुनिगण, विद्वान् व बड़ी संख्या में समाजसेवी सम्मिलित होते रहे। इस समिति के तत्त्वावधान में भगवान् महावीर के जन्मदिन के लिये सार्वजनिक अवकाश कराने की माँग को लेकर बराबर प्रतिनिधिमण्डल गृहमंत्री व प्रधानमंत्री जी से मिलते रहे। केन्द्रीय सरकार द्वारा अवकाश घोषित करने के पश्चात् इस समिति को बन्द कर दिया गया। दिल्ली के रामलीला मैदान में इस सम्बन्ध में विशाल आयोजन इसी कमेटी ने ही किया था।

बच्चों में नैतिक-शिक्षा : पिछले कुछ वर्षों से बच्चों में नैतिक-शिक्षा देने के लिये प्रचार-प्रसार किया जा रहा है। शिक्षण-शिविरों के आयोजन में विद्वानों द्वारा बच्चों में नैतिक-शिक्षा देने का प्रयास चल रहा है। गर्मियों की छुट्टियों में शिविरों के आयोजन किये जाते हैं।

पारितोषिक योजनायें : भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा देश की भिन्न-भिन्न भाषाओं के विद्वानों द्वारा जो साहित्य प्रकाशित होता है, उनमें से चयन करके यह संस्था प्रतिवर्ष विशाल आयोजन कर उन्हें सम्मानित करती है। आचार्य विद्यानंद जी मुनिराज की प्रेरणा से जैनधर्म के प्रसिद्ध विद्वानों को भी भिन्न-भिन्न विषयों पर सम्मानित किया जाना प्रारम्भ हुआ है।

जम्बूद्वीप की रचना : तीर्थक्षेत्र श्री हस्तिनापुर जी में दिगम्बर जैन-त्रिलोक-संस्थान द्वारा जम्बूद्वीप की विशाल रचना की गई है, जो महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। आर्यिका ज्ञानमति जी की लगन से यह रचना हुई है।

तीर्थराज श्री सम्मेदशिखर जी का विवाद : जैन-समाज का तीर्थराज श्री सम्मेदशिखर जी हैं। श्वेताम्बर जैन-समाज के साथ पिछले 100 वर्षों से अधिक न्यायालयों में भिन्न-भिन्न केस चलते आ रहे हैं। देश की स्वतंत्रता से पूर्व अंग्रेजी-राज में सुप्रीम कोर्ट लन्दन में होती थी, उसमें भी इस विवाद के लिये केस चला, जिसमें बैरिस्टर चम्पतराय जी ने पैरवी करके यह निर्णय लिया कि दिगम्बर जैन आम्नाय के अनुसार श्री सम्मेदशिखर जी की 20 टोंके हैं। केवल पूजा-आदि करने का समस्त जैन-समाज को अधिकार है। परन्तु श्वेताम्बर-समाज उन पर अपना मालिकाना हक मानते रहे हैं। बिहार प्रान्त के जिला गिरिडीह आदि में इस सम्बंध में अनेकों केस चल रहे हैं। पिछले 5-6 वर्ष पूर्व इन समस्त केसों को बिहार की रांची हाईकोर्ट में एक जगह कर केस प्रारम्भ किया। अनेकों उच्च-कोटि के एडवोकेट दोनों ओर से अपनी-अपनी बहस करते रहे। पिछले 3 वर्ष हुये, रांची हाईकोर्ट द्वारा जो निर्णय किया, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है; उसके द्वारा समस्त पहाड़ का मालिकाना अधिकार समस्त जैन-समाज को दिया गया है, व उन्हें यह भी अधिकार दिया कि वह आपस में मिलकर इसकी व्यवस्था करें। अब बिहार सरकार ने दिगम्बर जैन-समाज एवं श्वेताम्बर (आनंदजी कल्याणजी ट्रस्ट) समाज के साथ शासकीय अधिकारियों को मिलाकर एक व्यवस्था-समिति का गठन कर दिया है, जिसकी देखरेख में यह कार्य चल रहा है। **इस कार्य में दिगम्बर जैन-समाज को जो सफलता प्राप्त हुई, इसका समस्त जैन-समाज के संगठन को श्रेय जाता है, जिसका नेतृत्त्व साहू अशोक कुमार जी कर रहे थे।**

मांश्री चन्दाबाई जी, आरा : आर्यिकारत्न चन्दा मांश्री का विवाह 12 वर्ष की आयु में राजर्षि देवकुमार जी, आरा (बिहार), के लघु-भ्राता श्री धर्मकुमार जी के साथ सम्पन्न हुआ। विवाह के एक वर्ष बाद ही प्लेग के फैलने से धर्मकुमार जी का निधन हो गया। 13 वर्ष की अल्पायु में वह विधवा हो गईं। ब्र. शीतलप्रसाद एवं भट्टारक ने मीसागर जी वर्णी के मार्गदर्शन एवं उपदेशों से इन्होंने जैनधर्म के प्रमुख-ग्रंथों का स्वाध्याय करना प्रारंभ कर दिया व अपना सारा जीवन का समय उनमें व्यतीत करने लगीं। 20 वर्ष की आयु में वे एक प्रसिद्ध विदुषी बन गईं। 1907 में 'आरा कन्या पाठशाला' स्थापित कर उसकी देखरेख करते हुये अध्ययन का कार्य करती रहीं। दिगम्बर जैन-महिला-परिषद् का गठन किया। सन् 1921 में महिलाश्रम की स्थापना कर उसका नाम 'धर्मकुंज' रखा गया। इनके इस कार्य का प्रभाव देश के कोने-कोने में हुआ। आश्रम में जैन-बालाश्रम का भी प्रारम्भ किया गया। गांधीजी

द्वारा चलाये गये खादी-आंदोलन से प्रेरित होकर 40 चरखे आदि का प्रशिक्षण छात्रों को देना प्रारम्भ कर दिया। 1936 में विद्यालय में जिनालय का निर्माण हुआ। भगवान् महावीर की मूर्ति एवं मानस्तम्भ आदि के भी निर्माण हुये। सन् 1953 में राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्रप्रसाद जी ने चन्दाबाई जी का सम्मान किया। 18 जुलाई 1977 को इनके स्वर्गवास के बाद विद्यालय के समस्त कार्यों की देखभाल श्री सुबोधकुमार जी, मंत्री पद पर रहकर कर रहे हैं। आश्रम में राष्ट्रपिता महात्मागांधी, डॉ. राजेन्द्रप्रसाद जी, पं. जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस, जयप्रकाश नारायण, आचार्य विनोबाभावे, काका कालेकर, बाबू जगजीवनराम जी, जे. बी. कृपलानी, रामधारीसिंह दिनकर एवं हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि समय-समय पर पधारते रहे हैं।

विश्वमैत्री-दिवस : जैन-समाज पर्वराज पर्यूषण के पश्चात् क्षमावणी-दिवस धार्मिक-स्थलों पर मनाता रहा। 1950 में दिल्ली के कुछ प्रसिद्ध विचारों ने विचार किया कि इस महत्त्वपूर्ण दिवस से संसार के व्यक्तियों को प्रेरणा दी जा सकती है; तब उन्होंने इस पर्व का नाम 'विश्वमैत्री-दिवस' रखकर सार्वजनिक-सभा आयोजित की, जिसमें समस्त जैन-समाज का समर्थन प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् आचार्य-महाराजों के अतिरिक्त मुनिगण, साधु-साध्वी, अन्य धर्मों के सन्त, राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, राजनीतिक नेता, अग्रणीय महानुभाव तथा बड़ी संख्या में भाई-बहन भाग लेते रहे। आज यह दिवस स्थान-स्थान पर मनाया जाता है व समाज की संगठन-शक्ति का प्रतीक बन गया है। इसका श्रेय 'भारत-जैन-महामण्डल' को जाता है।

वीरसेवा मन्दिर : वीरसेवा मन्दिर की स्थापना पं. जुगलकिशोर जी मुख्तार व बाबू छोटेलाल जी कलकत्तावालों की लगन से हुई। इसका अपना विशाल भवन है, समाचार-पत्र भी प्रकाशित होता है, प्राचीन-ग्रंथों का भण्डार है।

वर्णी-महाराजों की देन : दिगम्बर जैन-समाज वर्णी-महाराजों को भूल नहीं सकती, जिनके द्वारा महत्त्वपूर्ण कार्य हुये हैं। पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी ने जो समाज के कार्य किये, उसका उल्लेख कई स्थानों पर कर चुके हैं। श्री सहजानंद वर्णी ने स्थान-स्थान पर जाकर आध्यात्मिकता का प्रचार-प्रसार किया, साहित्य-प्रकाशन कराया, मेरठ व मुजफ्फरनगर को अपने कार्यों का केन्द्र बनाया, उनके साहित्य व विचारों का प्रचार उनके समाचार-पत्र द्वारा हो रहा है। जिनेन्द्रप्रसाद वर्णी जी के द्वारा महत्त्वपूर्ण साहित्य प्रकाशित हुआ है, जिसमें जिनेन्द्र सिद्धान्तकोश आदि अपना विशेष स्थान रखते हैं।

अहिंसा-स्थल : अहिंसा-स्थल का निर्माण लाल प्रेमचन्द जी (जैनावॉच) की लगन व मेहनत का फल है। यह स्थान दिल्ली के मेहरौली-क्षेत्र में सुरम्य पहाड़ी पर स्थित है। देश-विदेश से अनेकों लोग प्रतिदिन यहाँ दर्शनार्थ आते हैं। यहाँ भगवान् महावीर की विशाल पद्मासन-प्रतिमा मुख्य आकर्षण का केन्द्र है। प्राकृतिक-सुषमा से सुसज्जित सुव्यवस्थित-वातावरण में यहाँ साहित्य-विक्रय-केन्द्र,

औषधालय आदि अनेकों कार्य नियमितरूप से संचालित हैं।

जैन-साहित्य का प्रकाशन : भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ, भारतीय ज्ञानपीठ, परिषद् पब्लिशिंग हाऊस, अहिंसा मन्दिर, वीरसेवा मन्दिर एवं ट्रस्ट, श्री गणेशवर्णी जैन-ग्रंथमाला, विश्व जैन-मिशन, त्रिलोक शोध संस्थान, पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, दिगम्बर जैन-तीर्थक्षेत्र, श्री महावीर जी, विद्वत् परिषद्, वीर-निर्वाण-ग्रंथ प्रकाशन-समिति, अनेकान्त साहित्य-परिषद्, कुन्थसागर स्वाध्याय सदन, श्री वीतराग सत्-साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, श्री जैन-संस्कृति-संरक्षक-संघ, जीवराज जैन-ग्रंथमाला, कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, भारत जैन-महामण्डल, जैन भवन कलकत्ता, दिगम्बर जैन पुस्तकालय सूरत, सेंट्रल पब्लिशिंग हाऊस, कुन्दकुन्द भारती ट्रस्ट, नई दिल्ली, आदि के द्वारा तथा अंग्रेजी-साहित्य, बैरिस्टर चम्पतराय जी एवं जे. एल. जैनी ट्रस्ट आदि से प्रकाशित हुआ। इनके अतिरिक्त अन्य संस्थाओं द्वारा भी साहित्य प्रकाशित हो रहा है।

विकलांगों की सहायता : भारतीय विकलांगों की सहायता हेतु 'भगवान् महावीर विकलांग-समिति' के नाम से जयपुर में कार्य प्रारम्भ हुआ। अब यह संस्था विशाल रूप में कार्य कर रही है। इसकी कई स्थानों पर शाखायें चल रही हैं। जिनके द्वारा हर प्रकार से सहयोग दिया जा रहा है।

धर्मचक्र : भगवान् महावीर के 2500वें निर्वाण-महोत्सव के उपलक्ष्य में देश के कोने-कोने में धर्मचक्रों के भ्रमण करके जो कार्य एवं धार्मिक-चेतना जगाई, उसकी सराहना जितनी भी की जाये कम है। इस योजना के प्रेरणा-स्रोत **आचार्य विद्यानंद जी मुनिराज** थे।

'अखिल-विश्व-जैन-मिशन' की स्थापना : समाज के प्रसिद्ध विद्वान् बाबू कामताप्रसाद जी ने जैन-साहित्य के प्रचार के लिये अखिल-विश्व-जैन-मिशन की स्थापना की थी। उन्होंने इसके लिये अग्रसर होकर कार्य किया, उनके निधन के बाद कार्य में शिथिलता आ गई। संस्था का नाम चल रहा है। इसका समाचारपत्र भी प्रकाशित होता है।

शोधकार्य : अनेकों संस्थाओं द्वारा शोधकार्य हो रहे हैं। प्राचीन-ग्रंथों के प्रकाशन भी हो रहे हैं। यह कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जो संस्थायें यह कार्य कर रही हैं, वे बधाई की पात्र हैं।

कर्मवीर भाऊराव पाटील : कर्मठ कार्यकर्त्ता जन-जनार्दन की सेवा में समर्पित कर्मवीर भाऊराव पाटील ने महाराष्ट्र प्रदेश के उस क्षेत्र में कार्य किया, जहाँ दिगम्बर जैन-समाज अपना जीवन खेती व सादगी से व्यतीत करती थी। इनके कार्यों की प्रशंसा जितनी की जाये कम है।

माँ श्रीकौशल जी : कौशल जी का दिगम्बर जैन-समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान है व अपनी विचारधारा से समाज को जोड़ने, कुरीतियों, आडम्बरों से दूर रहने की

प्रेरणा देती आ रही हैं। आपने दिल्ली-मेरठ राजमार्ग पर विशाल मन्दिर-आदि भवनों का निर्माण कराकर साधना-केन्द्र स्थापित किया है, उसके द्वारा गतिविधियाँ चल रही हैं।

जैन-समाज को साहू-परिवार का योगदान : साहू सलेकचन्द जी व साहू जुगमुन्दरदास जी व उनके परिवार के अन्य महानुभाव प्रारम्भ से समाज की गतिविधियों में सक्रिय सहयोग देते रहे हैं। उसके बाद साहू श्रेयासंप्रसाद जी, साहू शांतिप्रसाद जी ने व्यापकरूप से सहयोग दिया व उनके बाद साहू अशोककुमार जी, साहू, रमेशचन्द्र जी का समाज को सहयोग प्राप्त हैं सन् 1932 में जैन-स्टूडेन्ट कांफ्रेस बाबू लालचन्द जैन, एडवोकेट, रोहतक, की अध्यक्षता में श्री हस्तिनापुर जी में आयोजित हुई। इस समय साहू शांतिप्रसाद जी मेरठ कॉलेज में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। उन्होंने अपने अन्य साथियों के साथ मंच पर आकर विवाहों में होने वाली माँग के विरुद्ध विचार व्यक्त किये व स्वयं माँग न करने की शपथ ली। देश के प्रसिद्ध उद्योगपतियों में श्री राममिशन डालमिया जी का प्रमुख स्थान है। उनकी सुपुत्री श्रीमती रमा जैन के साथ साहू शांतिप्रसाद का विवाह होने के बाद कलकत्ते निवास करने लगे। साहू श्रेयांसप्रसाद जी लाहौर रहते थे। उन्हें देशद्रोही घोषित कर दिया था, तब वे लाहौर छोड़कर मुम्बई चले गये थे। डालमिया नगर (बिहार) में कागज, सीमेंट, चीनी इत्यादि अनेकों प्रकार की फैक्ट्रियाँ कार्य करती थीं। इन सबको साहू शांतिप्रसाद जी देखते थे। इसके अतिरिक्त प्रकाशन विभाग 'बैनेट कोलमैन एण्ड कं. लि.' आदि महत्त्वपूर्ण फैक्ट्रियों के मालिक हो गये। उधर मुम्बई में साहू श्रेयांसप्रसाद जी ने कई महत्त्वपूर्ण फैक्ट्रियाँ स्थापित कीं। जैन-समाज की प्रमुख संस्था 'भारत-जैन-महामण्डल' में दोनों साहू ने अग्रसर होकर सहयोग दिया।

1942 ई. में साहू शांतिप्रसाद जी की अध्यक्षता में कानपुर में दिगम्बर जैन-परिषद् का विशाल अधिवेशन हुआ। तब से वे परिषद् से बराबर जुड़े रहे। साहू श्रेयांसप्रसाद जी सन् 1950 में दिल्ली में अधिवेशन के अध्यक्ष बने। परिषद् को इन दोनों महानुभावों का सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहा। जैन-समाज, विशेषकर दिगम्बर जैन-समाज, का कोई ऐसा प्रमुख कार्य नहीं, जिसमें इनका अग्रसर होकर सहयोग नहीं हो। तीर्थों की रक्षा, जीर्णोद्धार कार्यों पर विशेष ध्यान दिया। भगवान् महावीर के 2500 वें निर्वाण-महोत्सव को जिस विशालरूप से मनाने के कार्यक्रम बने, उनमें इनका सबसे अधिक योग है, जिससे सारा जैन-समाज परिचित है। जैन-समाज के संगठन को बड़ी शक्ति प्राप्त हुई।

कैलाशदेव भगवान् आदिनाथ निर्वाण-स्थली : प्रसिद्ध तीर्थ बद्रीनाथ में आदिनाथ आध्यात्मिक अहिंसा फाउन्डेशन, इन्दौर द्वारा विशालरूप से निर्माणकार्य हुआ है। आचार्य विद्यानंद जी मुनिराज बद्रीनाथ जी की यात्रा करने के बाद घोषणा की थी कि "इस मन्दिर जी में जो मूर्ति है, वह भगवान् ऋषभदेव की है।" उसके पश्चात् यह समस्त कार्य प्रारम्भ हुआ।

शास्त्री-परिषद् : पं. लालबहादुर शास्त्री एवं पं. बाबूलाल जमादार के प्रयत्नों से शास्त्री-परिषद् का गठन हुआ। उस समय जिन विद्वानों से इनके अपने व्यक्तिगत सम्बन्ध थे, उन्हें सम्मिलित कर कार्य प्रारम्भ कर दिया गया। बाद में अन्य विद्वान् भी इसमें सम्मिलित हुये। आज यह संस्था अपना कार्य कर रही है।

विद्वत्-परिषद् : अ. भा. दिगम्बर जैन विद्वत्-परिषद् का गठन श्रद्धेय पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी की प्रेरणा से हुआ। उस समय के जो प्रमुख विद्वान् थे, उसमें सम्मिलित हो गये, जिसके द्वारा कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है। पं. जुगलकिशोर मुख्तारजी, पं. फूलचन्द जी शास्त्री, पं. कैलाशचन्द जी शास्त्री, डॉ. हीरालाल, डा. ए. एन. उपाध्ये, पं. देवकीनन्दन जी आदि सभी ने इसकी गतिविधयों में अपना सक्रिय सहयोग दिया। अभी संस्था ने अपना स्वर्ण-जयंती-समारोह बड़े विशाल रूप में मनाया है। पं. नाथूलाल जी प्रेमी, मुम्बई, जिन्होंने कठिन परिस्थितियों से जैन-समाज की सेवा की, उन्हें कौन भुला सकता है। सम्प्रति डॉ. राजाराम जैन, आरा, इसके अध्यक्ष हैं और यह संस्था उल्लेखनीय कार्य कर रही है।

प्रसिद्ध औद्योगिक बालचन्द्र ग्रुप : सेठ लालचन्द हीराचन्द दोशी परिवार महाराष्ट्र दिगम्बर जैन-समाज में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इनके द्वारा टैक्नीकल कॉलिज चल रहा है। आप भारत जैन-महामण्डल एवं अ. भा. दिगम्बर जैन-तीर्थक्षेत्र कमेटी के अध्यक्ष रहे। आप राज्यसभा एवं मुम्बई विधानसभा के सदस्य रहे। व्यापारिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा। इनकी सुपुत्री व सुपुत्र बहन सरयू दफ्तरी आज महिला-समाज में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं व कई संस्थाओं का संचालन कर रही हैं। श्री अरविन्द दोशी तीर्थक्षेत्र-कमेटी के महामंत्री पद का कार्य कर रहे हैं। महाराष्ट्र में 'बालचन्द हीराचन्द ग्रुप' बहुत समय से प्रसिद्ध है।

सरसेठ हुकुमचन्द जी : सरसेठ हुकुमचन्द जी द्वारा इन्दौर में अनेकों अद्‌भुत कार्य हुये, जिनमें काँच का दिगम्बर जैन-मन्दिर, शीशमहल, अतिथिगृह, नसियाजी, घंटाघर, उदासीन आश्रम, इन्द्रभवन, सभी महत्त्वपूर्ण भवन हैं। वे प्रतिदिन पूजा-अर्चना स्वाध्याय विद्वानों द्वारा शास्त्र-प्रवचन में भाग लेते थे। शिक्षा के लिये विद्यालय एवं छात्रावास का संचालन किया है। आप अनेकों पदवियों से सुशोभित थे। अतिथियों का आदर-सम्मान करते थे।

धर्मस्थल : कर्नाटक राज्य में धर्मस्थल का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। डॉ. डी. वीरेन्द्र हेगड़े धर्माधिकारी वहाँ की समस्त गतिविधियाँ चलाते हैं। यहाँ भगवान् बाहुबलि की विशाल मूर्ति विराजमान है। शिक्षण सस्थाओं, चिकित्सालय, छात्रावास, अतिथिगृह आदि महत्त्वपूर्ण स्थल हैं। कर्नाटक के तीर्थक्षेत्रों के दर्शनार्थ तीर्थयात्री जो वहाँ जाते हैं, वह सभी धर्मस्थलों के दर्शनार्थ अवश्य जाते हैं। यात्रियों के लिये भोजनालय बराबर चलते रहते हैं।

मध्य भारत में शासक : भारत के स्वतंत्रता के पश्चात् भारत के शासन में बाबू तख्तमल जैन मुख्यमंत्री के नेतृत्व मंत्रिमण्डल का गठन हुआ, जिसमें श्री मिश्रीलाल गंगवाल, श्री श्यामलाल पाण्डीव, सौभाग्यमल जी जैन आदि आठ जैन मंत्री प्रमुख-प्रमुख विभागों को देखते थे। इन्दौर में कांग्रेस के विशाल अधिवेशन में भारत के प्रधानमंत्री जी जवाहरलाल नेहरू जी के विश्वासपात्र बाबू तख्तमल जी, मिश्रीलाल गंगवाल आदि अधिवेशन के प्रमुख व्यक्तियों में रहे। श्री बाबूलाल पाटौदी कांग्रेस-कार्यालय की देखभाल करते थे। जैन-समाज की गतिविधियों में सभी जैन-मंत्री अग्रसर होकर सहयोग प्रदान करते रहे।

धर्मादा ट्रस्ट बिल : सरकार द्वारा लोकसभा में धर्मादा ट्रस्ट बिल प्रस्तुत किया गया, जिस पर चर्चा होने के बाद इसमें 30 सांसद-सदस्यों की उपसमिति गठित कर, उसे अधिकार दिया गया कि वे सभी धर्मों के द्वारा दिये गये ज्ञापन के प्रतिनिधियों को बुलाकर जानकारी प्राप्त करें। उन्होंने इस सम्बंध में जैन-समाज के प्रतिनिधिमण्डल को बुलाकर समस्त जानकारी प्राप्त की। प्रतिनिधिमण्डल में डॉ. एस. सी. किशोर, श्री भगतराम जैन, श्री एस. एस. मोदी, श्री विजय कुमार सिंह नाहर, श्री लक्ष्मीचन्द जैन, श्री नरेन्द्र सिंघवी, श्री मोतीचन्द वीरचन्द गांधी, श्री पोपटलाल रामचन्द्र गांधी, श्री राजेन्द्र कुमार जैन ने भाग लिया। प्रतिनिधिमण्डल की माँगों को उन्होंने स्वीकार कर जैन-समाज को इस एक्ट से मुक्त कर दिया, जिससे समाज को बड़ा लाभ पहुँचा।

सोनगढ़ (गुजरात) में दिगम्बर जैन-परमागम का विशाल मन्दिर : आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के मूल-ग्रंथ, जो दिगम्बर जैन-आम्नाय-आगम के हैं, समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकायसंग्रह, नियमसार, परमागम (मूलगाथा) मशीन के द्वारा संगमरमर के शिलापट उत्कीर्ण कराकर दीवारों में लगाये गये हैं। प्रत्येक द्वार की खिड़कियाँ संगमरमर के उत्कीर्ण कतिपय तीर्थंकरों के वैराग्य एवं दीक्षा आदि के पुरुषार्थ-प्रेरक भव्य प्रसंग तथा तीर्थ-क्षेत्रों के अतिमनोहर चित्र हैं। यह परमागम मन्दिर तीन रमणीय शिखरों से सुशोभित हैं। बड़े शिखर की ऊँचाई 80 फीट है, इस मन्दिर की रचना बहुत ही भव्य एवं अद्वितीय है। इसके अतिरिक्त श्री कानजी स्वामी की प्रेरणा से पूरे गुजरात में 100 से अधिक दिगम्बर-जैन-मंदिरों का भव्य-निर्माण हुआ है।

इसके अतिरिक्त इन्दौर का काँच मन्दिर, अजमेर की नशियांजी, खजुराहो का पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन-मन्दिर, श्रवणबेलगोला की भगवान बाहुबलि जी की विशाल मूर्ति एवं मूडबिद्री में हीरे-पन्नों की मूर्तियाँ भगवान् श्री सहस्राफणी पार्श्वनाथ का वीजापुर का दुर्ग-मन्दिर शिल्पकला का अद्भुत उदाहरण है। तीर्थयात्रियों को इन विशाल मन्दिरों के अवश्य ही दर्शन करने चाहिये।

तमिलनाडु के क्षेत्र में कई विशाल मन्दिर हैं। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के चरण इस ही प्रदेश में पोन्नूरमलै-क्षेत्र पर हैं। यहाँ गावों में निवास करने वाले

दिगम्बर जैन हैं, उनमें सादगी व धार्मिक संस्कार हैं, खेती से जीवन-निर्वाह करते हैं। चेन्नई आदि नगरों में भी दिगम्बर जैन-समाज निवास कर अपने व्यापार में संलग्न है।

युवा-वर्ग : दिगम्बर जैन-समाज बहुत वर्षों से युवा-वर्ग को समाज के कार्यों में सक्रिय करने के लिये प्रयास कर रही है, अनेकों समितियाँ भी गठित हुई हैं, परन्तु युवा-वर्ग जिस लगन के साथ समाज-कार्यों में अग्रसर होना चाहिये, वह नहीं हो पा रहा है।

गोम्मटगिरि का निर्माण : आचार्य श्री विद्यानंद जी मुनिराज के प्रयास एवं प्रेरणा से गोम्मटगिरि का निर्माण इन्दौर (म. प्र.) में मुख्य शहर से लगभग 10 किलोमीटर दूर हुआ है। यह क्षेत्र दिनों-दिन प्रगति के पथ पर हैं।

नवीन-निर्माण : कई क्षेत्रों में विशालरूप से निर्माण की योजनायें बन रही हैं, जिसके लिये करोड़ों रुपये का धन-संग्रह किया जा रहा है। बहुत संभव है कि कुछ वर्षों के बाद कई विशालरूप से नवीन-तीर्थों के रूप में समाज दर्शनों का लाभ उठा सके। दिगम्बर जैन-समाज के लिये तन-मन-धन के साथ जिन अग्रणी महानुभावों ने सहयोग दिया, उनमें से कुछ विशेष महानुभावों के नाम निम्नलिखित हैं, जिसके लिये दिगम्बर जैन-समाज सदैव आभारी रहेगा —

सेठ लक्ष्मनदास जी मथुरा, बैरिस्टर चम्पतराय जी दिल्ली, बाबू देवकुमार जी आरा, सरसेठ हुकुमचन्द जी इन्दौर, सरसेठ भागचन्द सोनी अजमेर, सेठ माणकचन्द जी, मुम्बई, सेठ चांदमल पांडया, राजस्थान, साहू सलेकचन्द जी नजीवाबाद, साहू जुगुमुन्दरदास जी नजीवाबाद, साहू श्रेयांसप्रसाद जी मुम्बई, साहू शांतिप्रसाद जी कलकत्ता, बाबू अजितप्रसाद जी लखनऊ, बैरिस्टर जे. एल. जैनी इन्दौर, बाबू रतनलाल जी बिजनौर, बाबू लालचन्द जैन रोहतक, डॉ. हीरालाल जैन नागपुर, बैरिस्टर जमुनाप्रसाद जी नागपुर, लाला राजेन्द्र कुमार जैन बिजनौर, श्री भगवानदास शोभालाल डालचन्द जैन सागर, बाबू कामताप्रसाद जैन अलीगंज (एटा), श्री नन्हेमल जैन दिल्ली, श्री चिरंजीलाल बड़जात्या वर्धा, डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन लखनऊ, श्रीमती बहन लेखवती जैन अम्बाला, श्री अमरचन्द पहाड़िया कलकत्ता, श्री रतनलाल गंगवाल कलकत्ता, श्री नथमल सेठी कलकत्ता, श्री देवकुमार सिंह इन्दौर, श्री राजकुमार सिंह इन्दौर, सेठ बालचन्द हीराचन्द दोशी मुम्बई, कर्मवीर भाउराव पाटील (महा.), पं. बाबूभाई चुन्नीलाल मेहता गुजरात, पं. नाथूलाल शास्त्री इन्दौर, श्री निर्मलकुमार जी आरा, रायबहादुर सखीचन्द जैन पटना, श्री तनसुखराम जी दिल्ली, सेठ लक्ष्मीचन्द राजेन्द्र कुमार जैन विदिशा, लाल मुन्नालाल जी लखनऊ, बाबू छोटेलाल जी कलकत्ता, श्री अक्षयकुमार जैन नई दिल्ली, श्री मिश्रीलाल गंगवाल इन्दौर, पं. शीलचन्द जैन शास्त्री मवाना (मेरठ), श्री मूलचन्द कापड़िया सूरत, श्री निर्मलकुमार सेठी लखनऊ, श्री उम्मेदमल पांड्या दिल्ली, श्री ज्ञानचन्द खिन्दुका जयपुर, श्री एन.के. सेठी जयपुर, श्री रायबहादुर हरकचन्द जैन रांची, श्री बाबूलाल

पाटौदी इन्दौर, श्री बाबू सुकुमारचन्द जैन मेरठ, श्री प्रकाशचन्द जैन सासनी, श्री जम्बुकुमार जैन कोटा, श्री विरधीलाल सेठी जयपुर, पं. सुमति चन्द्र शास्त्री मुरैना, पं. शिखर चंद जैन भिंड, स्व. पं. लाल बहादुर शास्त्री दिल्ली, डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन लखनऊ, स्व. पं. बाबू लाल जमादार बड़ौत, पं. नरेन्द्र प्रकाश जी फिरोजाबाद आदि।

दिगम्बर जैन-समाज के प्रमुख विद्वान्, जिन्होंने दिन-रात दिगम्बर जैन-आगम के प्रचार-प्रसार एवं प्राचन-ग्रंथों के प्रकाशन कर जन-जन तक पहुँचाने में धार्मिक चेतना पैदा की, उनमें से कुछ नाम निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

पं. नाथूराम प्रेमी लखनऊ, पं. परमेष्ठीदास जी ललितपुर, पं. जुगलकिशोर मुख्तार सरसावा, पं. नाथूराम प्रेमी मुम्बई, बाबू कामता प्रसाद जैन, पं. फूलचन्द जी सिद्धान्ताचार्य वाराणसी, पं. कैलाशचन्द जी वाराणसी, पं. चैनसुखदास जी जयपुर, पं. मक्खनलाल जी मुरैना, पं. देवकीलाल नंदन कारंजा, पं. सुमेरचन्द जी दिवाकर सिवनी, डॉ. ए. एन. उपाध्ये (महा.), महात्मा भगवानदीन, डॉ. महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य बनारस, पं. दरबारीलाल सत्यभक्त वर्धा, पं. नाथूलाल जी शास्त्री इन्दौर, पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य सागर, पं. दरबारी लाल कोठिया बीना, पं. सत्यंधरकुमार सेठी उज्जैन, पं. गणेशप्रसाद जी वर्णी सागर, श्री माणिकचन्द चँवर कारंजा, पं. ब्र. माणिकचन्द्र भिसीकर कुम्भोज-बाहुबलि, श्री सहजानन्द वर्णी मुजफ्फरनगर, पं प्रकाश हितैषी दिल्ली, डॉ. हुकुमचंद भारिल्ल जयपुर, पं. रतनचंद भारिल्ल जयपुर, डॉ. राजाराम जैन आरा, पं नीरज जैन सतना, डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री नीमच, डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल जयपुर, डॉ. प्रेमसागर जैन बड़ौत, डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर महाराष्ट्र, पं. हीरालाल सिद्धांतशास्त्री साढूमल, डॉ. प्रेमसुमन जैन उदयपुर, पं. अनूपचन्द न्यायतीर्थ जयपुर, डॉ. जगदीशचन्द जैन मुंबई, डॉ. उदयचन्द जैन उदयपुर, डॉ. रमेश चन्द बिजनौर, डॉ. भागचंद भास्कर नागपुर, डॉ. सुदीप जैन नई दिल्ली, डॉ. उत्तमचंद जैन सिवनी, प्रो. सागरमल जैन शाजापुर (म.प्र.), प्रो. भागचन्द्र भास्कर वाराणसी (उ.प्र.), प्रो. दयानन्द भार्गव लाडनू, प्रो. धर्मचन्द जैन कुरुक्षेत्र, डॉ. शेखरचन्द जैन अहमदाबाद, डॉ. कुलभूषण लोखण्डे सोलापुर, डॉ. कस्तूरचन्द्र सुमन महावीरजी, डॉ. भागचन्द्र भागेन्दु दमोह, प्रो. विमल प्रकाश जैन दिल्ली, प्रो. सत्यरंजन बनर्जी कलकत्ता, डॉ. सुषमा सिंघवी उदयपुर, डॉ. नेमिचन्द जैन इन्दौर, पं. सुमति चन्द्र शास्त्री मुरैना, स्व. पं. शिखर चंद जैन भिंड, स्व. पं. लाल बहादुर शास्त्री दिल्ली, डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन लखनऊ, स्व. पं. बाबू लाल जमादार बड़ौत, पं. नरेन्द्र प्रकाश जी फिरोजाबाद, डॉ. चिरंजीलाल बगड़ा कलकत्ता, डॉ. रमेशचन्द जैन बिजनौर, डॉ. धर्मचन्द जैन जोधपुर, डॉ. जिनेन्द्र कुमार जैन लाडनू, डॉ. विजय कुमार जैन लखनऊ, डॉ. कमलेश कुमार जैन वाराणसी, डॉ. वीरसागर जैन दिल्ली, डॉ. जयकुमार उपाध्ये दिल्ली, पं. अशोक शास्त्री दिल्ली, वैद्य सुशील कुमार जैन जयपुर आदि। ❖❖

सन्दर्भ-विवरणिका

1. द्रष्टव्य, जैन सुदीप का लेख, बौद्ध-परम्परा एवं निर्ग्रन्थ-जैन-श्रामण्य, प्राकृतविद्या, वर्ष 8, अंक 3.
2. एच.वी. ग्लासेनप्पा, जैनिज्म, भावनगर, विक्रम-संवत् 1987, पृष्ठ 326-27.
3. विलास एव. सांगवे, पूर्वोक्त, पृष्ठ 77.
4. वही.
5. वही.
6. वही, पृष्ठ 79.
7. डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, खण्डेलवाल जैन-समाज का वृहद् इतिहास, पूर्वोक्त, पृष्ठ 48.
8. जे.एल. जैन, दी जैन लॉ, आरा, 1916, पृष्ठ 17.
9. एच.एच. रिजले, ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स् ऑफ बंगाल, भाग एक, कलकत्ता, 1891, पृष्ठ 7.
10. डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, खण्डेलवाल जैन-समाज का वृहद् इतिहास, पूर्वोक्त, पृष्ठ 50.
11. फूलचन्द शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ, सम्पादक : बाबू लाल जैन, फागुल्ल, फूलचन्द शास्त्री अभिनन्दनग्रन्थ प्रकाशन समिति, वाराणसी, 1985.
12. डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, खण्डेलवाल जैन-समाज का वृहद् इतिहास, पूर्वोक्त, पृष्ठ 52.
13. वही.
14. डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, कविवर बुलाखीचन्द्र बुलाकीदास एवं हेमराज, श्री महावीर ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1983, पृष्ठ 108-114.
15. डॉ. माताप्रसाद गुप्त, जिनदत्त चरित, साहित्य-शोध विभाग, दिगम्बर जैन-अतिशयक्षेत्र श्री महावीर जी, जयपुर 1966, पृष्ठ 1.
16. रामजीत जैन एडवोकेट, जैसवाल जैन इतिहास, जैसवाल जैन-समाज, लश्कर, 1988.
17. डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, खण्डेलवाल जैन-समाज का वृहद् इतिहास, पूर्वोक्त, पृष्ठ 54.
18. वही, पृष्ठ 55.
19. वही.
20. वही, पृष्ठ 56.
21. वही.
22. विलास ए. सांगवे, पूर्वोक्त, पृष्ठ 92
23. सुरेन्द्र कुमार जैन, गोलापूर्व जैन-समाज इतिहास एवं सर्वेक्षण, पारस शोध-संस्थान, कटरा बाजार, सागर, 1996.
24. रामजीत जैन एडवोकेट, गोलालोर जैन-जाति इतिहास, वीरसेन जैन सर्राफ मैसर्स लालाराम वीरसेन जेन सर्राफ, सदर बाजार, भिण्ड, 1995.
25. डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, खण्डेलवाल जैन-समाज का वृहद् इतिहास, पूर्वोक्त, पृष्ठ 58.
26. वही.
27. वही, पृष्ठ 59.
28. वही.
29. वही, पृष्ठ 60.
30. वही.
31. वही.

32. वही.
33. विलास ए. सांगवे, पूर्वोक्त, पृष्ठ 88-89.
34. वही.
35. सी. एम. दोशी, दशा श्रीमाली जैन बनियाज् ऑफ काठियावाड़, बाम्बे, 1953, पृष्ठ 54.
36. डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, खण्डेलवाल जैन-समाज का वृहद् इतिहास, पूर्वोक्त, पृष्ठ 61.
37. वही.
38. वही.
39. आर्यिका विशुद्धमती माताजी, 'ऐसे थे चरित्र चक्रवती', लखनऊ, 1994 ई., पृष्ठ 11-12.
40. वही, पृष्ठ 12.
41. वही, पृष्ठ 23-24.
42. वही.
43. वही एवं आचार्य श्री वीरसागर-स्मृति-ग्रन्थ.
44. वही.
45. श्री शिवसागर-स्मृति-ग्रन्थ, सुजानगढ़, वीर-संवत् 2499.
46. आचार्य धर्मसागर-स्मृति-ग्रन्थ, मथुरा, सन् 1984.
47. डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, आचार्यश्री शांतिसागर महाराज छाणी : एक परिचय, दिगम्बर जैन समाज, गया (बिहार), सन् 1992.
48. वही, पृष्ठ 59.
49. आचार्य ज्ञानसागर, जयोदय महाकाव्य परिशीलन, मदनगंज-किशनगढ़, सन् 1995.
50. आचार्य महावीरकीर्ति-स्मृति-ग्रन्थ, भाग दो, मथुरा, सन् 1974.
51. डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, राजस्थान के जैन संत : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृष्ठ 269.
52. वही.
53. वही.
54. वही.
55. वही.
56. वही.
57. विद्याधर से विद्यासागर, श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र मन्दिर संघी जी, सांगानेर-जयपुर, 1996.
58. डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, जैन समाज का वृहद् इतिहास, प्रथम खण्ड, पृष्ठ 37.
59. वही.

❖❖

खण्ड-पंचम

विश्वभर में जैनधर्म का इतिवृत्त एवं वर्तमान-स्थिति

विदेशों में जैनधर्म एवं समाज

अमेरिका, फिनलैण्ड, सोवियत गणराज्य, चीन एवं मंगोलिया, तिब्बत, जापान, ईरान, तुर्किस्तान, इटली, एबीसिनिया, इथोपिया, अफगानिस्तान, नेपाल, पाकिस्तान, आदि विभिन्न देशों में किसी न किसी रूप में वर्तमानकाल में जैनधर्म के सिद्धान्तों का पालन देखा जा सकता है। उनकी संस्कृति एवं सभ्यता पर इस धर्म का प्रभाव परिलक्षित होता है। इन देशों में मध्यकाल में आवागमन के साधनों का अभाव एक-दूसरे की भाषा से अपरिचित रहने के कारण, रहन-सहन, खान-पान में कुछ-कुछ भिन्नता आने के कारण हम एक-दूसरे से दूर हटते ही गये और अपने प्राचीन सम्बन्धों को सब भूल गये।

अमेरिका में लगभग 2000 ईसापूर्व में संघपति जैन आचार्य 'क्वाजन कोटल' के नेतृत्व में श्रमण साधु अमेरिका पहुँचे और तत्पश्चात् सैकड़ों वर्षों तक श्रमण अमेरिका में जाकर बसते रहे। अमेरिका में आज भी अनेक स्थलों पर जैनधर्म श्रमण-संस्कृति जितना स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। वहाँ जैन-मंदिरों के खण्डहर, प्रचुरता में पाये जाते हैं।

कतिपय हस्तलिखित ग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण प्रमाण मिले हैं कि अफगानिस्तान, ईरान, ईराक, टर्की आदि देशों तथा सोवियत संघ के जीवन-सागर एवं ओब की खाड़ी से भी उत्तर तक तथा जाटविया से उल्लई के पश्चिमी छोर तक किसी काल में जैनधर्म का व्यापक प्रचार-प्रसार था। इन प्रदेशों में अनेक जैन-मंदिरों, जैन-तीर्थंकरों की विशाल मूर्तियों, धर्मशास्त्रों तथा जैन-मुनियों की विद्यमानता का उल्लेख मिलता है।[1]

चीन की संस्कृति पर जैन-संस्कृति का व्यापक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। चीन में भगवान् ऋषभदेव के एक पुत्र का शासन था। जैन-संघों ने चीन में अहिंसा व्यापक प्रचार-प्रसार किया था, अति प्राचीनकाल में भी श्रमण-सन्यासी यहाँ विहार करते थे — हिमालय क्षेत्र आविस्थान को दिया और कैस्पियाना तक पहले ही श्रमण-संस्कृति का प्रचार-प्रसार हो चुका था।

चीन और मंगोलिया में एक समय जैनधर्म का व्यापक प्रचार था। मंगोलिया के भूगर्भ से अनेक जैन-स्मारक निकले हैं, तथा कई खण्डित जैन-मूर्तियाँ और जैन-मंदिरों के तोरण मिले हैं, जिनका आँखों देखा पुरातात्त्विक विवरण 'बम्बई समाचार' (गुजराती) के 4 अगस्त सन् 1934 के अंक में निकला था।

यात्रा-विवरणों के अनुसार सिरगम देश और ढाकुल की प्रजा और राजा सब जैन धर्मानुयायी हैं। तातार-तिब्बत, कोरिया, महाचीन, खासचीन आदि में सैकड़ों विद्या-मंदिर हैं। इस क्षेत्र में आठ तरह के जैनी हैं। चीन में 'तलावारे' जाति के जैनी हैं। महाचीन में 'जांगडा' जाति के जैनी थे।

चीन के जिगरम देश ढाकुल नगर में राजा और प्रजा सब जैन-धर्मानुयायी हैं।

पीकिंग नगर में 'तुबाबारे' जाति के जैनियों के 300 मंदिर हैं, जो सब मंदिर शिखर-बंद हैं। इनमें जैन-प्रतिमायें खड्गासन व पद्मासनमुद्रा विराजमान हैं। यहाँ जैनियों के पास जो आगम हैं, वे 'चीन्डी लिपि' में हैं। कोरिया में भी जैनधर्म का प्रचार रहा है। यहाँ 'सोवावारे' जाति के जैनी हैं।

'तातार' देश में 'जैनधर्मसागर नगर' में जैन-मंदिर 'यातके' यथा 'घघेरवाल' जातियों के जैनी हैं। इनकी प्रतिमाओं का आकार साढ़े तीन गज ऊंचा और डेढ़ गज चौड़ा है।

'मुंगार' देश में जैनधर्म यहाँ 'बाधामा' जाति के जैनी हैं। इस नगर में जैनियों के 8,000 घर हैं तथा 2,000 बहुत सुंदर जैन-मंदिर हैं।

तिब्बत और जैनधर्म

तिब्बत में जैनी 'आवरे' जाति के हैं। एरूल नगर में एक नदी के किनारे बीस हजार जैन-मंदिर हैं। तिब्बत में सोहना-जाति के जैन भी हैं। खिलवन नगर में 104 शिखर-बंद जैन-मंदिर हैं। वे सब मंदिर रत्न-जटित और मनोरम हैं। यहाँ के वनों में तीस हजार जैन-मंदिर हैं।

दक्षिण तिब्बत के हनुवर देश में दस-पन्द्रह कोस पर जैनियों के अनेक नगर हैं, जिनमें बहुत-से जैन-मंदिर हैं। हनुवर देश के राजा-प्रजा सब जैनी हैं।

यूनान और भारत में समुद्री सम्पर्क था। यूनानी लेखकों के अनुसार जब सिकन्दर भारत से यूनान लौटा था, तब तक्षशिला के एक जैन-मुनि 'कोलानस' या 'कल्याण-मुनि' उनके साथ यूनान गये, और अनेक वर्षों तक वे एथेन्स नगर में रहे। उन्होंने एथेन्स में सल्लेखना ली। उनका समाधि-स्थान यहीं पर है।

जापान और जैनधर्म

जापान में भी प्राचीनकाल में जैन-संस्कृति का व्यापक प्रचार था, तथा स्थान-स्थान पर श्रमण-संघ स्थापित थे। उनका भारत के साथ निरंतर सम्पर्क बना

रहता था। बाद में भारत से सम्पर्क दूर हो जाने पर इन जैन-श्रमण साधुओं ने बौद्धधर्म से सम्बन्ध स्थापित कर लिया। चीन और जापान में ये लोग आज भी जैन-बौद्ध कहलाते हैं।

मध्य एशिया और दक्षिण एशिया — लेनिनग्राड स्थित पुरातत्त्व-संस्थान के प्रोफेसर 'यूरि जेडनेयोहस्की' ने 20 जून सन् 1967 को नई दिल्ली में एक पत्रकार-सम्मेलन में कहा था कि "भारत और मध्य एशिया के बीच सम्बन्ध लगभग एक लाख वर्ष पुराने हैं। अतः यह स्वाभाविक है कि जैनधर्म मध्य एशिया में फैला हुआ था।"[2]

प्रसिद्ध फ्रांसीसी इतिहासवेत्ता श्री जे. ए. दुबे ने लिखा है कि आक्सियाना, कैस्मिया, बल्ख और समरकंद नगर जैनधर्म के आरम्भिक केन्द्र थे।[3] सोवियत आर्मीनिया में नेशवनी नामक प्राचीन नगर हैं। प्रोफेसर एम. एस. रामस्वामी आयंगर के अनुसार जैन-मुनि-संत ग्रीस, रोम, नार्वे में भी विहार करते थे। श्री जान लिंगटन आर्किटेक्ट एवं लेखक नार्वे के अनुसार नार्वे म्यूजियम में ऋषभदेव की मूर्तियाँ हैं। वे नग्न और खड्गासन हैं। तर्जिकिस्तान में सराज्य के पुरातात्त्विक उत्खनन में पंचमार्क सिक्कों तथा सीलों पर नग्न मुद्रायें बनी हैं, जोकि सिंधु-घाटी-सभ्यता के सदृश है। हंगरी के 'बुडापेस्ट' नगर में ऋषभदेव की मूर्ति एवं भगवान् महावीर की मूर्ति भू-गर्भ से मिली है।

ईसा से पूर्व ईराक, ईरान और फिलिस्तीन में जैन-मुनि और बौद्ध-भिक्षु हजारों की संख्या में चहुँओर फैले हुये थे, पश्चिमी एशिया, मिर, यूनान और इथियोपिया के पहाड़ों और जंगलों में उन दिनों अगणित श्रमण-साधु रहते थे, जो अपने त्याग और विद्या के लिये प्रसिद्ध थे। ये साधु नग्न थे।[4] वानक्रेपर के अनुसार मध्य-पूर्व में प्रचलित समानिया-सम्प्रदाय 'श्रमण' का अपभ्रंश है। यूनानी लेखक मिस्त्र एचीसीनिया और इथियोपिया में दिगम्बर-मुनियों का अस्तित्व बताते हैं।

प्रसिद्ध इतिहास-लेखक मेजर जनरल जे.जी. आर-फर्लांग ने लिखा है कि अरस्तू[5] ने ईस्वी सन् से 330 वर्ष पहले कहा है, कि **प्राचीन यहूदी वास्तव में भारतीय इक्ष्वाकु-वंशी जैन थे, जो जुदिया में रहने के कारण 'यहूदी' कहलाने लगे थे**। इसप्रकार यहूदीधर्म का स्रोत भी जैनधर्म प्रतीत होता है। इतिहासकारों के अनुसार तुर्कीस्तान में भारतीय-सभ्यता के अनेकानेक चिह्न मिले हैं। इस्तानबुल नगर से 570 कोस की दूरी पर स्थित तारा तम्बोल नामक विशाल व्यापारिक नगर में बड़े-बड़े विशाल जैन-मंदिर, उपाश्रय, लाखों की संख्या में जैन-धर्मानुयायी, चतुर्विध-संघ तथा संघपति-जैनाचार्य अपने शिष्यों-प्रशिष्यों के मुनि-सम्प्रदाय के साथ विद्यमान थे। आचार्य का नाम उदयप्रभ सूरि था। वहाँ का राजा और सारी प्रजा जैन-धर्मानुयायी थी।

प्रसिद्ध जर्मन-विद्वान् वानक्रूर के अनुसार मध्य-पूर्व-एशिया में प्रचलित समानिया-सम्प्रदाय श्रमण-जैन-सम्प्रदाय था। विद्वान् जी.एफ. कार ने लिखा है कि ईसा की जन्मशती के पूर्व मध्य एशिया ईराक, डबरान और फिलिस्तीन, तुर्कीस्तान आदि में जैन-मुनि हजारों की संख्या में फैलकर अहिंसाधर्म का प्रचार करते रहे। पश्चिमी एशिया, मिस्र, यूनान और इथियोपिया के जंगलों में अगणित जैन-साधु रहते थे।

मिस्र के दक्षिण भाग के भू-भाग को राक्षस्तान कहते हैं। इन राक्षसों को जैन-पुराणों में विद्याधर कहा गया है। ये जैनधर्म के अनुयायी थे। उस समय यह भू-भाग सूडान, एबीसिनिया और इथियोपिया कहलाता था। यह सारा क्षेत्र जैनधर्म का क्षेत्र था।

मिस्र (एजिप्ट) की प्राचीन राजधानी पैविक्स एवं मिस्र की विशिष्ट पहाड़ी पर मुसाफिर लेखराम ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'कुलपति आर्य मुसाफिर' में इस बात की पुष्टि की है कि उसने वहाँ ऐसी मूर्तियाँ देखी है, जो जैन-तीर्थ गिरनार की मूर्तियों से मिलती-जुलती हैं।

प्राचीनकाल से ही भारतीय, मिश्र, मध्य एशिया, यूनान आदि देशों से व्यापार करते थे, तथा अपना व्यापार के प्रसंग में वे उन देशों में जाकर बस गये थे। बोलान में अनेक जैन-मंदिरों का निर्माण हुआ। पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्त (उच्चनगर) में भी जैनधर्म का बड़ा प्रभाव था। उच्चनगर का जैनों से अतिप्राचीनकाल से सम्बन्ध चला आ रहा है, तथा तक्षशिला के समान ही वह भी जैनों का केन्द्र-स्थल रहा है। तक्षशिला, पुण्डवर्धन, उच्चनगर आदि प्राचीनकाल में बड़े ही महत्त्वपूर्ण नगर रहे हैं। इन अतिप्राचीन नगरों में भगवान ऋषभदेव के काल से ही हजारों की संख्या में जैन-परिवार आबाद थे। घोलक के वीर धवल के महामंत्री 'वस्तुपाल' ने विक्रम सं. 1275 से 1303 तक जैनधर्म के व्यापक प्रसार के लिये योगदान किया था। इन लोगों ने भारत और बाहर के विभिन्न पर्व-शिखरों पर सुंदर जैन-मंदिरों का निर्माण कराया, और उनका जीर्णोद्धार कराया एवं सिंध (पाकिस्तान), पंजाब, मुल्तान, गांधार कश्मीर, सिंधु-सोवीर आदि जनपदों में उन्होंने जैन-मंदिरों, तीर्थों आदि का नव-निर्माण कराया था। कम्बोज (पामीर) जनपद में जैनधर्म यह पेशावर से उत्तर की ओर स्थित था। यहाँ पर जैनधर्म की महती-प्रभावना और जनपद में विहार करने वाले श्रमण-संघ कम्बोज, याकम्बेडिग-गच्छ के नाम से प्रसिद्ध थे। गंधारगच्छ और कम्बोजा-गच्छ सातवीं शताब्दी तक विद्यमान थे। तक्षशिला के उजड़ जाने के समय तक्षशिला में बहुत-से जैन-मंदिर और स्तूप विद्यमान थे।

अरबिया में जैनधर्म इस्लाम के फैलने पर अरबिया-स्थिति आदिनाथ, नेमिनाथ और बाहुबलि के मंदिर और अनेक मूतियाँ नष्ट हो गई थीं। अरबिया-स्थित 'पोदनपुर' जैनधर्म का गढ़ था, और वहाँ की राजधानी थी, तथा वहाँ बाहुबलि की उत्तुंग प्रतिमा विद्यमान थी।

ऋषभदेव को अरबिया में 'बाबा आदम' कहा जाता है। मौर्य-सम्राट् सम्प्रति के शासनकाल में वहाँ और फारस में जैन-संस्कृति का व्यापक प्रचार हुआ था, तथा वहाँ अनेक बस्तियाँ विद्यमान थीं।

मक्का में इस्लाम की स्थापना के पूर्व वहाँ जैनधर्म का व्यापक प्रचार-प्रसार था। वहाँ पर अनेक जैन-मंदिर विद्यमान थे। इस्लाम का प्रचार होने पर जैन-मूतियाँ तोड़ दी गईं, और मंदिरों को मस्जिद बना दिया गया। इस समय वहाँ जो मस्जिदें हैं, उनकी बनावट जैन-मंदिरों के अनुरूप है। इस बात की पुष्टि जैम्सफर्ग्यूसन ने अपनी 'विश्व की दृष्टि' नामक प्रसिद्ध पुस्तक के पृष्ठ 26 पर की है। मध्यकाल में भी जैन-दार्शनिकों के अनेक संघ बगदाद और मध्य एशिया गये थे, और वहाँ पर अंहिसाधर्म प्रचार किया था।

यूनानियों के धार्मिक इतिहास से भी ज्ञात होता है, कि उनके देश में जैन-सिद्धांत प्रचलित थे। पाइथागोरस, पायरों, प्लोटीन आदि महापुरुष श्रमणधर्म और श्रमण-दर्शन के मुख्य प्रतिपादक थे। एथेन्स में दिगम्बर जैन-संत श्रमणाचार्य का चैत्य विद्यमान है, जिससे प्रकट है कि यूनान में जैनधर्म का व्यापक प्रसार था। प्रोफेसर रामस्वामी ने कहा है कि बौद्ध और जैन-श्रमण अपने-अपने धर्मों के प्रचारार्थ यूनान-रोमानिया और नार्वे तक गये थे। नार्वे के अनेक परिवार आज भी जैनधर्म का पालन करते हैं। आस्ट्रिया और हंगरी में भूकम्प के कारण भूमि में से बुडापेस्ट नगर के एक बगीचे से महावीर स्वामी एक प्राचीन मूर्ति हस्तगत हुई थी। अत: यह स्वत: सिद्ध है कि वहाँ जैन-श्रावकों की अच्छी बस्ती थी।

सीरियों में निर्जनवासी श्रमण-सन्यासियों के संघ और आश्रम स्थापित थे। ईसा ने भी भारत आकर सन्यास और जैन तथा भारतीय दर्शनों का अध्ययन किया था। ईसा मसीह ने बाइबिल में जो अहिंसा का उपदेश दिया था, वह जैन-संस्कृति और जैन-सिद्धांत के अनुरूप है।

स्केडिनेविया में जैनधर्म के बारे में कर्नलटाड अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'राजस्थान' में लिखते हैं, कि "मुझे ऐसा प्रतीत होता है, कि प्राचीनकाल में चार बुद्ध या मेधावी महापुरुष हुये हैं। इनमें पहले आदिनाथ और दूसरे नेमिनाथ थे। ये नेमिनाथ की स्केडिनेविया निवासियों के प्रथम औडन तथा चीनियों के प्रथम 'फे' नामक देवता थे। डॉ. प्राणनाथ विद्यालंकार के अनुसार सुमेर जाति में उत्पन्न बाबुल के सिल्दियन सम्राट् नेबुचंद नेजर ने द्वारका जाकर ईसा-पूर्व 1140 के लगभग नेमिनाथ का एक मंदिर बनवाया था। सौराष्ट्र में इसी सम्राट् नेबुचंद नेजर का एक ताम्र-पत्र प्राप्त हुआ है।"

केश्पिया में जैनधर्म मध्य एशिया के बलख क्रिया मिशी, माकेश्मिया, उसके बाद मासवों नगरों अमन, समरकन्द आदि में जैनधर्म प्रचलित था, इसका उल्लेख ईसापूर्व पाँचवीं, छठी शती के यूनानी इतिहास में किया गया था। अत: यह बिल्कुल संभव है कि जैनधर्म का प्रचार कैरिपया, रूकाबिया और समरकन्द बोक आदि नगरों में रहा था।

ब्रह्मदेश (बर्मा) में जैनधर्म

शास्त्रों में ब्रह्मदेश को स्वर्णद्वीप कहा गया है। जनमत प्रसिद्ध जैनाचार्य कालकाचार्य और उनके शिष्य गया स्वर्णद्वीप में निवास करते थे, वहाँ से उन्होंने आसपास के दक्षिण-पूर्व एशिया के अनेक देशों में जैनधर्म का प्रचार किया था।[6] थाइलैण्ड-स्थित नागबुद्ध की नागफणवाली प्रतिमायें पार्श्वनाथ की प्रतिमायें हैं।

श्रीलंका में जैनधर्म

भारत और लंका (सिंहलद्वीप) के युगों पुराने सांस्कृतिक सम्बन्ध रहे हैं। सिंहलद्वीप में प्राचीनकाल में जैनधर्म का प्रचार था। मंदिर, मठ, स्मारक विद्यमान थे, जो बाद में बौद्ध संघाराम बना लिये गये।

सम्पूर्ण सिंहलद्वीप के जन-जीवन पर जैनसंस्कृति की स्पष्ट छाप दृष्टिगोचर होती है। जैन-मुनि यश:कीर्ति ने ईसाकाल की आरम्भिक शताब्दियों में सिंहलद्वीप जाकर जैनधर्म का प्रचार किया था। श्रीलंका में जैन-श्रावकों और साधुओं ने स्थान-स्थान पर चौबीसों जैन-तीर्थंकरों के भव्य मंदिर बनवाये सुप्रसिद्ध पुरातत्तविद् फर्ग्यूसन ने लिखा है कि कुछ यूरोपियन लोगों ने श्रीलंका में सात और तीन फणों वाली मूर्तियों के चित्र लिये। ये सातयानों फण पार्श्वनाथ की मूर्तियों पर और 3 फण उनके शासनदेव धरमेन्द्र और शासनदेवी पद्मावती की मूर्ति पर बनाये जाते हैं। भारत के सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता श्री पी.सी. राय चौधरी ने श्रीलंका में जैनधर्म के विषय में विस्तार से शोध-खोज की है।

तिब्बत देश में जैनधर्म

तिब्बत के हिमिन-मठ में रूसी पर्यटक नोटोबिच ने पालीभाषा का एक ग्रंथ प्राप्त किया था, उसमें स्पष्ट लिखा है कि "ईसा ने भारत तथा मौर्य देश जाकर वहाँ अज्ञातवास किया था, और वहाँ उन्होंने जैन-साधुओं के साथ साक्षात्कार किया था।"[7] हिमालय-क्षेत्र में निवासित वर्तमान हिमरी जाति के पूर्वज तथा गढ़वाल और तराई के क्षेत्र में पूर्वज जैन 'हिमरी' शब्द 'दिगम्बरी' शब्द का अपभ्रंशरूप है, जैन-तीर्थ अष्टापद (कैलाश पर्वत) हिम-प्रदेश के नाम से विख्यात है, जो हिमालय-पर्वत के बीच शिखरमाला में स्थित है, और तिब्बत में है, जहाँ आदिनाथ भगवान् की निर्वाण-भूमि है।

अफगानिस्तान में जैनधर्म

अफगानिस्तान प्राचीनकाल में भारत का भाग था, तथा अफगानिस्तान में सर्वत्र जैन-साधु निवास करते थे। भारत सरकार के पुरातत्त्व-विभाग के भूतपूर्व संयुक्त महानिदेशक श्री टी.एन. रामचन्द्रन ने अफगानिस्तान गये एक शिष्टमंडल के

नेता के रूप में यह मत व्यक्त किया था, कि "मैंने ई. छठी, सातवीं शताब्दी के प्रसिद्ध चीनी-यात्री ह्वेनसांग के इस कथन का सत्यापन किया है, कि यहाँ जैन-तीर्थंकरों के अनुयायी बड़ी संख्या में हैं। उस समय एलेग्जेन्ड्रा में जैनधर्म और बौद्धधर्म का व्यापक प्रचार था।"

चीनी-यात्री ह्वेनसांग 686-712 ईस्वी के यात्रा के विवरण के अनुसार कपिश देश में 10 जैन-मंदिर हैं। यहाँ निर्ग्रन्थ जैन-मुनि भी धर्म-प्रचारार्थ विहार करते हैं।[8] 'काबुल' में भी जैनधर्म का प्रसार था। वहाँ जैन-प्रतिमायें उत्खनन में निकलती रहती हैं।[9]

हिन्द्रेशिया, जावा, मलाया, कम्बोडिया आदि देशों में जैनधर्म

इन द्वीपों के सांस्कृतिक इतिहास और विकास में भारतीयों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इन द्वीपों के प्रारम्भिक अप्रवासियों का अधिपति सुप्रसिद्ध जैन-महापुरुष 'कौटिल्य' था, जिसका कि जैनधर्म-कथाओं में विस्तार से उल्लेख हुआ है। इन द्वीपों के भारतीय आदिवासी विशुद्ध शाकाहारी थे। उन देशों से प्राप्त मूर्तियाँ तीर्थंकर-मूर्तियों से मिलती-जुलती हैं। यहाँ पर चैत्यालय भी मिलते हैं, जिनका जैन-परम्परा में बड़ा महत्त्व है।

नेपाल देश में जैनधर्म

नेपाल का जैनधर्म के साथ प्राचीनकाल से ही बड़ा सम्बन्ध रहा है। आचार्य भद्रबाहु महावीर निर्वाण-संवत् 170 में नेपाल गये थे, और नेपाल की कन्दराओं में उन्होंने तपस्या की थी, जिससे सम्पूर्ण हिमालय-क्षेत्र में जैनधर्म की बड़ी प्रभावना हुई थी।[10]

नेपाल का प्राचीन इतिहास भी इस बात का साक्षी है। उस क्षेत्र की बद्रीनाथ, केदारनाथ एवं पशुपतिनाथ की मूर्तियाँ जैन-मुद्रा 'पद्मासन' में हैं, और उन पर ऋषभ-प्रतिमा के अन्य चिह्न भी विद्यमान हैं। नेपाल के राष्ट्रीय अभिलेखागार में अनेक जैन-ग्रंथ उपलब्ध हैं, तथा पशुपतिनाथ के पवित्र-क्षेत्र में जैन-तीर्थंकरों की अनेक मूर्तियाँ विद्यमान हैं। वर्तमान में संयुक्त जैन-समाज द्वारा नेपाल की राजधानी काठमाण्डू में 'कमलशेश्वरी' नामक स्थान में एक विशाल जैन-मंदिर का निर्माण किया जा चुका है। वर्तमान नेपाल में लगभग 500 परिवार जैनधर्म को मानने वाले हैं। यहाँ श्री उमेश चन्द जैन एवं श्री अनिल जैन आदि सामाजिक-कार्यकर्ता हैं।

भूटान देश में जैनधर्म

भूटान में जैनधर्म का खूब प्रसार था, तथा जैन-मंदिर और जैन साधु-साध्वियाँ विद्यमान थे। विक्रम-संवत् 1806 में दिगम्बर जैन-तीर्थयात्री लागचीदास गोलालारे ब्रह्मचारी भूटान देश में जैन-तीर्थयात्रा के लिये गया था, जिसके विस्तृत

यात्रा-विवरण (जैन शास्त्र-भण्डर, तिजारा राजस्थान) की 108 प्रतियाँ भिन्न-भिन्न जैन शास्त्र-भण्डारों में सुरक्षित हैं।

पाकिस्तान के परवर्ती-क्षेत्रों में जैनधर्म

आदिनाथ स्वामी ने भरत को अयोध्या, बाहुबलि को पोदनपुर तथा शेष 98 पुत्रों को अन्य देश प्रदान किये थे। बाहुबलि ने बाद में अपने पुत्र महाबलि को पोदनपुर का राज्य सौंपकर मुनि-दीक्षा ली थी। पोदनपुर वर्तमान पाकिस्तान क्षेत्र में विन्ध्यार्ध पर्वत के निकट सिंधु नदी के सुरम्य एवं रम्यक के देश उत्तरार्ध में था और जैन-संस्कृति का आदित्य जगत-विख्यात विश्व-केन्द्र था। कालान्तर में पोदनपुर अज्ञात कारणों से नष्ट हो गया।

तक्षशिला जनपद में जैनधर्म

तक्षशिला अति प्राचीनकाल में शिखा का प्रमुख केन्द्र था, तथा जैनधर्म के प्रचार का भी महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा। इस दृष्टि से प्राचीन जैन-परम्परा से यह स्थान तीर्थस्थल-सा हो गया था। सिंहपुर भी प्राचीन जैन-प्रचार केन्द्र के रूप में विख्यात था। सम्राट् हर्षवर्धन के काल में चीनी यात्री ह्वेनसांग ने यहाँ की यात्रा की थी, जिससे इस स्थान पर जगह-जगह जैन-श्रमणों का निवास बताया था।[11]

सिंहपुर जैन महातीर्थ

यहाँ एक जैन-स्तूप के पास जैन-मंदिर और शिलालेख थे, यह जैन महातीर्थ 14वीं शताब्दी तक विद्यमान था। इस महाजैन-तीर्थ का विध्वंस सम्भवतः सुल्तान सिकन्दर बुतशिकन ने किया था। डॉ. बूह्लर की प्रेरणा से डॉ. स्टॉइन ने सिंहपुर के जैन-मंदिरों का पता लगाने पर कटाक्ष से दो मील की दूरी पर स्थित मूर्ति-गाँव में खुदाई से बहुत-सी जैन-मूर्तियाँ और जैन-मंदिरों तथा स्तूपों के खण्डहर प्राप्त किये, जो 26 ऊँटों पर लादकर लाहौर लाये गये, और वहाँ के म्यूजियम में सुरक्षित किये गये।

ब्राह्मीदेवी का मंदिर — एक जैन-महातीर्थ

यह स्थान किसी समय श्रमण-संस्कृति का प्रमुख केन्द्र था। इस क्षेत्र में जैन-साधुओं की यह परम्परा एक लम्बे समय से अविच्छिन्न-रूप से चली आ रही है। 'कल्पसूत्र' के अनुसार भगवान् ऋषभदेव की पुत्री 'ब्राह्मी' इस देश की महाराज्ञी थी, अंत में वह साध्वी-प्रमुख भी बनीं, और उसने तप किया।

मो-अन-जो-दड़ो आदि की खुदाइयों में जो अनेकानेक सीलें प्राप्त हुई हैं, उन पर नग्न दिगम्बर-मुद्रा में योगी अंकित है।

मो-अन-जो-दड़ो, हड़प्पा, कालीबंगा आदि 200 से अधिक स्थानों के

उत्खनन से जो सीलें, मूर्तियाँ एवं अन्य पुरातात्त्विक सामग्री प्राप्त हुई है, वह सब शाश्वत जैन-परम्परा की द्योतक है।

कश्यपमेरु (कश्मीर जनपद) में जैनधर्म

कवि कल्हणकृत राजतरि गिरि के अनुसार कश्मीर-अफगानिस्तान का राजा सत्यप्रतिज्ञ अशोक जैन था, जिसने और जिसके पुत्रों ने अनेक जैन-मंदिरों का निर्माण कराया था, तथा जैनधर्म का व्यापक प्रचार किया।

हड़प्पा-परिक्षेत्र में जैनधर्म

इसके अतिरिक्त सक्खर मो-अन-जो-दड़ो, हड़प्पा, कालीबंगा आदि की खुदाईयों से भी महत्त्वपूर्ण जैन पुरातत्त्व-सामग्री प्राप्त हुई है, जिसमें बड़ी संख्या में जैन-मूर्तियाँ, प्राचीन सिक्के, बर्तन आदि विशेष ज्ञातव्य हैं।

गांधार और पुण्ड जनपद में जैनधर्म

सिंधु नदी से काबुल नदी तक का क्षेत्र मुल्तान और पेशावर गांधारमंडल में सम्मिलित थे। पश्चिमी पंजाब और पूर्वी अफगानिस्तान भी इसमें सम्मिलित थे। गांधार-जनपद में विहार करनेवाले जैन-साधु 'गांधार-गच्छ' के नाम से विख्यात थे। सम्पूर्ण जनपद जैनधर्म बहुल-जनपद था।

बांग्लादेश एवं परवर्ती-क्षेत्रों में जैनधर्म

बांग्लादेश और उसके निकटवर्ती पूर्वी-क्षेत्र और कामरूप-जनपद में जैन-संस्कृति का व्यापक प्रचार-प्रसार रहा है, जिसके प्रचुर संकेत सम्पूर्ण वैदिक और परवर्ती साहित्य में उपलब्ध हैं।

आज इस कामरूप प्रदेश में जिसमें बिहार, उड़ीसा और बंगाल भी आते हैं, सर्वत्र गाँव-गाँव, जिलों-जिलों में प्राचीन सराक जैन-संस्कृति की व्यापक शोध-खोज हो रही है, और नये-नये तथ्य उद्घाटित हो रहे हैं।

पहाड़पुर (राजशाही बंगलादेश) में उपलब्ध 478 ईस्वी के ताम्रपत्र के अनुसार पहाड़पुर में एक जैन-मंदिर था, जिसमें 5,000 जैन-मुनि ध्यान-अध्ययन करते थे, और जिसके ध्वंसावशेष चारों ओर बिखरे पड़े हैं। 'मौञ्डवर्धन' और उसके समीपस्थ 'कोटिवर्ष' दोनों ही प्राचीलकाल में जैनधर्म के प्रमुख केन्द्र थे। श्रुतकेवली भद्रबाहु और आचार्य अर्हद्बलि — दोनों ही आचार्य इसी नगर के निवासी थे। परिणामतः जैनधर्म बंगाल एवं उसके आसपास के क्षेत्रों में अत्यधिक लोकप्रिय हो गया। सम्भवतः प्रारम्भिककाल में बंगाल में लोकप्रिय बन जाने के कारण ही जैनधर्म इस प्रदेश के समुद्री तटवर्ती भू-भागों से होता हुआ उत्कल प्रदेश के विभिन्न भू-भागों में भी अत्यन्त शीघ्र गति से फैल गया।

विदेशों जैन-साहित्य और कला-सामग्री

लंदन-स्थित अनेक पुस्तकालयों में भारतीय-ग्रंथ विद्यमान हैं, जिनमें से एक पुस्तकालय में तो लगभग 1,500 हस्तलिखित भारतीय-ग्रंथ हैं, और अधिकतर ग्रंथ प्राकृत, संस्कृत भाषाओं में हैं, और जैनधर्म से सम्बन्धित हैं।

जर्मनी में भी बर्लिन-स्थित एक पुस्तकालय में बड़ी संख्या में जैन-ग्रंथ विद्यमान हैं, अमेरिका के वाशिंगटन और बोस्टन नगर में 500 से अधिक पुस्तकालय हैं, इनमें से एक पुस्तकालय में 40 लाख हस्तलिखित पुस्तकें हैं, जिनमें भी 20,000 पुस्तकें प्राकृत, संस्कृत भाषाओं में हैं, जो भारत से गई हुई हैं।

फ्रांस में 1,100 से अधिक बड़े पुस्तकालय हैं, जिनमें पेरिस स्थित बिब्लियोथिक नामक पुस्तकालय में 40 लाख पुस्तकें है। उनमें 12 हजार पुस्तकें प्राकृत, संस्कृत भाषा की हैं, जिनमें जैन-ग्रंथों की अच्छी संख्या है।

रूस में एक राष्ट्रीय पुस्तकालय है, जिसमें 5 लाख पुस्तकें हैं। उनमें 22 हजार पुस्तकें प्राकृत, संस्कृत की हैं। इसमें जैन-ग्रंथों की भी बड़ी संख्या है।

इटली के पुस्तकालयों में 60 हजार पुस्तकें तो प्राकृत, संस्कृत की हैं, और इसमें जैन-पुस्तकें बड़ी संख्या में हैं।

नेपाल के काठमाण्डू स्थित पुस्तकालयों में हजारों की संख्या में जैन प्राकृत और संस्कृत-ग्रंथ विद्यमान हैं।

इसी प्रकार चीन, तिब्बत, बर्मा, इंडोनेशिया, जापान, मंगोलिया, कोरिया, तुर्की, ईरान, अल्जीरिया, काबुल आदि के पुस्तकालयों में भी जैन-भारतीय-ग्रंथ बड़ी संख्या में उपलब्ध हैं।

भारत से विदेशों में ग्रंथ ले जाने की प्रवृत्ति केवल अंग्रेजीकाल से ही प्रारम्भ नहीं हुई, अपितु इससे हजारों वर्ष पूर्व भी भारत की इस अमूल्य-निधि को विदेशी लोग अपने-अपने देशों में ले जाते रहे हैं।

वे लोग भारत से कितने ग्रंथ ले गये, उनकी संख्या का सही अनुमान लगाना कठिन है। इसके अतिरिक्त म्लेच्छों, आततायियों, धर्मद्वेषियों ने हजारों, लाखों की संख्या में हमारे साहित्य-रत्नों को जला दिया।

इसीप्रकार जैन-मंदिरों, मूर्तियों, स्मारकों, स्तूपों आदि पर भी अत्यधिक अत्याचार हुये हैं। बड़े-बड़े जैन तीर्थ, मंदिर, स्मारक आदि मूर्ति-भंजकों ने धराशायी किये। अफगानिस्तान, काश्यपक्षेत्र, सिंधु, सोवीर, बलूचिस्तान, बेबीलोन, सुमेरिया, पंजाब, लक्षशिला तथा कामरूप-प्रदेश बांग्लादेश आदि प्राचीन जैन-संस्कृति-बहुल क्षेत्रों में यह विनाशलीला चलती रही। अनेक जैन-मंदिरों को हिन्दू और बौद्ध मंदिरों में परिवर्तित कर लिया गया या उनमें मस्जिदें बना ली गईं। अनेक जैन-मंदिर, मूर्तियाँ आदि अन्य धर्मियों के हाथों में चले जाने से अथवा अन्य देवी-देवताओं के रूप में पूजे जाने से जैन-इतिहास और पुरातत्त्व एवं कला-सामग्री को भारी क्षति पहुँची है।

विदेशों में स्थित जैन सम्पर्क-केन्द्र

विश्व के लगभग सभी देशों में भारतीय परिवार निवास कर रहे हैं। इनमें से बहुत-से जैन परिवार हैं, जो आर्थिक-उन्नति के साथ जैनधर्म में अपनी आस्था बनाये हुये हैं। आज अनेक देशों में इनके द्वारा जैन-मंदिर, पुस्तकालय, केन्द्र, सोसायटी, पत्र-पत्रिकाओं की स्थापना की जा रही है।

यहाँ जापान, सिंगापुर, जर्मनी, इंग्लैण्ड, कनाडा, तथा अमेरिका में स्थित ऐसे ही जैन सम्पर्क-केन्द्रों के पते दिये जा रहे हैं। इनसे पत्र-सम्बन्धी कोई भी व्यवहार कर सकते हैं, तथा धर्म-सम्बन्धी पुस्तकें-पत्रिकायें मँगायी और भेजी जा सकती हैं।

जापान में जैन-केन्द्र

1. Shri Mahavir Swami Jain Temple, 7-5 Kitano Cho, 3. Chome, Chuo-Ku, Kobe, ZZ, Japan (Phone : 078-241-5995, Call : F.C. Karani)

सिंगापुर में जैन-केन्द्र

2. Singapore Jain Religious Society, 18-Jalan Yasin, Off Jalan Eunous, Singapore, 1441, SI, Singapore. (Phone : 7427829, Call : Nagindas Dosi)

जर्मनी में जैन-केन्द्र

3. Jain Association International Society, W. Germany, Brandwed 5-2091, Garsted, New Hamburg, W. Germany (Phone : 04173-8711, Call : Ajit Benadi)
4. Mr. Markus Mossner, Editor, DER JAIN PFAD, Bahnhofstr. 5, 7817—Ihringen, W. Germany. (जर्मन-भाषा में जैनधर्म विषय की पत्रिका)

इंग्लैण्ड में जैन-केन्द्र

5. Jain Association of U.K. 61, Upper Selsdon Rd., Sanderstead, Sur CR2-8DJ, U.K.
6. Jain Samaj of Europe, 69, Rowley Fields Ave., Leicester LE3-2ES, U.K. (Phone : 0533-891077)
7. Young Jains, 199, Kenton Ln., Harrow, Middlesex HA3-8TL, U.K. (Phone : 907-5155, Call : Atul Mehta)
8. Oshwal Association of U.K., 7, The Ave., Wembly, Middex HA9-98H, U.K. (Ratibhai Shah)
9. Jain Samaj Europe (Temple), 32, Oxford St., Leicester LE1-5XU, U.K. (Rame)
10. Mahavir Foundation, 18, Florence Mansions, Vivian Ave., London NW4, (H. Bhandari)

11. Jain Social Group, 153, Chalklands, Webly, Middx, U.K. (Pramod Punate)
12. Jain Association of U.K., 1, Harford Ave., Kenton, Middx, U.K. (Jagdish)
13. Navnat Vanik Assoc. U.K., 19, Hedge Ln., London N13-5SJ, U.K. (Vinod)
14. Bhakti Mandal, 23, Silkfield Rd., Colindale, London, NW9, U.K. (Ramanb)
15. Vanik Association, 71, Pretoria Road, Streatham, London SW-16-6RL E (Chimanlal Shah)
16. Navyug Jain Pragati Mandal, 79, Friar Rd., Orpington, Kent BR-5-2BP, U.K. (Uttam Dalal)
17. Digambar Visa Mevaad Jain Association, 116, Kingscount Rd., London, S (Anil Shah)
18. Vanik Samaj of U.K., 92, Osborne Rd., Brighton, East Sussex, U.K. (Jayan)
19. International Mahavir Mission, 25, Sunny Garden Rd., London NW4, U.K. (p)

कनाडा में जैन-केन्द्र

20. Jain Group of Edmonton, 2136-104B, Edmonton, AL. TGJ-SG8, Canada, 403-437-7177, Call : Jaswant Mehta.
21. Jain Centre of British Columbia, 5620, Clear Water Dr. Richmond, BC, V7E5 (Phone : 604-277-5177, Call : Gyan Singhai)
22. Jain Society of Ottawa, 331, Bridge St., Carleton PI, ON. K7C3H9, Canada 613--257-2898, Call : Balu Kuria.
23. I.M.J.M. (Canada), 12, Royal Rouge• Trail, Scarborough, ON. M1B4T4. Canada 416-525-5651, Call : Harish Jain

कनाडा में जैन-पुस्तकालय

- Jaina Library C/o Makino Metal Ltd., 2360, Midland Ave., Unit 16/14, Scar Ontario M1S1P8, Canada. (Phone : 416-291-9721 or 416-291-8716, Call : H)

कनाडा में जैन-मंदिर

- Hindu Jain Temple, 14225-133 Ave., Edmonton, Alberta T5L4W3, Canada.

24. Jain Meditation Canada, 26, Jedburgh Rd., Toronto, ON, M5M-3K3,

Canada (Phone : 416-481-5550, Call : Irene Upenieks)

25. Jain Society of Toronto, 247, Parklawn Rd., Toronto, ON M6Y-3J6, Canada (Phone : 416-273-9387, Call : Dinesh Jain)
26. Jain Group of London ON, 118, Franklin Way, R.R.I., Hyde Park, ON, NOMIZO. Canada (Phone : 519-473-4385, Call : P.C. Shah)
27. Jain Centre of Montreal, 2780, Jasmi, Ville St., Laurent, QU. H4R1H7. Canada (Phone : 514-331-4376, Call : Suresh Kuria)

अमरीका में जैन-केन्द्र

28. JAIN DIGEST (Magazine) 3, Ransom Rd., Athens, OH. 45701, U.S.A. (Phone : 614-592-1660, Call : S.K. Jain)
29. Young Jains of America, 5, Yellow Star Ct., Woodridge, IL, 60517, U.S.A.. (Phone : 312-969-8845)
30. Jain Centre SE Connecticut 226, Lynch Hill Rd., Oakdale, CT. 06370, U.S.A. (Phone : 203-848-3498, Call : Lax Gogri)
31. Jain Centre of Louisville, 507, Bedforshive Rd., Louisville, KY. 40222, U.S.A. (Phone : 502-426-8658, Call : Pran Ravani)
32. Jain Centre of Lansing, 2601 Cochise Lane, Okemos, MI. 48864, U.S.A. (Phone : 517-337-7888, Call : Mayurika Poddar)
33. Jain Group of Arizona, 24, W. Interlacken Dr., Phoenix, AZ. 85023, U.S.A. (Phone : 602-866-7030, Call : Kishor Parekh)
34. Jain Social Group of LA, 237S. Hoover St., Los Angeles, CA, 90004, U.S.A. (Phone : 213-388-5274)
35. Jain Centre of S. CA (LA), 8072, Commonwealth Ave., P.O. Box 549, Buena Park, CA 90621-0549, U.S.A. (Phone : 714-898-3156, Call : Manilal Mehta)
36. Jain Mandal of San Diego, 9133, Mesa Woods Ave., San Diego, CA 92126-2816, U.S.A. (Phone : 619-693-8272, Call : Narendra Sheth)
37. Jain Centre of N. California (SF), 34143, Fremont Blvd., Fremont, CA 94555, U.S.A. (Phone : 415-794-9700, Cali Pravin Turakhia)
38. Jain Centre of Connecticut, I, Coach Dr., Brookfield, CT. 06805-1503, U.S.A. (Phone : 203-795-0430, Call : Ashwin Shah)
39. Arun Jain Int. Cul. Association, 233, N. Ocean Ave., Daytona Beach, FL. 320 U.S.A. (Phone : 904-252-1634, Call : Lal C. Jain)
40. Jain Society of Central Florida, 1689, Grange Circle, Longwood, FL. 32750, U. (Phone : 407-260-6459, Call : Raj Mehta)
41. Jain Society of Southern Florida, 8010, South Lake Dr., West Palm Beach, FL. 33, U.S.A. (Phone : 407-582-6768, Call : Rajendra Shangvi)

42. Jain Group of Boca Raton, FL. 8120, Twin Lake Dr., Boca Raton, FL. 33434, U. (Phone : 305-483-5511)
43. Jain Group of Atlanta GA, P.O. Box 5041, Athens, GA, 30604, U.S.A. (Phone : 404-546-5464, Call : Narendra Shah)
44. Jain Social Group of Chicago, 625, Alexandria Court, Itasca, IL. 60143-1406, U. (Phone : 301-887-7424, Call : Rashmikant Gardi)
45. Jain Society of Chicago, 617 W. Hill Side Dr., Bensenville, IL. 60106, U.S.A. (Phone : 312-766-3090, Call : Uttam Jain)
46. Jain Society of S. Louisiana, 3829, Deer Creek Ln., Harvey, LA. 70058-2114, U. (Phone : 504-340-4283, Call : Santosh Shah)
47. Jain Centre of Greater Boston, 83, Fuller Brook Rd., Wellesley, MA. 02181-7, U.S.A. (Phone : 508-470-0255, Call : Chandra Khasgiwal)
48. Jain Society of Greater Detroit, 10506, Continental Drive, Taylor, MI. 48180-31, U.S.A. (Phone : 313-291-2652, Call : Sharad Shah)
49. Jain Centre of Minnesota, 147, 14th Ave., SW, St. Paul, MN. 55112, U.S.A. (Phone : 612-636-1075, Call : Ram Gada)
50. Jain Centre of St. Louis, 541, Princeway Ct., Manchester, MO. 63011, U.S.A. (Phone : 314-394-3195, Call : Satish Nayak)
51. Jain Study Centre of NC, (Raleigh), 1119, Flanders, St. Garner, NC. 27529-44, U.S.A. (Phone : 919-469-0956, Call : Pravin K. Shah)
52. Jain Society of Charlotte, NC, 6215, Old Coach Rd., Charlotte, NC. 28215-1513, U.S.A. (Phone : 704-535-2111, Call : Dhiru Patel)
53. Jain Centre of New Jersey, 233, Runnymede Rd., Essex Falls, NJ. 07021-1113, U.S.A. (Phone : 201-228-4355, Call : Sanat Jhaveri)
54. I.M.J.M. Siddhachalam, 65, Mud Pond Rd., Blairstown, NJ.07825-9734, U.S.A. (Phone : 201-362-9793)
55. Jain Centre of South New Jersey, 81, South White Horse Pike, Berlin, NJ. 08009-2321, U.S.A. (Phone : 608-768-4273)
56. Jain Sangh Inc., 3401, Cooper Ave., Pennasauken, NJ. 08109, U.S.A. (Phone : 609-424-4827, Call : Shashikant Shah)
57. Jain Meditation International Centre, 244, Ansonia Station, New York, NY. 10023-9998, U.S.A. (Phone : 212-362-6483, Call : Gurudev Chitrabhanu)
58. Acharya Sushil Jain Ashram, 722, Tompkins Ave., Staten Island, NY. 10305-3044, U.S.A. (Phone : 212-447-9505)
59. Jain Centre of America, NY. 4311, Ithaca St., Elmhurst, NY. 11373-3451, U.S.A. (Phone : 516-741-9269, Call : Naresh Shah)
60. Jain Society of Long Island, 22, cedar PI. Kings Park, NY. 11754-1007, U.S.A. (Phone : 516-269-1167, Call : Arvind Vora)

61. Jain Centre Syracuse, 4013, Pawnee Dr., Liverpool, NY. 13089, U.S.A. (Phone : 315-622-1980, Call : Jitendra Turakhia)
62. Jain Community of Buffalo, 135, Mornings Dr., Grand Island, NY. 14072, U.S.A. (Phone : 716-773-1314, Call : Dhiraj Shah)
63. Jain Centre Elmyra/Corning, 602, Tifft Ave., Horseheads, NY. 14845, U.S.A. (Phone : 607-739-9926, Call : Suresh Shah)
64. Jain Society of Rochester, 61, Falling Brook Rd., Fairport, NY. 14450, U.S.A. (Phone : 716-223-8456, Call : Kishor Sheth)
65. Jain Study Circle, 90-11, 60 Ave., No. 3-D, Flushing, NY. 11368-4436, U.S.A. (Phone : 718-699-4653, Call : D.C. Jain)
66. Jain Society of Greater Cleveland, 3122, Bowmen Ln., Parma, OH. 44134, U.S.A. (Phone : 216-842-0807, Call : Jiten Shah)
67. Federation of JAIN, 9831, Tall Timber Dr., Cincinnati, OH. 45241, U.S.A. (Phone : 513-777-1554, Call : Sulekh Jain)
68. I.M.J.M. (USA), 161, Devorah Dr., Aurora, OH. 44202-9217, U.S.A. (Phone : 216-464-4212, Call : Peter Funk)
69. Jain Centre of Cincinnati, 9831, Tall Timber Dr., Cincinnati. OH. 45241, U.S.A. (Phone : 513-777-1554, Call : Sulekh Jain)
70. Jain Group of Toledo OH, 3100, West Central Ave., Toledo, OH. 43606, U.S.A. (Phone : 419-841-3662, Call : Shirish Shah)
71. Jain Community of Pittsburgh, 140, Penn Lear Dr., Monroeville, PA. 15146, U.S.A. (Phone : 412-856-9235, Call : Vinod Doshi)
72. Jain Centre of Allentown PA, 4200, Airport Rd., Allentown, PA. 18103, U.S.A. (Phone : 215-437-9596, Call : Mohan Jain)
73. Jain Samaj of HYL PA, 2547, Spilt Rail Dr., East Petersburg, PA. 17520, U.S.A. (Phone : 717-569-3239, Call : Bakul Doshi)
74. Jain Group of Greenville SC, 108, Meaway Ct., Simsonville, SC. 29681, U.S.A. (Phone : 803-967-4605, Call : Dilip Doshi)
75. Jain Society of N. Texas (Dalls), 538, Apollo St., Richardson, TX. 75080, U.S.A. (Phone : 214-424-4902, Call : Atul Khara)
76. Jain Society of Houston, 3905, Arc St. Houston, TX., U.S.A. (Phone : 713-530-61, Call : Dilip Shah)
77. Jain Centre of W. Texas, 4410-50th St., Lubbock, TX. 79414, U.S.A. (Phone : 806-4777, Call : Premchand Gada)
78. J. Metro, Washington, 11820, Triple Crown Rd., Reston, VA. 22091-3014, U.S.A. (Phone : 703-620-9837, Call : Manoj Dharamsi)
79. Jain Social Group of Milwaukee, 4526, West Bonnie Ct., Mequon, WI. 53092-2128, U.S.A. (Phone : 414-242-4827, Call : Kamal Shah)

अमरीका में जैन-विवाह सूचना-केन्द्र

- Jaina Marriage Information Service, 9001, Goodluck Rd., Lanham, MD. 20706, U.S.A. (Phone : 301-577-5215)

अमरीका में जैन-पुस्तकालय

- Jaina Library, 4410-50th St., Lubbock, TX 79414, U.S.A. (Phone : 806-794-4777, Call : Prem Chand Gada)

अमरीका में जैनधर्म की पुस्तकों के प्रकाशक

- A.M.S. Press Inc., 56, East 13th Street, New York. 10003, U.S.A.

अमरीका में जैन-छात्रवृत्तियाँ

- Dr. Arvind Shah, 36, Regent Drive, Oak Brook IL. 60521, U.S.A.

अमरीका के हॉर्वर्ड विश्वविद्यालय में जैनधर्म के अध्ययन का प्रबन्ध

- Dr. John Court, Centre for Study of World Religious Harvard University, 42, Francis Avenue, Cambridge, MA. 02138, U.S.A.
  Dr. Paul Kuepferie, TVKC, Box 404, Mendham, NJ. 07945, U.S.A. (Phone : 201-543-2000)

अमरीका में जैन-मंदिर

- Jain Bhavan, 8072, Commonwealth Ave., Buena Park, CA. 90621, U.S.A.
- Jain Chaityalay (Temple), 3401, Coppeer Ave., Pennuhsauken, New Jersey, U.S.A.
- Jain Chaityalay (Temple), 1021, Briggs Chaney Road, Springs, Maryland, Washington D.C., U.S.A.

अमरीका में जैन वीडियो-फिल्म निर्माता

- Ahimsa-Nonviolence Direct Cinema Ltd., P.O. Box 69799, Los Angeles, CA. 0069, U.S.A.
- The Frontier of Peace : Jainism of India.
  The Visual Knowledge Corporation, P.O. Box 404, Mendham NJ. 07945-0404, U.S.A.

उपरोक्त लगभग सभी पते हमें JAIN DIGEST (USA) नामक पत्रिका से प्राप्त हो सके हैं। इनमें से किसी भी पते पर पत्र लिखते समय कृपया 'जैन डाइजेस्ट' एवं 'जैन सम्पर्क डायरेक्ट्री' का उल्लेख अवश्य करें। ❖❖

सन्दर्भ-विवरणिका

1. जैन विद्या का सांस्कृतिक अवदान — डॉ. रामचन्द्र, पृष्ठ 162.
2. इण्डियन एक्सप्रेस, नई दिल्ली — 21-6-1987.
3. शॉर्ट स्टडीज़ इन दि साइंस ऑफ कम्पैरिटिव रिलिजन्स, 1887, इंट्रोडक्शन.
4. जैन-परम्परा का इतिहास — युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती, लाडनू, पृष्ठ 114.
5. साइंस ऑफ कम्पैरिटिव रिलिजन्स, मेजर जनरल जे.जी.आर. फर्लांग, पृष्ठ 28.
6. इण्डियन एक्सप्रेस, नई दिल्ली, 21-6-1987.
7. हिन्दी विश्वकोष (तृतीय भाग), श्री नगेन्द्रनाथ बसु, पृष्ठ 128.
8. श्रीमत-पुराण, अध्याय 73, श्लोक 27-30.
9. द्रष्टव्य, सी.जे. शाह जैनिज्म इन नारदर्न इंडिया लंदन-1932.
10. यूरोपिय इतिहासकार परसविन लेंडन, सन् 1928.
11. वाटर्स ऑन युवानच्वांग्स ट्रैवल्स इन इण्डिया, भाग 1, पृष्ठ 248.

❖❖

खण्ड-षष्ठ

सन्दर्भ-ग्रन्थ एवं पत्र-पत्रिका विवरणिका

Books in English

1. All India Digambara Jaina Directory, Bombay, 1914.
2. Ayyanagar And Rao : Studies in South Indian Jainism, Madras, 1992.
3. Basham A.L. : The Wonder that was India, London, 1954.
4. Barodia U.D. : History and Literature of Jainism, Bombay, 1909.
5. Bhargava Dayanand, Jain Ethics, Delhi, 1968.
6. Bhattacharya H : Divinity in Jainism, Madras, 1925.
7. Bool Chand : Lord Mahavira — A Study in Historical Perspective, Banaras, 1948
8. Bool Chand : Jain Cultural Studies, Banaras, 1946.
9. Chakravarti A : Jaina Literature in Tamil, Arrah, 1941.
10. Diwakar R.R. (ED) : Bihar Through the Ages, Calcutta, 1959.
11. Doshi C.M. : The Dasa Srimali Jaina Banias of Kathiawar, (thessis), Bombay, 1933.
12. Ghurye G.S. : Caste and Race in India, London, 1932.
13. Jain C.R. : Jaina Culture, Bijnore, 1934.
14. Jain Kailash Chand : Jainism in Rajasthan, Sholapur, 1963.
15. Kalghatagi T.G. : Jain View of Life, Sholapur, 1963.
16. Kapadia H.R. : Jain Religion and Literature, Lahore, 1944.
17. Mehta M.L. : Jain Culture, Varanasi, 1969.
18. Roy Choudhary P.C. : Jainism in Bihar, Patna, 1956.
19. Sangave V.A. : Jaina Community — A Social Survey, Bombay, 1980.
20. Saletore B.A. : Medieval Jainism, Bombay, 1938.
21. Sen A.C. : Schools and Sects in Jain Literature, Calcutta, 1931.
22. Sen A.C. : Elements of Jainism, Calcutta, 1953.
23. Shah U.P. : Studies in Jaina Art, Banaras, 1955.
24. Sharma S.R. : Jainism and Karnataka Culture, Dharwar, 1940.
25. Sharma B.K. : Perspective on Modern Economic and Social History, Jaipur, 1999.
26. Shara G.N. : Social Life in medieval Rajasthan, Agra, 1968.
27. Tank U.S. : Jain Historical Studies, Delhi, 1914.
28. Tatia Nathmal : Studies in Jaina Philosophy, Banaras, 1951.
    The Jain Law, J.L. Jain, Aara, 1916.
    Tribes And Castes Of Bengal, H.H. Rizle, Calcutta, 1891.
29. Vaidya P.L. : Jaina Dharma Ani Vangmaya (in Marathi), Nagpur, 1948.
30. Williams R. : Jaina Yoga, London, 1963.

हिन्दी ग्रन्थ

1. **आचार्य आदिसागर अंकलीकर-स्मृति-ग्रन्थ**, सं. श्रेयांस कुमार जैन, किरनपुर (बिजनौर).
2. **आचार्य कुन्कुन्द : व्यक्तित्व एवं कृतित्व**, डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, श्री महावीर ग्रन्थ अकादमी प्रकाशन, जयपुर, 1990.
3. **आचार्य धर्मसागर — अभिनंदन-ग्रन्थ**, सं. पं. धर्मचन्द शास्त्री, दिगम्बर जैन नवयुवक मण्डल, कलकत्ता, 1981-82.
4. **आचार्य महावीरकीर्ति स्मृति-ग्रन्थ**, मथुरा, 1974.
5. **आचार्य विद्यासागर-समग्र-प्रकाशन**, सागर (मध्यप्रदेश), 1992.
6. **आचार्य वीरसागर स्मृति-ग्रन्थ**, सं. रविन्द्र कुमार जैन, दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर, 1990.
7. **आचार्य शान्तिसागर जी महाराज : एक परिचय**, अजीत कुमार शास्त्री, दिल्ली, 1956.
8. **आचार्य शिवसागर स्मृति-ग्रन्थ**, श्रीमती सौ. भंवरीदेवी पांड्या, सुजानगढ़ (राजस्थान), 1955.
9. **आचार्य श्री शान्तिसागर महाराज छाणी : एक परिचय**, डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, दिगम्बर जैन-समाज, गया (बिहार), 1992.
10. **आदिपुराण** — जिनसेनाचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1944.
11. **आप्तपरीक्षा**, आ. विद्यानन्दि स्वामी, सं. डॉ. दरबारी लाल कोठिया, वीर सेवा मन्दिर संस्करण, 1949.
12. **आप्तमीमांसा (देवागमस्तोत्र)**, आ. समंतभद्र स्वामी, सम्पादक : डॉ. उदयचन्द जैन, गणेशवर्णी जैन संस्थान, वाराणसी (उ.प्र.).
13. **उत्तरपुराण**, गुणभद्राचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, 1986,
14. **उपासकाध्ययन**, आ. सोमदेवसूरि, सं. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, 1964.
15. **ऐसे थे चरित्र-चक्रवर्ती**, आर्यिका, विशुद्धमति, श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन-महासभा, लखनऊ, 1994.
16. **खण्डेलवाल जैन-समाज का वृहद् इतिहास**, डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, जैन इतिहास प्रकाशन संस्थान, जयपुर, 1989.
17. **गद्यचिन्तामणि**, वादीभसिंह, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली.
18. **गोम्मटसार जीवकाण्ड**, नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती.
19. **गोम्मटेश्वर बाहुबलि एवं श्रवणबेलगोला**, सतीश कुमार जैन, लाडादेवी ग्रन्थमाला प्रकाशन, कलकत्ता, 1992.

20. **गोलापुर जैन-समाज इतिहास एवं सर्वेक्षण**, सुरेन्द्र कुमार जैन, पारस शोध संस्थान, सागर, 1996.
21. **गोलालारे जैन-जाति का इतिहास**, रामजीत जैन एडवोकेट, मै. लालाराम वीरसेन जैन सर्राफ, भिण्ड (मध्यप्रदेश), 1995.
22. **गृहस्थ धर्म**, शीतला प्रसाद, बाम्बे, 1930.
23. **चांदखेड़ी स्मारिका**, डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, दिगम्बर जैन-अतिशयक्षेत्र, चांदखेड़ी, 1985.
24. **जयोदय महाकाव्य-परिशीलन**, सकल दिगम्बर जैन-समाज, मदनगंज-किशनगढ़, 1950.
25. **जिणदत्तचरित**, सम्पादक डॉ. माता प्रसाद गुप्त, महावीर भवन, जयपुर, 1966.
26. **जैन-जागरण के अग्रदूत**, अयोध्या प्रसाद गोयलीय, भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी, 1952.
27. **जैन डायरी**, जैन डायरीज, रामगंज बाजार, जयपुर, 1989.
28. **जैनधर्म**, पं कैलाशचन्द शास्त्री, भारती दिगम्बर जैन-संघ, मथुरा, चतुर्थ संस्करण, 1966.
29. **जैनधर्म का प्राचीन इतिहास**, पं. परमानन्द शास्त्री वीरसेन मंदिर, दिल्ली, 1955.
30. **जैन-परम्परा का इतिहास — युवाचार्य महाप्रज्ञ**, जैन विश्वभारती, लाडनू
31. **जैन विद्या का सांस्कृतिक अवदान**, डॉ. रामचन्द्र.
32. **जैन-शासन**, सुमेरुचन्द दिवाकर, श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन-महासभा, प्रकाशन विभाग, डीमापुर (नागालैण्ड), 1983.
33. **जैन-साहित्य का इतिहास** — पूर्व पीठिका, पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, श्री गणेशवर्णी दिगम्बर जैन-संस्थान, वाराणसी, 1996.
34. **जैन-समाज का वृहद् इतिहास**, सम्पादक डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, जैन इतिहास प्रकाशन संस्थान, जयपुर, 1992.
35. **जैन-साहित्य और इतिहास**, पं. नाथूराम प्रेमी, हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, मुम्बई, 1992.
36. **जैन सन्देश**, जैनसंघ मथुरा का मुखपत्र.
37. **जैनिज्म**, एच.वी. ग्लासेनप्पा, भावनगर, विक्रम-संवत् 1987.
38. **जैसवाल जैन-समाज का इतिहास**, डॉ. रामजीत जैन, लश्कर, 1988.
39. **ज्ञानार्णव**, आ. शुभचन्द्र, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, प्रथम संस्करण, 1977.
40. **जैसवाल जैन-इतिहास**, राजमती जैन एडवोकेट, जैसवाल जैन-समाज, लश्कर, 1988.

41. **तत्त्वार्थसूत्र** — उमास्वामी, पं. कैलाशचन्द शास्त्री, भारतीय दिगम्बर जैन-संघ, चौरासी मथुरा, वी. नि. 2477,
42. **तमिलनाडु में जैनधर्म**, पं. मल्लिनाथ शास्त्री, मद्रास, 1955
43. **तिलायेपण्णपत्ति** — यतिवृषभाचार्य, टीकाकर्ती आर्यिका विशुद्धमति, भारतवर्षीय दिगम्बर जैन-महासभा, कोटा, 1986.
44. **तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा**, डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, मंत्री, श्री भा. दि. जैन विद्वत्परिषद्, सागर (मध्य प्रदेश), 1974.
45. **दशा श्रीमाली जैन बनियाज् ऑफ काठियावाड़**, सी. एम. दोशी, बाम्बे, 1953.
46. **दक्षिण-भारत में जैनधर्म**, पं. कैलाशचन्द शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, 1967.
46A. **दिगम्बर जैन-साधु**, पं. धर्मचन्द शास्त्री, दिल्ली, 1985.
47. **धर्मस्थल और उसके यशस्वी धर्माधिकारी श्रद्धेय वीरेन्द्र हेगड़े**, नीरज जैन
48. **पंडिता चन्दाबाई अभिनन्दन-ग्रंथ**, सं. एन.सी. शास्त्री, अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महिला-परिषद्, आरा, 1954.
49. **पंजाब में हिन्दी पत्रकारिता का उदय और विकास**, चन्द्रकान्ता सूद, दिल्ली, 1975.
50. **पं. फूलचन्द शास्त्री अभिनन्दन-ग्रन्थ**, बाबूलाल जैन फागुल्ल, फूलचन्द शास्त्री अभिनन्दन-ग्रंथ प्रकाशन समिति, वाराणसी, 1985.
51. **पद्मपुरा-पंच-कल्याणक स्मारिका**, सं. कस्तूरचन्द कासलीवाल, दिगम्बर जैन-अतिशयक्षेत्र, पद्मपुरा (राजस्थान), 1993.
52. **परमार्थप्रकाश टीका**, ब्रह्मदेवसूरि.
53. **प्रद्युम्नचरित**, श्री दिगम्बर जैन-अतिशयक्षेत्र, श्री महावीर जी, जयपुर, 1960.
54. **पल्लीवाल जैन-जाति का इतिहास**, डॉ. अनिल कुमार जैन, श्री पल्लीवाल साहित्य प्रकाशन-समिति, अलवर, 1985.
55. **पूज्य आर्यिका रत्नमती अभिनन्दन-ग्रन्थ**, भारतवर्षीय दिगम्बर जैन-महासभा, डीमापुर (नागालैण्ड), 1983.
56. **प्रमेयरत्नमाला**, लघु अनंतवीर्य.
57. **प्राकृत एवं जैनविधा शोध-सन्दर्भ**, कपूरचन्द जैन, खतौली, 1991.
58. **प्रेमी अभिनन्दन-ग्रन्थ**, प्रेमी अभिनन्दन-ग्रन्थ समिति, टीकमगढ़, 1946.
59. **फूलचन्द शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ**, सम्पादक : बाबू लाल जैन, फागुल्ल, फूलचन्द शास्त्री अभिनन्दनग्रन्थ प्रकाशन समिति, वाराणसी, 1985.
60. **बिजौलिया पत्रिका**, बिजौलिया (भीलवाड़ा), राजस्थान 1985.
61. **बुलाकीचन्द**, बुलाकी एवं हेमराज, सं. कस्तूरचन्द कासलीवाल, श्री महावीर ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1983.

62. **बृहत् कथाकोश**, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, सन् 1943.
63. **भट्टारक-सम्प्रदाय**, विद्याधर जौहरापुरकर, सोलापुर, 1958.
64. **मुल्तान जैन-समाज का इतिहास**, डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, मुल्तान जैन-समाज, जयपुर, 1996.
65. **यूरोपीय इतिहासकार परसविन लेंडन**, 1928.
66. **राजस्थान के जैन सन्त : व्यक्तित्व एवं कृतित्व**, डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, श्री दिगम्बर जैन-साहित्य शोध विभाग, जयपुर 1990.
67. **वाटर्स ऑन युवानच्वांग्स ट्रैवल्स इन इण्डिया.**
68. **विदेशों में जैनधर्म**, गोकुलप्रसाद जैन, श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन-महासभा, नई दिल्ली, 1997.
69. **विद्याधर से विद्यासागर**, श्री दिगम्बर जैन-अतिशयक्षेत्र, मंदिर संघीजी, सांगनेर, जयपुर, 1986.
70. **विद्वत् अभिनन्दन-ग्रन्थ**, चांदमल सरावगी चेरीटेबल ट्रस्ट, गोहाटी (आसाम), 1976.
71. **शॉर्ट स्टडीज़ इन दि साइंस ऑफ कम्पैरिटिव रिलिजन्स**, 1887, इंट्रोडक्शन.
72. **श्रीपुर-पार्श्वनाथस्तोत्र**, आ. विद्यानन्द, वीर सेना मन्दिर सरसावा, 1949.
73. **श्रीमत-पुराण.**
74. **षट्खण्डागम**, आ. पुष्पदंत-भूतबलि, जैन साहित्योद्धारक फंड, विदिशा.
75. **षोडश संस्कार**, लालाराम शास्त्री, जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता, 1924.
76. **समाचारपत्रों का इतिहास**, अम्बिकाप्रसाद बाजपेयी, लखनऊ, 1970
77. **सराक जैन-क्षेत्रों का सर्वेक्षण**, कस्तूरचन्द कासलीवाल, श्री दिगम्बर जैन-समाज, बिहारी कॉलोनी, शाहदरा, दिल्ली, 1996.
78. **साइंस ऑफ कम्पैरिटिव रिलिजन्स**, मेजर जनरल जे.जी.आर. फर्लांग.
79. **सांस्कृतिक-चेतना और जैन-पत्रकारिता**, डॉ. संजीव भानावत, सिद्धश्री प्रकाशन, जयपुर, 1990
80. **सिद्धक्षेत्र चम्पापुरी-मन्दागिरि-स्मारिका**, सं. लालचन्द जैन, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्-परिषद्, वाराणसी, 1997.
81. **सी.जे. शाह जैनिज्म इन नारदर्न इंडिया**, द्रष्टव्य, लंदन, 1932.
82. **हरिवंशपुराण**, आचार्य जिनसेन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, 1950
83. **हिन्दी जैन-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास**, के.पी. जैन, बनारस, 1947.
84. **हिन्दी विश्वकोष** (तृतीय भाग), श्री नगेन्द्रनाथ बसु.
85. **हिन्दी-साहित्य का आदिकाल**, डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, बनारस, 1948.
86. **हुकुमचन्द अभिनन्दन-ग्रन्थ**, सं. श्री सत्यदेव विद्यालंकार, भारतवर्षीय दिगम्बर जैन-महासभा, दिल्ली, 1951

पत्र-पत्रिकायें

1. प्राकृतविद्या
2. जैन-गजट
3. जैन-मित्र
4. जैन-हितैषी
5. दिगम्बर-जैन
6. जैन-सिद्धांत-भास्कर
7. जैन-महिलादर्श
8. जैन-जगत्
9. अनेकान्त
10. वीर
11. जैन-सन्देश
12. सन्मति-सन्देश
13. वीरवाणी
14. सम्यग्ज्ञान
15. श्रमण
16. अहिंसा-वाणी
17. तीर्थंकर
18. सन्मति-वाणी
19. वीतराग-वाणी
20. अर्हत्-वचन
21. प्राकृत-भारती
22. शोधादर्श
23. दर्शन-ज्ञान-चारित्र
24. अंकलेश्वर
25. रत्नत्रय
26. अहिंसा
27. अहिंसा-सन्देश
28. झरता करुणा स्रोत
29. जैन-प्रचारक
30. तारण-बन्धु
31. बालादर्श
32. करुणादीप
33. धर्म-मंगल
34. समन्वय-वाणी
35. युगवीर
36. परिणय-प्रतीक
37. स्याद्वाद
38. ज्ञानगंगा
39. अहिंसा-समीर
40. इण्डियन एक्सप्रेस

लेख

1. मानमल जैन, जैन-समाज का धर्म व दर्शन के क्षेत्र में योगदान (अप्रकाशित लेख, ई-11, सरोवर नगर, बल्लभबाड़ी, कोटा।
2. श्री रामसिंह तोमर, जैन-साहित्य की हिन्दी-साहित्य को देन, प्रेमी अभिनन्दन-ग्रन्थ, टीकमगढ़, 1946.

❖❖

लेखक-परिचय

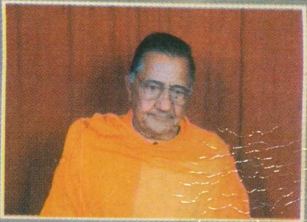

नाम : डॉ. त्रिलोक चन्द्र कोठारी

पिता : (स्व.) श्रीमान् सोहनलाल जी कोठारी

माता : (स्व.) श्रीमती जड़ाव देवी कोठारी

जन्मभूमि : 'दूनी', जिला-टोंक (राजस्थान)

सहधर्मिणी : श्रीमती लाड देवी कोठारी

11 जून सन् 1927 ई. में सांस्कृतिक दृष्टि से सर्वाधिक समृद्ध 'राजस्थान' प्रान्त में धार्मिक संस्कारों से ओतप्रोत परिवार में जन्मे बालक त्रिलोक चन्द्र के बारे में बाल्यावस्था से ही ज्योतिषविदों ने उनके अत्यन्त उज्ज्वल भविष्य की सूचना दे दी थी। सामान्य परिवार में जन्म लेने तथा मात्र चौथी कक्षा तक शिक्षा प्राप्त करने के बाद भी नैतिक, आध्यात्मिक, व्यावसायिक एवं शैक्षिक जगत् में आपने जिन क्षितिजों को पाया है, वे परिस्थितियों को देखते हुये अत्यन्त दुष्कर थे।

भगवान् महावीर के 'अपरिग्रह' सिद्धान्त से अनुप्राणित गाँधीवादी एवं सर्वोदयी विचारधारा को अपनाकर अपने जीवन को 'सादा जीवन उच्च विचार' का अनुपम निदर्शन बनाया है। अपार आर्थिक उन्नति एवं विशाल औद्योगिक साम्राज्य स्थापित करके भी उसका उपयोग देश की बेरोजगारी दूर करना और लोकहितकारी योजनाओं, विशेषतः शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्रों में महनीय कार्य करने में किया है।

शिक्षा के प्रति वैयक्तिक समर्पण की पराकाष्ठा तब प्रतिफलित हुई, जब आपने लौकिक दायित्वों का सुन्दर निर्वाह करने के उपरान्त जीवन के आठवें दशक में 'कोटा मुक्त विश्वविद्यालय' से पी.एच.डी. की शोध-उपाधि विधिवत् रूप से अर्जित की, जो कि एक विश्व-कीर्तिमान है।

आध्यात्मिक-रूप से सुदृढ़तम चरित्र के धनी आप सदा से रहे हैं। यहाँ तक अपने दो युवा-पुत्रों के वियोगरूपी वज्रपात को समताभाव से सहन कर अपने लक्ष्य के प्रति और अधिक समर्पित हो गये। शारीरिक स्वास्थ्य की अनुकूलता न होते हुए भी उच्च मनोबल एवं गहन धार्मिक-आध्यात्मिक संस्कारों से आप सम्पन्न हैं

विविध सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं, आयोजनों एवं कार्यक्रमों से सम्पृक्त रहे डॉ. त्रिलोक चन्द्र कोठारी जब जैनदर्शन और तत्त्वज्ञान को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रसारित करने के लिए कृतसंकल्प हैं। पदेन आप अभी भी 1. ओम कोठारी फाउण्डेशन, 2. ओम कोठारी इन्स्टीट्यूट ऑफ इन्फोर्मेशन टेक्नोलॉजी, 3. ओम कोठारी इन्स्टीट्यूट ऑफ मैनेजमेंट, 4. त्रिलोक उच्चस्तरीय अध्ययन अनुसंधान संस्थान, तथा 5. कोठारी उद्योग-समूह के प्रमुख हैं।

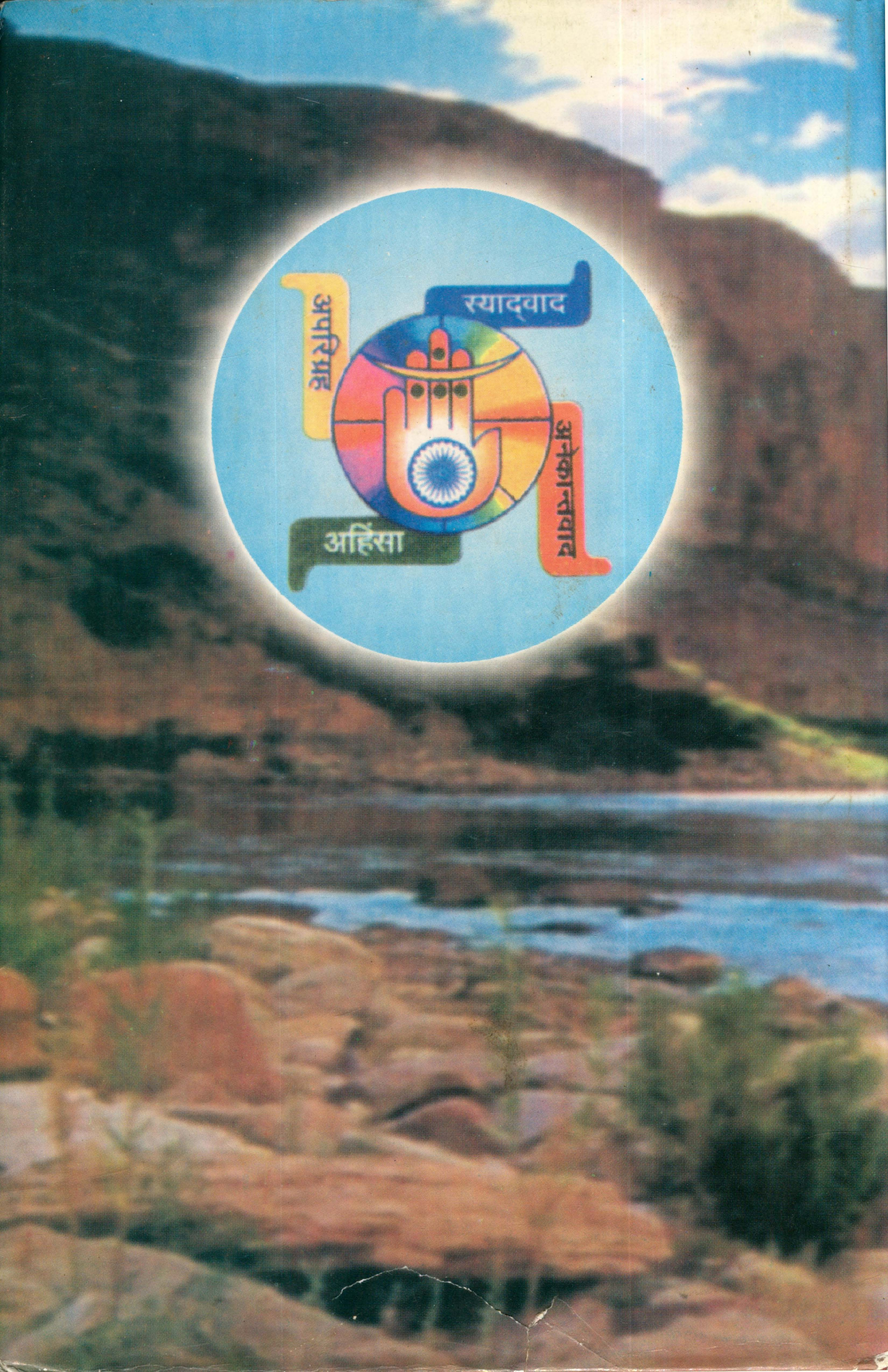
स्याद्वाद
अपरिग्रह
अनेकान्तवाद
अहिंसा